प्रातःस्मरणीय महासतियाँ भाग-1

-: लेखक :-
परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

प्रातः स्मरणीय-महासतियाँ

भाग-1

(भरहेसर-सज्झाय)

लेखक

व्याख्यान वाचस्पति, महाराष्ट्र देशोद्धारक पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न,
बीसवीं सदी के महान् योगी, नवकार-विशेषज्ञ, प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद
पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के चरम शिष्यरत्न
मरुधररत्न, गोड़वाड़ के गौरव,
जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर परम पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

151

प्रकाशन

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Cell 8484848451 (only whatsapp)

प्रथम आवृत्ति प्रतियाँ 3250 • **दूसरी आवृत्ति** प्रतियाँ 750 • **मूल्य :** 280/- रु.
दि.16-7-2023 • **विमोचन स्थल :** मुनिसुव्रत स्वामी जैन मंदिर श्वे.मू. जैन संघ, निगडी, (पूना)-411 044. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.*** द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

लेखक की कलम से....

– प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

एक ओर प्रभु की आज्ञा है-**'चित्त भित्तिं न निज्झाए'** दीवाल पर रहे हुए स्त्री के चित्र को भी साधु न देखे ।

वहीं दूसरी ओर आज्ञा है-**'प्रातःकाल में प्रतिक्रमण दरम्यान साधु भी सज्झाय में सुलसा आदि महासतियों का नामस्मरण करे ।'**

नाम और व्यक्ति का घनिष्ठ संबंध है । किसी व्यक्ति का नाम लेने के साथ ही उस व्यक्ति का तादृश चित्र अपनी मन की आँख के सामने खड़ा हो जाता है ।

क्या थी इन महासतियों की विशेषता ? उनकी विशेषता थी, **'उन्होंने मन, वचन और काया से अपने शील धर्म का पालन किया था ।'**

सिर्फ काया से शील धर्म का पालन करनेवाली स्त्रियाँ तो आज भी हजारों मिल जाएगी परंतु मन, वचन और काया से पवित्र शील धर्म का पालन करनेवाली महासतियाँ तो विरल ही होती हैं । **'मन में भी विकार भाव पैदा नहीं होना'** खूब कठिन साधना है-परंतु इन महासतियों के जीवन में उस साधना के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं ।

चाहे जैसे मरणांत कष्ट आए हों, चाहे जैसी अग्नि-परीक्षा की घड़ी आई हो, चाहे देवता भी परीक्षा के लिए उपस्थित क्यों न हुए हों...फिर भी संपूर्णतया निष्कलंक जीवन जीना यह कोई आसान बात नहीं है । परंतु इन महासतियों ने यह कठिनतम कार्य भी करके दिखलाया है । अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों में भी वे सदा अजेय रही हैं । उन्हें कोई परास्त नहीं कर सका है । ऐसी उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप ही युगों के युग बीत जाने पर भी आज भी उनका स्मरण किया जाता है ।

उनके नामस्मरण में भी अपूर्व शक्ति रही हुई है । उनका नामस्मरण भी हमारे कर्मों के जटिल बंधनों को शिथिल बनाने में सक्षम है ।

उपदेश और प्रवचनों में इन महासतियों के जीवन-चरित्र खूब उपयोगी सिद्ध हुए हैं ।

उन महासतियों के रोमांचक प्रेरक प्रसंग हमें भी पवित्र जीवन जीने की सुंदर प्रेरणा देते हैं ।

भयंकर जंगल और मरणांत कष्टों में भी जब इन महासतियों ने अपने शील धर्म का संरक्षण किया है तो अनेकविध अनुकूलताओं के बीच अपने शील धर्म का रक्षण क्यों न करें ?

स्त्रियों का सबसे बडा आभूषण शील धर्म का पालन ही है । शील यदि बचा तो सब कुछ बचा और शील ही चला गया तो सब कुछ चला गया ही माना जाएगा ।

मानवशरीर में यदि हृदय ही नहीं बचा है तो दूसरे बचे हुए अवयवों की क्या कीमत है ?

शरीर में जो स्थान हृदय का है, नारी-देह में वही स्थान शील का है । शील के रक्षण के लिए किया गया पुरुषार्थ सफल और सार्थक है ।

अध्यात्मयोगी, निःस्पृह शिरोमणि, नमस्कार महामंत्र के अजोड़ साधक, सूक्ष्म तत्त्व चिंतक परमाराध्यपाद अनंतोपकारी **पूज्य गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की अदृश्य कृपा-वर्षा से ही भरहेसर की सज्झाय में आनेवाले महापुरुष और महासतियों के चरित्र को हिन्दी भाषा में आलेखित करने का शक्य प्रयत्न किया है, इसमें जो कुछ शुभ है, वह स्व. पूज्य गुरुदेवश्री की कृपा का ही फल है और जो कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं, वे सब मेरी हैं ।

प्रकाशक की कलम से...

परमाराध्यपाद सुविशाल **गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** की **32 वीं पुण्यतिथि** के पावन प्रसंग पर विद्वद्वर्य **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा आलेखित प्रातःस्मरणीय महासतियाँ भाग-1 व 2 की दूसरी आवृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

पूज्यश्री हिन्दी भाषा में कुशल प्रवचनकार तो है ही, इसके साथ ही हिन्दी भाषा में पूज्यश्री की लेखनी भी अत्यंत ही प्रभावशाली है। वे कलम के धनी हैं, सिद्धहस्त लेखक हैं। जैन दर्शन के भिन्न भिन्न विषयों पर उन्होंने अपनी कलम चलाई है।

हिन्दी भारत की राष्ट्रीय भाषा है। परंतु श्वे. मूर्तिपूजक जैन संघ का अधिकांश साहित्य गुजराती भाषा में है। गुजराती एक प्रांतीय भाषा हैं, जो सिर्फ गुजरात और मुंबई आदि में चलती है।

भारत के विभिन्न प्रांतों में जैनों की बस्ती रही हुई है। उन सभी के लिए पूज्यश्री द्वारा आलेखित हिन्दी साहित्य खूब-खूब उपयोगी बना है। पूज्यश्री के साहित्य द्वारा हिन्दी भाषी वर्ग को खूब खूब लाभ हुआ है।

''जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर''

लेखक : मुनिश्री स्थूलभद्रविजयजी म.सा.

चंदाविज्झय पयन्ना में समाधि मरण की प्राप्ति के लिए साधुजीवन की उच्च भूमिका प्राप्त करने के 7 अधिकार (विषय) बताए है। उन अधिकारों में से तीसरे शिष्यगुण अधिकार में शिष्यत्व के Milestone रुप अनेक गुण बताए है। मुझे प्राप्त हुए भवजलधितारक, संस्कारदाता, एवं संयमदाता **पूज्य गुरुदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के जीवन में रहे निर्मल गुणों का अल्प परिचय देने का प्रयत्न कर रहा हूँ। ताकि उनके जीवन की परिमल को पाकर हम भी अपने जीवन को सुंगधित बना सके।

चंदाविज्झय पयन्ना का 42 वां श्लोक :–

आयरिय-वन्नवाइं गणसेवि कित्तिवद्धणं धीरं ।
धीधणियबद्धकच्छं सीसं कुसला पसंसंति ।।

1) आयरियवन्नवाइं = धर्मगुरु में रहे गुणों की प्रशंसा करने का स्वभाव ।

गुणों की प्रशंसा करने का स्वभाव उसी का हो सकता है जिसे गुण प्राप्ति की तीव्र तमन्ना हो । पूज्यश्री के जीवन में यह स्वभाव सहजता से देखने को मिलता है । व्यक्ति चाहे छोटा हो या बडा, स्व-पर के भेद बिना उनमें रहे गुणों की प्रशंसा अनेक बार उनके मुख से सुनी है ।

उसमें भी जब वे अपने परमतारक गुरुदेव अध्यात्मयोगी **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी** के गुणानुवाद-गुणगान करते हो तब तो उनका स्वभाव व्यसन में बदल जाता दिखता है ।

यद्यपि दीक्षा लेने के बाद मात्र 3 वर्ष 3 महिनों के बाद उन्हे सदेह रुप से पूज्य पंन्यासजी म.सा. का वियोग हो गया था ।

पूज्य पंन्यासजी म.सा. के साथ जीवन में मात्र एक ही प्रतिक्रमण, वह भी अंतिम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

पास के गांव में विराजमान होने पर भी अस्वस्थता के कारण पूज्य पंन्यासजी म.सा. की निश्रा दीक्षा के प्रसंग पर भी मिली नहीं ।

इतना ही नहीं, पूज्य पंन्यासजी म.सा. पूज्यश्री के संसारिक गांव-बाली नगर में एक दिन के लिए भी नहीं पधारे थे ।

फिर भी अपने परम गुरुदेव के प्रति जो सद्भाव-बहुमानभाव और समर्पण भाव आज भी देखने को मिलता है, वह कल्पनातीत है ।

सामान्य से जीवंत गुरु की आज्ञा का पालन करना, अथवा उनके प्रति अनुराग बनाए रखना आसान होता है, क्योंकि जीवंत गुरु शिष्य के प्रति वात्सल्य, प्रेम, ज्ञानदान आदि के माध्यम से उपकार करते है । परंतु पूज्यश्री की तो बात ही निराली है, वे तो यही मानते है कि तीर्थंकर पद की योग्यता वाले पूज्य पंन्यासजी भगवंत के शिष्यत्व का सौभाग्य, उनकी मीठी नजर और अन्तर के आशीर्वाद यही सबसे बड़ी उपलब्धि है । वे हमेशा यही कहते है कि–**``जिसके मन में गुरु का वास है उसके लिए गुरु का कभी वियोग हो ही नहीं सकता है ।''**

पूज्य पंन्यासजी भगवंत के वियोगबाद गच्छाधिपति **पू.आ.श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा., पू.आ.श्री मुक्तिचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा., पू.आ.श्री राजतिलकसूरीश्वरजी म.सा., पू.आ.श्री महोदयसूरीश्वरजी म.सा., पू.आ.श्री प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा., पू.पंन्यास प्रवर श्री वज्रसेनविजयजी म.सा., पू. पंन्यास प्रवर जिनसेनविजयजी म.सा.,** आदि अनेकानेक महापुरुषों ने पूज्यश्री पर जो कुछ भी उपकार किये है, उन सभी के उपकारों को समय-समय पर याद करते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं ।

युवावस्था होने पर भी बेदाग संयम जीवन, प्रभावक प्रवचन शैली, साहित्य सर्जन आदि कार्यों के कारण अपने वडिलों को पूज्यश्री पर पूरा विश्वास रहा है । दीक्षा के मात्र 14 महिने बाद पूज्य पंन्यासजी भगवंत की आज्ञा से पाटण में प्रवचन प्रारंभ हो गए थे । मात्र 9 वर्ष के पर्याय में अमदाबाद के दो संघों में चातुर्मासिक नित्य प्रवचन की जिम्मेदारी स्वयं **गच्छाधिपति श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** ने उन्हें सौंपी । जब पूज्यश्री ने अपनी असमर्थता बताई तब गच्छाधिपति श्री के शब्द थे **''तू केम चिंता करे छे, मने बधी खबर छे, तूं मारां हृदयमां छे.'' (तुं क्यों चिंता करता है, मुझे सब पता है, तुं मेरे हृदय में है ।)**

जिनके हृदय में गुरु का स्थान हो वे धन्य कहलाते है, परंतु जिनका स्थान अपने गुरु, दादा गुरु के हृदय में हो उनके लिए तो कहना ही क्या ?

2) गणसेवी = गण, गच्छ और संघ में रहे बाल, वृद्ध आदि के उचित कार्य करने का स्वभाव ।

पूज्यश्री का स्वभाव पानी जैसा है । पानी को जिस बर्तन में रखा जाये, वह उसके अनुसार अपना आकर बना लेता है । अर्थात् Adjusting Nature संपर्क में आने वाला चाहे बाल हो या वृद्ध सभी के साथ, उनके अनुसार व्यवहार करके उन्हे संतुष्ट कर देते है । इसके पीछे उनके हृदय में रही परोपकार वृत्ति के दर्शन होते है ।

जैसे एक माता अपने पास में रहे पुत्र को भोजन द्वारा और दूर रहे अपने पुत्र को टिफिन बनाकर उपकार करती है । वैसी ही पूज्यश्री जिस संघ में विराजमान होते है, उस संघ को अपने प्रेरणादायी प्रवचन द्वारा और अन्य क्षेत्रों को पुस्तकों के माध्यम से प्रभुवचनों से लाभान्वित करते है ।

ऐसे कई महात्मा देखे है, जो सुंदर और प्रभावक शैली में प्रवचन कर सकते है, परंतु साहित्य लेखन उनके लिए कठिन होता है, अथवा तो साहित्य सर्जन के कार्य में शिरमोर हो, परंतु प्रवचन की पाट पर मांगलिक से ज्यादा कुछ भी नहीं कर सकते है । **प्रेरणादायी प्रवचन और साहित्य सर्जन ये दोनों ही कलाएं एक में हो, ऐसा मेल खूब विरल व्यक्तियों में देखने को मिलता है ।**

पूज्यश्री प्रभावक प्रवचनकार है और अतुल्य हिन्दी साहित्य सर्जक भी है । इन दोनों शक्तियों के पीछे वे हमेशा अपने गुरुदेव पूज्य पंन्यासजी म.सा. का ही उपकार मानते हैं ।

अब तक के मेरे संयम जीवन में मैंने यही अनुभव किया है कि पूज्यश्री चाहे 15-17 कि.मी. का विहार करके आये हो परंतु संघ प्रवचन श्रवण का पीपासु हो तो तुरंत ही व्याख्यान की पाट पर चढकर एक-डेढ घंटा धाराप्रवाही प्रवचन सहजता से कर सकते है । एक महात्मा ने मुझे कहा, **``हमारी विहार की थकावट आराम करने से उतरती है, वैसे आपके गुरुदेव की थकावट प्रवचन फरमाने से उतरती है । योगियों की बात ही कुछ निराली होती है ।''**

जहाँ विहार दरम्यान प्रवचन में श्रोता नहीं हो तो, वहाँ साहित्य सर्जन, पाठ, वाचना आदि के कार्य में अपने आप को व्यस्त रखते है । बचपन से ही अपनाया हुआ Time is Money का सिद्धांत आज भी निरंतर पालन कर रहे है ।

अब तक 236 पुस्तकों का लेखन एवं हजारों प्रेरणादायी प्रवचनों से पूरे जैन समाज और उसमे भी राजस्थानी प्रजा में धर्म संस्कारों के सींचन से गणसेवा का गुण पूज्यश्रीने अपनाया है ।

3) कीर्तिवर्धन = अपने उज्ज्वल चरित्र के द्वारा गुरुदेव आदि के यश में वृद्धि करना ।

पूज्यश्री के दीक्षा दाता थे पूज्य पंन्यासजी म.सा. के प्रथम शिष्य वर्धमान तपोनिधि **पूज्य पंन्यासप्रवर श्री हर्षविजयजी म.सा.** । दीक्षा के बाद उनकी एक सुंदर प्रेरणा थी **``अपने जीवन कोई बडी तपश्चर्या न-हो तो चलेगा परंतु नियमित एकासना का तप कभी मत छोडना ।''** पूज्यश्री ने उनके वचनं को शिरसावंद्य करते हुए दीक्षा जीवन के अब तक के 46 वर्षों तक अपनाया है । चाहे लंबे-लंबे विहार हो, प्रवचन-जाहेर प्रवचन, अथवा पर्युषण महापर्व के प्रवचन हो,

एकासना तप में कभी compromise नहीं करते । छोटी-छोटी बीमारियों को कभी गिनते ही नहीं है ।

नित्य एकासना के साथ दीक्षा के पहले से ही प्रतिमास शुक्ल पंचमी का उपवास भी निरंतर चल रहा है। अल्प खुराक, जल्दी शयन और जल्दी जगना, मांडली में ही खडे-खडे प्रतिक्रमण करना, आचार्य पदवी के बाद नियमित सूरिमंत्र का जाप आदि आराधना अच्छी तरह से करते है ।

अपने चारित्र जीवन में किसी प्रकार की आंच न आए, इसलिए जहाँ भी स्थिरता करते है, वहाँ उपाश्रय में सभी के सामने ही बैठते है । कभी एकांत या कमरे में नहीं बैठते । विजातीय तत्त्व से हमेशा दूर रहते है । इन सारी संयम जीवन की आराधनों के माध्यम से पूज्यश्री जिस किसी भी क्षेत्र में गए है वहाँ परिचित-अपरिचित सभी लोगों के दिल में स्थान बनाया है और अपने गुरुजनों की कीर्ति बढाई है ।

4) धीर = उचित कार्य करने में निश्चल कर्तव्यबुद्धि वाले ।

पूज्यश्री का विचरण छह राज्यों में हुआ है । राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक और तामिलनाडु । जिस संघ में भी गए है वहाँ अपनी वाणी या वर्तन से कोई क्लेश पैदा हो, ऐसा व्यवहार नहीं किया । अपने प्रवचनों के द्वारा मात्र उपदेश दिया है, आदेश नहीं । बडे या छोटे कोई भी अनुष्ठान हो, उसमें संगीतकार, विधिकारक, रसोइया आदि किसी भी प्रकार के श्रावकोचित कार्य में आग्रह नहीं रखा । किसी भी संघ के साधारण द्रव्य में कोई कमी आए ऐसा कोई अनुष्ठान नही करवाया । मात्र संघ में आराधना वृद्धि कैसे हो, इसी का उपदेश किया है ।

कई भक्तगण आकर कहते है, कि आप भी अपने नाम से कोई धाम बनवाओं, तब पूज्यश्री यही कहते है कि **''जैन शासन के जितने विहार धाम-जितने उपाश्रय है, वे सभी अपने ही तो है । कितना तो जीना है । घर छोडकर यहां आए, और यहाँ आकर भी नया घर बसा ले तो आप में और हम में क्या फर्क रहेगा ?''** किसी स्थान या क्षेत्र का ममत्व नहीं है । अपने जीवन की निर्मलता बनाए रखने के लिए सतत विचरण करते रहते हैं । **''साधु तो चलता भला, दाग न लागे कोई ।''** 65 वर्ष की उम्र में भी पैदल विहार चालू

है । विहार में भी जो स्पीड प्रारंभ में रहती हैं, वही अंत तक रहती है तथा सभी के आगे वे ही होते है ।

न प्रतिष्ठा का शौक न शिष्य परिवार की वृद्धि की इच्छा । जो सहज हो उसे स्वीकार कर लेते है । किसी प्रकार का मानसिक बोझ नहीं रखते । किसी मुमुक्षु को उनके गुरु के दोष और अपनी महानता बताकर अपना बनाने का कार्य नहीं किया । उल्टा अपने पास तैयार हुए कई मुमुक्षु जब अन्य महात्माओं के पास दीक्षा लेते हो तब प्रमोद भाव प्रकट करते हुए यही कहते, **''अच्छा हुआ, एक आत्मा संसार से तो बाहर निकली ।''**

पूज्यश्री अपने औचित्य पालन में कभी नहीं चुकते है । विहार आदि में जब किसी भी अन्य समुदाय के महात्माओं से मिलन होता है, उनके साथ औचित्य पूर्वक व्यवहार करके उनके दिल में अपनी अमीट छाप छोड देते है । इसी मिलनसार स्वभाव के कारण वे सर्वत्र आदरणीय बने हैं ।

अपने हर कार्य में वे सदा नियमित रहते है । दशवैकालिक ग्रंथ में भी कहा है-**काले कालं समायरे ।** सभी कार्य निश्चित समय पर करने से स्व-पर दोनों को लाभ होता है । विहार, प्रवचन आदि सभी कार्यों में वे 5-10 मिनिट पहले तैयार होते है, परंतु देरी नहीं होती है, और इसलिए ही शायद इतने वर्षों में अकेले हाथ इतना विपुल साहित्य सर्जन कर सके है । इसमें उनकी निश्चल कर्तव्यता बुद्धि के दर्शन होते है ।

5) धीधणिय-बद्ध-कच्छ – 'जिनाज्ञा ही एक अनुसरणीय है' ऐसी दृढ मान्यता के साथ आराधना-प्रभावना आदि कार्य में एक प्रतिज्ञा वाले ।

बचपन से ही पूज्यश्री स्वाध्याय प्रेमी रहे है । गृहस्थवस्था में पूज्यश्री ने अनेक जैन-अजैन महर्षिओं के जीवन चरित्र पढे है ।

परमात्मा के शासन की नहीं पाए हुए भी मात्र लौकिक सुखों को पाने के लिए इतना कष्ट सहन कर सकते है, तो परमात्मा की आज्ञा जो मोत्र सुख प्रदायी है, उसमें प्रयत्न क्यों न किया जाए ।

दीक्षा के पहले पूज्यश्री सी.ए., राजनेता या उद्योगपति बनने के अरमान रखते थे, परंतु कुछ अकाल मृत्यु की घटनाएं और अपने ही गांव में एक बहन

की दीक्षा तथा पारसमणि तुल्य पूज्य पंन्यासजी भगवंत के चमत्कारिक स्पर्श ने उनके जीवन की दशा और दिशा बदल दी ।

दीक्षा के लिए माता-पिता की सहज अनुमति मिले, ऐसी स्थिति नहीं थी । पूज्य पंन्यासजी म.सा. के पास जाना भी कठिन था । तब कॉलेज के बहाने वे पूज्य पंन्यासजी म.सा. को वंदन करने जाते । सिर पर वासक्षेप डलवाया हो तो उसे भी निकालना पडता ताकि घर वालों को पता न चले । एक बार मात्र 16 वर्ष की छोटी उम्र में शादी की बरात के बहाने मुंडारा में विराजमान अपने गुरुदेवश्री के पास जाकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार लिया । कोई विशेष परिचय न होने पर भी विशिष्ट योग्यता और पात्रता देखकर पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने उन्हे यह व्रत प्रदान किया ।

उसके बाद दो वर्ष तक अथक पुरुषार्थ के फल स्वरुप दीक्षा की अनुमति मिली । राजु चौपडा दीक्षित बनकर **मुनि श्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** बने ।

दीक्षा के बाद वे अधिकांश समय स्वाध्याय में ही लीन रहे । श्रमण जीवन के अनेक प्रकरण ग्रंथों को कंठस्थ करने के साथ-साथ संस्कृत-प्राकृत भाषा के लाखों श्लोक प्रमाण आगम साहित्य, कर्म साहित्य, प्रकरण साहित्य, आध्यात्मिक साहित्य, ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण, न्याय आदि का सुंदर अभ्यास किया । दीक्षा जीवन के पहले चार चातुर्मास पाटण में ही किये । बीच-बीच में जब भी गुरुदेव की, जो भी आज्ञा हुई, उसके लिए सदैव तत्पर रहे ।

राजस्थान-गुजरात के क्षेत्रों में विचरण करते हुए एक बार पाली चातुर्मास के बाद गोदन से 51 दिन के छरी पालित संघ में लगभग 1000 कि.मी. विहार कर जोधपुर पधारे । उस समय पारसमलजी ढढ्ढा द्वारा जयपुर में जीर्णोद्धार हुए शिखरबद्ध मंदिर की प्रतिष्ठा हेतु **गच्छाधिपति पू.आ.श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** को विनती की गई, परंतु शारीरिक अस्वस्थता के कारण उनका आना शक्य नहीं था । ढढ्ढाजी की आग्रह भरी विनती से गच्छाधिपति की ओर से पूज्यश्री पर आदेश पत्र आया कि **''કષ્ટ વેઠી ને પણ આ કાર્ય કરવા જેવું છે.''** (कष्ट सहन करके भी जयपुर जाना चाहिए ।) तक उनके आदेश को स्वीकार कर मात्र 15 दिन में 300 कि.मी. विहार कर पूज्यश्री जयपुर पधारे ।

जयपुर में प्रतिष्ठा आदि कार्य हर्षोल्लास से संपन्न हुए। वहाँ रहते पूज्यश्री को स्थानकवासी, तेपापंथी और दिगंबरों का प्रचूर हिन्दी साहित्य देखने को मिला। उनके हिन्दी साहित्य के सामने श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ का हिन्दी साहित्य नगण्य था। उन तीन संप्रदायों का 70 से 80% साहित्य हिन्दी भाषा में और अपना 70 से 80% साहित्य गुजराती भाषा में उपलब्ध था।

गुजराती एक प्रांतीय भाषा है, जबकि हिन्दी राष्ट्रीय भाषा है। गुजराती जानने वालो की संख्या खूब अल्प है, जबकि हिन्दी तो पूरा देश जानता है। गुजराती बस्ती सीमित क्षेत्र में है जबकि हिन्दीभाषी बस्ती पूरे देश में है।

तब पूज्यश्री को हिन्दी साहित्य सर्जन हेतु अंतर से प्रेरणा मिली। प्रवचन तो एक मर्यादित क्षेत्र तक ही सीमित रहता है, परंतु पुस्तके सभी क्षेत्रों में प्रभु वचनों का प्रसार-प्रचार कर सकती है। तब से हिन्दी साहित्य और हिन्दी प्रवचनों में पूज्यश्री को विशेष रुचि हुई।

इतने वर्षों तक गोचरी-काप-विहार-प्रवचन आदि की जिम्मेदारियों को वहन करते हुए 236 पुस्तकों का सर्जन करना, कोई सामान्य बात नहीं है। कई कठिनाइयां आयी, परंतु सभी को पार करते गए।

एक बार आनंदघन चोबीसी का तैयार किया हुआ अंतिम 4 स्तवनों का विवेचन एक आचार्य भगवंत को संशोधन के लिए भेजा। संशोधन करके उन्होने एक पुराने कवर में डालकर पोस्ट करवाया, रास्ते में कवर फट गया। पूज्यश्री को मात्र खाली कवर मिला। फिर भी हार नहीं मानी। पुनः सारा विवेचन तैयार किया !

एक बार एक प्रखर प्रवचनकार एवं गुजराती साहित्यकार आचार्य भगवंत को स्वयं की हिन्दी पुस्तक की प्रस्तावना लिखने हेतु विनती की। तब उनका प्रश्न था, **``हिन्दी साहित्य की क्या आवश्यकता है ?''** आज उन्ही आचार्य भगवंत के अधिकांश प्रवचन हिन्दी में हो रहे है।

यह थी पूज्यश्री की दूरदर्शिता, कार्य करने की दृढता और शासन का प्रेम।

जैन धर्म का सारा पाठ्यक्रम-पंच प्रतिक्रमण, जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, लघुसंग्रहणी, तीन भाष्य, छह कर्मग्रंथ, वैराग्य शतक, इन्द्रिय पराजय शतक,

संबोह सित्तरी, शांत सुधारस, तत्त्वार्थ सूत्र, संस्कृत और प्राकृत सीखने हेतु पुस्तके तथा साधु क्रिया के सूत्र आदि सभी का सरल हिन्दी विवेचन तैयार कर हिन्दी भाषीय प्रजा पर बडा उपकार किया है ।

हिन्दी भाषीय क्षेत्र में पर्युषण पर्व आराधना करवाने के लिए अधिकांश युवान प्रायः पूज्यश्री की पुस्तके-अष्टाह्निक प्रवचन और कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन का उपयोग करते है ।

चैन्नई-बेंगलोर आदि दक्षिण के क्षेत्रों में पूज्यश्री की पुस्तके चाह से पढी जाती है । पांच वर्ष दक्षिण भारत के क्षेत्रों में विचरण करते समय लगा कि पूज्यश्री की इतने वर्षों की मेहनत सफल हुई है ।

पूज्यश्री इसी तरह साहित्य सर्जन करते हुए स्व-पर का कल्याण करे, इसलिए शासन देव से उनके निरोगी व दीर्घ आयुष्य की प्रार्थना करता हूँ ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन-सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अनुक्रमणिका

क्रम	महासती का नाम	महापुरुष का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	महासती सुलसा		1
2-3.	महासती चंदनबाला धारिणी		27
4.	महासती मनोरमा	सुदर्शन सेठ	महापुरुष भाग-1
5.	महासती मदनरेखा		36
6.	महासती दमयंती		57
7.	महासती नर्मदासुंदरी		85
8.	महासती सीता		100
9.	महासती नंदा	अभयकुमार	महापुरुष भाग-1 45
10.	महासती भद्रा	शालिभद्र	महापुरुष भाग-1
11.	महासती सुभद्रा		224
12.	महासती राजीमती		229
13.	महासती ऋषिदत्ता		236

1. दृढ़ समकिती महासती सुलसा

भगवान महावीर को प्राप्त कर नौ-नौ पुण्यवंत आत्माओं ने **'तीर्थंकर नाम कर्म'** उपार्जित किया है । इन 'नौ' में दो महासतियों में सुलसा का भी एक नाम है ।

पू. वीरविजयजी म. ने पूजा में गाया है-

''सुलसादिक नव जण ने जिनपद दीधुं रे ।''

भगवान महावीर ने नौ को तीर्थंकर पद प्रदान किया था, उसमें भी सर्वप्रथम **'सुलसा'** को याद किया है ।

- महासती सुलसा आगामी चौबीसी में तीर्थंकर बनेगी ।
- पौषध पारते समय भी **''धन्ना सलाहणिज्जा सुलसा, आणंद कामदेवा य ।''**
- सूत्र में महासती सुलसा का नाम स्मरण किया गया है ।
- भरहेसर की सज्झाय में भी महासती सुलसा को सर्व प्रथम याद किया है ।
- देव-परीक्षा और अंबड़ की परीक्षा में भी सुलसा पूर्ण सफल रही है ।
- उसके दृढ़ सम्यक्त्व को देखकर ही भगवान महावीर ने अंबड़ परिव्राजक के साथ सुलसा को **'धर्मलाभ'** कहलाया था ।
- एक साथ अपने 32 पुत्रों की मौत में भी सुलसा अपने मन को समाधिस्थ रख सकी, ऐसी अनेकविध विशेषताओं से भरपूर सुलसा का रोमांचक इतिहास हमारे जीवन को भी समुज्ज्वल बनाए बिना नहीं रहेगा ।

1 महासती सुलसा

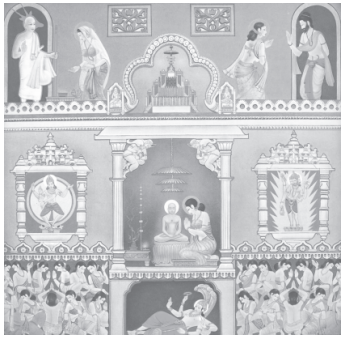

मगधदेश में अत्यंत ही पराक्रमी और प्रतिभाशाली श्रेणिक राजा राज्य करता था । उस राजा के नंदा, धारिणी आदि अनेक महारानियाँ थीं । नंदा महारानी का पुत्र अभयकुमार महामंत्री का पद भार सँभाल रहा था । **'बुद्धिनिधान'** के तौर पर अभयकुमार की कीर्ति दिग्-दिगंत तक फैली हुई थी ।

श्रेणिक और अभयकुमार दोनों प्रभु महावीर के परम भक्त थे ।

श्रेणिक महाराजा के रथ के सारथी का नाम था **नाग** ।

उस नाग के अत्यंत ही रूपवती और गुणवती ऐसी एक प्राणप्रिया पत्नी थी, जिसका नाम था-**सुलसा** ।

यद्यपि सुलसा **नाग** सारथी की धर्मपत्नी थी, परंतु उसके रोम रोम में महावीर प्रभु के प्रति अपूर्व समर्पण भाव था ।

प्रभु का आगमन मात्र सुनकर उसकी रोमराजि विकस्वरित हो जाती थी । प्रभु के दर्शन के साथ ही उसका हृदय अपूर्व आनंद से भर जाता था ।

उसका सम्यक्त्व अत्यंत ही निर्मल था । धर्मकल्पवृक्ष का मूल सम्यक्त्व ही है । प्रभु के वचनों के प्रति उसे पूर्ण श्रद्धा और आस्था थी ।

नाग सारथी राजगृह का धनाढ्य नागरिक था । राज-परिवार के साथ उसका गाढ़ संबंध था । प्रसेनजित और श्रेणिक राजा के रथ का वह कुशल सारथी था । नाग सारथी धन-धान्य से समृद्ध था, वह भी प्रभु का परम भक्त था । उसके जीवन में रूप और यौवन का सुभग मिलन था । अन्य किसी भी वस्तु की उसे कमी नहीं थी, परंतु एक ही चिंता उसे बार बार सताती थी और वह चिंता थी पुत्र-प्राप्ति की ।

एक बार नाग सारथी अपने हाथ पर सिर को टेक कर चिंतातुर अवस्था में बैठा हुआ था, तभी सुलसा ने प्रेम से कहा, ``स्वामीनाथ ! आज आप इतने उदासीन क्यों हो ? क्या महाराजा ने आपको ठपका दिया है ? क्या आपका स्वास्थ्य बराबर नहीं है ? हे स्वामिन् ! यदि कोई गुप्त बात न हो तो आप मुझे कहें ! मैं आपके दुःख में सहभागी बनना चाहती हूँ ।''

``प्रिये ! ऐसी कोई बात नहीं है जो मुझे तुझ से गुप्त रखनी पड़े । मुझे अन्य कोई चिंता नहीं है । न तो किसी ने मेरा अपमान किया है और न ही मेरा स्वास्थ्य खराब है । मेरी चिंता का एक मात्र कारण है-पुत्र-प्राप्ति ! संतान के अभाव में मुझे मेरा जीवन शून्यसा प्रतीत हो रहा है ।''

``हे स्वामिन् ! ***आप तो जिनवचन से इतने भावित हो । पुत्र के अभाव में आपको इतना खेद नहीं होना चाहिए । क्या पुत्र हमारे परलोक को सुधारने में सक्षम है ? क्या पुत्र हो तभी आत्मा की सद्‌गति होती है ? क्या पुत्र हमें दुर्गति के गर्त में डूबने से बचा सकता है ?''***

सुलसा की इन बातों को सुनकर नाग ने कहा, ``प्रिये ! यह सब तत्त्वज्ञान तो मैं भी अच्छी तरह से जानता हूँ ! परंतु पुत्रप्राप्ति की इच्छा से मेरा मन बारबार आकुल-व्याकुल हो जाता है । मैं अपनी इस इच्छा को जीतने में अपने आपको कमजोर मान रहा हूँ ।''

सुलसा ने कहा, ``स्वामीनाथ ! शायद आपकी इच्छा को पूर्ण करने में मैं असमर्थ होऊँ ? आप अपनी इच्छापूर्ति के लिए अन्य किसी सुयोग्य कन्या के साथ पाणिग्रहण कर सकते हैं ।''

``प्रिये ! मुझे अन्य किसी कन्या के साथ पाणिग्रहण नहीं करना है । मैं तो तुझे ही पुत्रवती देखना चाहता हूँ ।''

``स्वामीनाथ ! आप हताश न बनें ! आपकी इच्छा जरूर पूर्ण होगी । मुझे `प्रभु' पर पूर्ण विश्वास है । उनकी भक्ति-आराधना से मेरी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं ।'' इस प्रकार अपने पति को आश्वासन देकर सुलसा धर्म-कार्य में विशेष उद्यमशील रहने लगी ।

सुलसा अपने मन में सोचने लगी, ``भक्ति भावपूर्वक और विधिसहित की गई धर्म-आराधना से इस जगत् में इष्ट फल की प्राप्ति होती है । फिर भी मूर्ख लोग कल्पवृक्ष समान सर्ववांछित को देनेवाले धर्म की उपेक्षा क्यों करते हैं ?''

श्रेष्ठ कुल, परस्पर-प्रेम, दीर्घ-आयुष्य, आरोग्य, इष्ट-संयोग, सुपुत्र की प्राप्ति, घर में लक्ष्मी का वास, मुख में सरस्वती, भुजाओं में पराक्रम, हाथ में दान-लब्धि, शरीर में सौभाग्य, सद्‌बुद्धि और दिगंत-व्यापी कीर्ति की प्राप्ति धर्म के प्रभाव से ही होती है ।

दुनिया में ऐसी कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है, जो धर्म बिना मिल सकती हो ।

अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी जिस कार्य की सिद्धि नहीं होती हो, वह कार्य भी तप धर्म के प्रभाव से शीघ्र हो जाता है ।

होशियार वैद्य भी जिस असाध्य रोग को मिटा न पाए वह असाध्य रोग भी भाव-धर्म के प्रभाव से मिट जाता है । अनाथी मुनि का दृष्टांत भावधर्म की आराधना का जीवन्त दृष्टांत है ।

पाप कर्म के उदय के कारण महासती दमयंती के जीवन में पति-वियोग आदि असह्य दुःख पैदा हुए थे । परंतु उसके शील धर्म के प्रभाव से वे सब दुःख दूर हो गए थे ।

कुंती व द्रौपदी के कायोत्सर्ग-धर्म के प्रभाव से पांडवों के नागपाश के बंधन टूट गए थे ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि धर्म के प्रभाव से मुझे अवश्य पुत्र-प्राप्ति होगी । पुत्र-प्राप्ति से मेरे पति को शांति, समाधि व प्रसन्नता प्राप्त होगी ।

इस प्रकार विचार कर सुलसा धर्मकार्य के लिए दृढ़ संकल्पवाली बनी ।

सुलसा ने मूल्यवान व उत्तम द्रव्यों से जिनेश्वर परमात्मा की त्रिकाल पूजा भक्ति प्रारंभ की । उसके साथ सुपात्रदान द्वारा गुरु भगवंतों की भक्ति में तत्पर बनी । चतुर्विध-संघ की आदर पूर्वक भक्ति करने लगी । भूमि शयन और आयंबिल आदि तप में विशेष उद्यमशील हुई ।

सुलसा के मन में महावीर-प्रभु के प्रति पूर्ण श्रद्धा और आस्था तो थी ही । परंतु अब उसकी आस्था व श्रद्धा में खूब-खूब अभिवृद्धि हो गई । किसी देव की भी यह ताकत नहीं कि उसे अपनी श्रद्धा व आस्था से विचलित कर सके ।

2. परीक्षा

देवलोक में जितने भी इन्द्र होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होते हैं । सम्यग्-दृष्टि आत्मा गुणानुरागी होती है । आराधक आत्मा में रहे विशिष्ट गुणों को देखकर सम्यग्दृष्टि आत्मा खुश हुए बिना नहीं रहती है । गुणानुराग के कारण वह आराधक आत्मा के गुणों की अनुमोदना भी अवश्य करती है ।

एक बार सौधर्म इन्द्र अपनी सौधर्म सभा में बैठे हुए थे । उन्होंने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । उनके ज्ञान में महासती सुलसा का चित्र खड़ा हो गया ।

''अहो ! सुलसा का शील कितना निर्मल है ! अहो ! प्रभु वीर के प्रति उसका कितना दृढ़ समर्पण भाव है । अहो ! देव-गुरु धर्म के प्रति उसकी कितनी अपूर्व निष्ठा है । सामान्य मानव तो क्या, अत्यधिक शक्तिशाली देव भी उस सुलसा को विचलित करने में शक्तिमान नहीं है ।''

इस प्रकार अपने ज्ञानबल से सुलसा के दृढ़ सत्त्व को देखकर इन्द्र ने अपनी सौधर्म सभा में सुलसा की प्रशंसा करते हुए कहा, **''मनुष्य लोक में भरत क्षेत्र में राजगृही नगरी में रही हुई नाग सारथी की धर्मपत्नी सुलसा की दृढ़ श्रद्धा अपूर्व कोटि की है । उसकी दृढ़ श्रद्धा को विचलित करने की ताकत सामान्य मानव तो क्या किसी देव में भी नहीं है ।''**

इन्द्र के मुख से सुलसा के दृढ़ सत्त्व गुण की प्रशंसा सुनकर सभी सम्यग्दृष्टि देव प्रसन्न हुए परन्तु हरिणगमैषी देव के मन में सुलसा की परीक्षा करने का विचार आया । वह देवलोक छोड़कर सीधा ही मध्यलोक में आ गया ।

देव ने साधु का रूप किया ।

साधु वेष में रहा वह देव सुलसा श्राविका के महल के द्वार पर आ गया ।

महल में प्रवेश करते ही साधु ने जोर से **'धर्मलाभ'** कहा ।

जैसे ही सुलसा ने 'धर्मलाभ' की ध्वनि सुनी, अन्य सब कार्यों को छोड़कर वह द्वार पर आ गई । साधु महात्मा को देखते ही उसने अत्यंत ही आदर बहुमान और सद्भाव पूर्वक हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोली, **''पधारो ! पधारो !! आज मैं धन्य बनी हूँ...आज मेरा आँगन पावन हो गया है ।''**

सुलसा ने आगंतुक महात्मा से आहार-पानी के लिए विनती की ।

महात्मा ने कहा, ``हे श्राविका ! मुझे अन्य किसी वस्तु का तो खप नहीं है, परंतु मेरे साथी मुनिवर व्याधिग्रस्त हैं । वैद्य ने उन्हें लक्षपाक तैल से मालिश करने का सूचन किया है, अतः यदि वह तैल तुम्हारे पास हो तो उस तैल का खप है ।''

मुनिवर की यह बात सुनकर सुलसा गद्‌गद हो गई । वह सोचने लगी, **``अहो ! मेरा कितना सौभाग्य ! उस अमूल्य वस्तु का, इससे बढ़कर और क्या सदुपयोग हो सकता है ।''** इतना विचार कर वह तुरंत ही अपने खंड में गई और लक्ष पाक तैल का घड़ा उठाकर ले आई ।

परंतु यह क्या ! उस देव ने अपनी माया से वह घड़ा वहीं फोड़ दिया । मूल्यवान तैल वहीं पर ढुल गया । उसी समय वे मुनि बोले, ``अहो ! बहुत नुकसान हो गया । मैं चलता हूँ...दूसरी जगह से तैल ले लूंगा ।''

``नहीं भगवंत ! आप चिंता न करें । रोगी मुनि की चिकित्सा में मेरे तैल का उपयोग होता हो तो इससे बढ़कर उस वस्तु का क्या सदुपयोग होगा ! मेरे पास दूसरे घड़े भी हैं ! आप मुझे अवश्य लाभ दो ।'' इतना कहकर वह दूसरा घड़ा लाने के लिए अंदर गई और दूसरा घड़ा उठाकर मुनिराज के पास आने लगी...देवमाया से वह दूसरा घड़ा भी भूमि पर गिर पड़ा और सारा तैल नीचे ढुल गया ।

दूसरा घड़ा फूटते ही वे मुनि एकदम चौंक उठे और बोले, ``ओ बहिन ! बहुत बड़ा नुकसान हो गया । लक्षपाक तैल तो मूल्यवान होता है । आपका दूसरा घड़ा भी फूट गया है...आप रहने दें..मैं चलता हूँ ।''

``नहीं ! मुनिवर ! नहीं ! आप न जाएँ मेरे पास एक और घड़ा है । मैं वह घड़ा ले आती हूँ । आप बिल्कुल चिंता न करें । मुझे कोई दुःख नहीं हुआ है । ग्लान सेवा में मेरी वस्तु काम में आए इससे बढ़कर इसका सदुपयोग क्या हो सकता है ?'' इतना कहकर वह पुनः अपने महल के भीतरी कमरे में गई और तीसरा घड़ा लेकर बाहर आई...परंतु उस देव ने उस घड़े को भी फोड़ दिया ।

देवमाया से सुलसा के पास रहे तीनों घड़े फूट गये...मूल्यवान वस्तु नष्ट हो गई, परंतु आश्चर्य है कि सुलसा के मन में उसका लेश भी दुःख नहीं

हुआ । उसे इस बात का दुःख जरूर था कि वह मुनिवर को लक्षपाक तैल बहोराने के लाभ से वंचित रह गई...परंतु लक्षपाक तैल की भी उसके मन कोई कीमत नहीं थी ।

सुलसा बोली, ``हे गुरुदेव ! मैं कितनी अभागिन नारी हूँ...मेरी वस्तु आपको काम नहीं लगी ।''

...और उसी समय वहाँ का वातावरण एकदम बदल गया ।

साधु महात्मा के स्थान पर सुलसा ने अपनी आँखों के सामने अत्यंत ही तेजस्वी और कांतिमान् देव को देखा । देव के अद्भुत रूप व लावण्य को देखकर सुलसा के आश्चर्य का पार न रहा ।

``अरे ! यह क्या ? वे मुनिवर कहाँ चले गए ?'' सुलसा इस प्रकार सोच ही रही थी कि सामने खड़े हरिणगमैषी देव ने कहा, ***''हे श्राविका ! मैं सौधर्म देवलोक का देव हूँ ! आज ही इन्द्रसभा में सौधर्म इन्द्र ने आपकी धर्म-निष्ठा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी । उस प्रशंसा को सहन न करने के कारण ही मैं तुम्हारे सत्त्व की परीक्षा के लिए यहाँ आया था । मैंने ही साधु का रूप किया था...और लक्षपाक तैल के घड़े भी मैंने ही फोड़े थे...तू मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हुई है । तुझे लाख लाख धन्यवाद हो ! हे देवी ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ...तुझे जो चाहिए वह वरदान मांग ले ।''***

यद्यपि सुलसा के दिल में इस लौकिक भौतिक सुख को पाने की लेश भी लालसा नहीं थी...फिर भी एक मात्र अपने पति नाग की समाधि व चित्त-प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए सुलसा ने इतना ही कहा, ``हे देव ! आप तो विशिष्ट ज्ञानी हो ! आप अपने ज्ञान से मेरे दिल में रहे मनोरथ को जान सकते हो ।''

देव ने कहा, ``हाँ देवी ! तेरी मनोकामना का मुझे पता है । तेरी मनो-कामना अवश्य पूर्ण होगी । मैं तुझे 32 गोलियाँ देता हूँ...क्रमशः तुम एक-एक गोली खाना ! इसके प्रभाव से तुझे 32 पुत्रों की प्राप्ति होगी । कभी भी जरूरत लगे तो तुम मुझे याद करना ।'' इतना कहकर वह देव अदृश्य हो गया ।

3. पुत्र-प्राप्ति

नाग सारथी के मन, पुत्र-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा थी । पुत्र के अभाव में उसे अपने घर में शून्यता का आभास हो रहा था ।

उसकी मान्यता थी कि पुत्र से अपनी वंश परंपरा अखंडित रहती है ।

''प्रिय पत्नी, विनयी-पुत्र और संत पुरुषों की संगति ये गृहस्थ जीवन में विश्राम स्थल समान हैं ।''

सुलसा के दिल में संतानप्राप्ति के लिए कोई उत्सुकता नहीं थी ।

उसकी मान्यता थी कि परलोकगमन समय पुत्र कोई दुर्गति से बचाने वाला नहीं है ।

अनेक पुत्रों वाले माता-पिता, चक्रवर्ती जैसे भी मरकर नरक में चले गए ।

धर्म आचरण के अभाव में अनेक पुत्र होने पर भी आत्मा को स्वर्ग या अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती है ।

फिर भी अपने पति की समाधि के लिए सुलसा ने देव-वरदान के रूप में पुत्रप्राप्ति की कामना व्यक्त की थी ।

हरिणगमैषी देव द्वारा पुत्रप्राप्ति के वरदान की बात सुलसा ने अपने पति नाग को कही ।

पुत्र-वरदान की बात जानकर नाग सारथी की खुशी का पार न रहा । उसने सुलसा को खूब-खूब धन्यवाद दिया ।

सांसारिक सुखों को भोगते हुए उनका समय व्यतीत होने लगा ।

एक दिन सुलसा ने सोचा, ''देव ने मुझे 32 पुत्रों का वरदान दिया है । परंतु इतने पुत्र मैं क्या करूंगी ?''

ज्यादा पुत्र होंगे तो वे मेरी धर्मसाधना व प्रभु-भक्ति में बाधक बनेंगे । अतः मुझे 32 पुत्र नहीं चाहिए, मुझे तो 32 लक्षण युक्त एक ही पुत्र होगा तो भी चलेगा । गुणवान, पराक्रमी और रूपवान ऐसा एक पुत्र भी बस है ।

आकाश में तारे तो बहुत होते हैं, परंतु एक ही चंद्र सारे अंधकार को दूर कर देता है ।

हजारों गायों के बजाय मनोकामना को पूर्ण करने में समर्थ ऐसी एक कामधेनु गाय ही पर्याप्त है ।

काच के हजारों टुकड़ों के बजाय तो एक चिंतामणि रत्न ही बस है ।

``मुझे तो एक ही श्रेष्ठ पुत्र चाहिए ।'' इस प्रकार विचार कर वह एक साथ 32 गोलियाँ खा गई ।

देव द्वारा दी गई उन गोलियों के प्रभाव से सुलसा के पेट में 32 गर्भ पैदा हुए । धीरे-धीरे गर्भ में रहे बच्चे बड़े होने लगे और उसके साथ ही सुलसा की पीड़ा बढ़ने लगी ।

एक साथ गर्भ में 32 संतानों के कारण सुलसा की पीड़ा का पार न रहा । उसने उसी समय देव को याद किया । देव हाजिर हो गया ।

देव ने पूछा, ``मुझे क्यों याद किया ?''

सुलसा ने अपनी पीड़ा की बात कही ।

देव ने कहा, ``अरे भोली ! तूने यह क्या कर दिया ? मैंने तो तुझे 1-1 गोली खाने को कहा था, तू एक साथ सब खा गई ? अब तुझे जो पुत्र होंगे वे सब एक समान आयुष्यवाले होंगे...और एक की मृत्यु में सबकी मृत्यु हो जाएगी । यदि तूने अलग अलग गोलियाँ ली होती तो सब अलग अलग आयुष्यवाले, पराक्रमी और विद्वान पुत्र पैदा होते ।

सुलसा ने कहा, ``आपकी बात सही है, लेकिन अब जो होना था, वह हो गया । **इस जगत् में सभी जीव अपने-अपने किए हुए कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । जिस जीव की जैसी भवितव्यता होती है, वैसा ही होता है । उसमें कुछ भी परिवर्तन करने की ताकत इस संसार में किसी में नहीं है ।**

``हे देव ! मुझे हर्ष भी नहीं है और शोक भी नहीं । क्योंकि बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है । आपको ठीक लगे तो मुझे जो असह्य पीड़ा हो रही है, उसे आप दूर कर सकोगे ।''

सुलसा की इस प्रार्थना को सुनकर उस देव ने तुरंत ही उसकी पीड़ा दूर कर दी ।

धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा । धर्मकार्य में प्रवृत्त सुलसा अच्छी तरह से गर्भ का पालन-पोषण करने लगी ।

गर्भकाल व्यतीत होने पर एक शुभ दिन सुलसा ने एक साथ 32 पुत्रों को जन्म दिया ।

नाग सारथी को जब पुत्र-जन्म के समाचार मिले तो उसके आनंद का पार न रहा । उसने खूब धूमधाम से पुत्रों का जन्म-महोत्सव मनाया ।

नाग सारथी ने अपने पुत्रों के देवदत्त आदि नाम रखे । धीरे-धीरे वे पुत्र बड़े होने लगे । वे सभी पुत्र अत्यंत ही रूपवान और गुणवान थे । अल्प समय में ही वे सभी कलाओं में निपुण हो गए । क्रमशः वे सभी यौवन वय को प्राप्त हुए ।

एक दिन नाग सारथी ने समान वयवाली, रूपवती और गुणवती ऐसी 32 श्रेष्ठी कन्याओं के साथ अपने 32 पुत्रों का पाणिग्रहण करा दिया ।

4. अकाल-मृत्यु

वैशाली नगरी में महाराज चेटक का साम्राज्य था । वे भी प्रभु के परम भक्त श्रावक थे । श्रावक जीवन के अलंकार स्वरूप अनेक व्रतों को उन्होंने स्वीकार किया था । उनके ``प्रथा'' नाम की महारानी थी ।

महाराजा के कुल 7 पुत्रियाँ थीं ।

पहली पुत्री प्रभावती का विवाह वीतभयनगर के महाराजा उदयन के साथ हुआ था ।

दूसरी पुत्री पद्मावती का विवाह चंपानगरी के अधिपति दधिवाहन राजा के साथ हुआ था ।

तीसरी पुत्री मृगावती का विवाह कोशांबी के राजा शतानीक के साथ हुआ था ।

चौथी पुत्री शिवा का विवाह उज्जैनी नगरी के राजा चंडप्रद्योत के साथ हुआ था ।

पाँचवीं पुत्री ज्येष्ठा का विवाह कुंडपुर नगर के युवराज नंदिवर्धन के साथ हुआ था ।

महाराजा की दो पुत्रियों का विवाह बाकी था...सुज्येष्ठा और चेलना ।

दोनों राजकुमारियों का अद्‌भुत रूप व लावण्य था । दोनों सरस्वती की साक्षात् अवतार तुल्य थीं । उन दोनों के बीच गाढ़ प्रेम था । वे सर्व कलाओं में कुशल थीं ।

एक बार वे दोनों अपने बैठक खंड में वार्ता विनोद कर रही थी तभी भगवा वस्त्रधारी एक तापसी का आगमन हुआ ।

1. महासती सुलसा पृष्ठ नं. 1

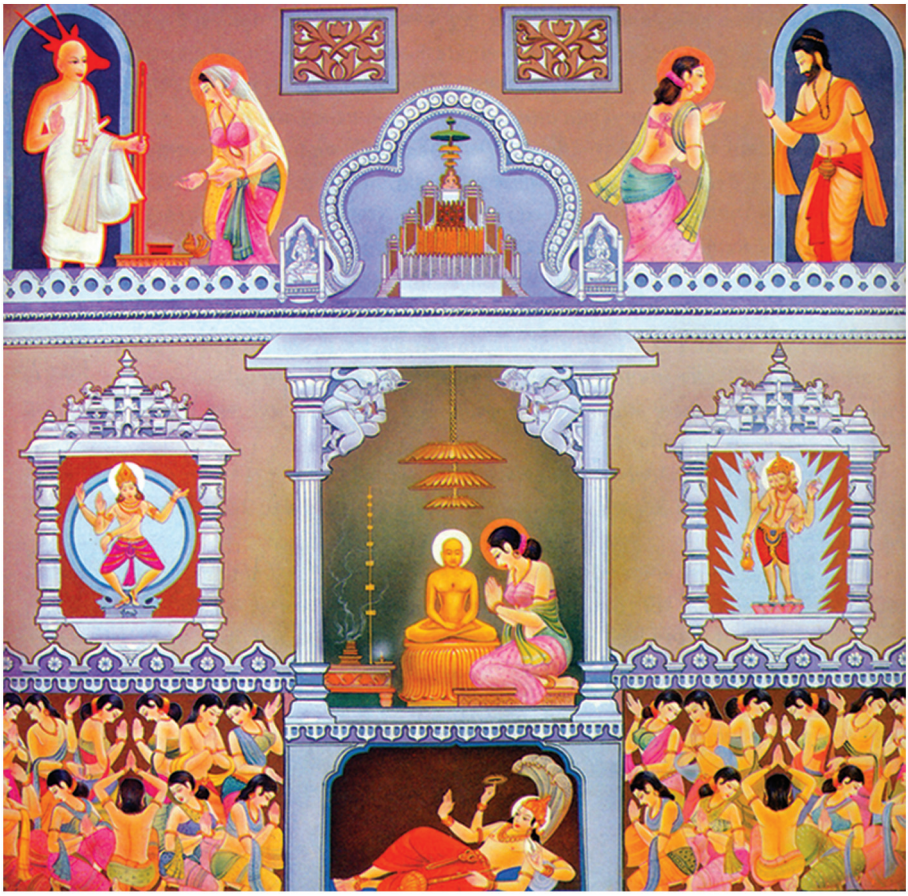

महासती सुलसा की सज्झाय

धन धन सुलसा साची श्रावीकाजी, जेहने निश्चळधर्मनुं ध्यान रे,
समकीतधारी नारी जे सतीजी, जेहने वीर दीयो बहु मान रे. १

एकदिन अंबड तापस प्रति बोधवाजी, जंपे एहवुं वीर जिणेश रे,
नयरी राजगृही सुलसा भणीजी, कहेजो अमारो धर्म संदेश रे. धन०२

सांभळी अंबड मनमां चिंतवेजी, धर्मलाभ इशोजी वयण रे,
एहवुं कहावे जिनवर जे भणीजी, केवुं रुडुं द्रढ समकित रयण रे. धन०३

अंबड तापस परीक्षा कारणेजी, आव्या राजगृहीने बार रे,
पहेलुं ब्रह्मा रुप विकुर्व्युजी, वैक्रिय शक्ति तणे अनुसारे रे. धन०४

पहेली पोळे प्रगट्यो पेखीनेजी, चौमुख ब्रह्मा वंदन कोड रे,
सघळी राज प्रजा सुलसा विनाजी, तेने आवी नमे करजोड रे. धन०५

बीजे दिन दक्षिण पोळे जइजी, धरियो कृष्ण तणो अवतार रे,
आव्या पुरजन तिहां सघळा मळीजी, नावी सुलसा समकित धारी रे. धन०६

त्रीजे दिवसे पश्चिम बारणेजी धरियुं, इश्वर रुप महंत रे,
तिमही ज चोथे थइ पचवीसमो जी, आवी समवसर्यो अरिहंत रे. धन०७

तो पण सुलसा नावी वांदवा जी, तेहनुं जाणी समकित साच रे,
अंबड सुलसाने प्रणमी करीजी, करजोडी कहे अेहवी वाच रे. धन०८

धन्य तुं समकित धारी शिरोमणीजी, धन्य तुं समकित विशवावीश रे,
एम प्रशंसी कहे सुलसा भणीजी, जिनजीये कही छे धर्म आशीष रे. धन०९

निश्चय समकित देखी सती तणुंजी, ते पण हुओ द्रढ मन मांय रे,
इणी परे शांति विमळ कविरायनोजी, बुध **कल्याणविमळ** गुण गाय रे. धन०१०

दोनों राजकुमारियाँ अपने आसन पर से खड़ी हो गईं । उन्होंने तापसी को पूछा, ``आपका आगमन कैसे हुआ ?''

तापसी ने कहा, ``मैं आपको सच्चा धर्म समझाने आई हूँ ।''

उन्होंने कहा, ``कहो, कौनसा धर्म है ?''

तापसी ने कहा, ``शौच मूल धर्म ही सच्चा धर्म है, उसी से सभी पापों का नाश होता है ।''

सुज्येष्ठा ने कहा, ``शौच तो स्वयं अशुभ आस्त्रव रूप है, वह धर्म कैसे हो सकता है ?''

``जिनेश्वर कथित अहिंसा-मूलक दयामय धर्म ही सच्चा धर्म है । दया ही धर्म रूपी वृक्ष का मूल है । दया के अभाव में धर्म कैसे ?

``कड़वी तुंबड़ी को तीर्थों के पवित्र जल में स्नान कराने से क्या वह कभी मीठी हो सकती है ? बस, इसी प्रकार सिर्फ देह की शुद्धि करने से कभी आत्मकल्याण संभव नहीं है ।''

इस प्रकार सुज्येष्ठा ने अनेक तर्क देकर तापसी के शौच धर्म का खंडन किया । उसने अपनी दासियों को आदेश देकर उस तापसी को अपने खंड से बाहर निकाल दिया ।

सुज्येष्ठा के द्वारा हुए इस अपमान को वह तापसी सहन नहीं कर पाई, वह अत्यंत ही कोपायमान हो गई । अपने अपमान का बदला लेने के लिए वह सोचने लगी । सोचते-सोचते आखिर उसे एक उपाय मिल गया ।

सुज्येष्ठा को आपत्ति में डालने के लिए उसने एक काष्ठ-फलक पर सुज्येष्ठा का चित्र तैयार किया । वह तापसी चित्रकला में अत्यंत ही होशियार थी ।

वह उस चित्र को लेकर राजगृही नगरी में श्रेणिक महाराजा के महल में गई । राजा ने उसका अभिवादन किया । औपचारिक बातचीत के बाद तापसी ने वह चित्र राजा के सामने रख दिया ।

सुज्येष्ठा के अत्यंत ही मनमोहक चित्र को देख, श्रेणिक महाराजा का मन अत्यंत ही आवर्जित हो गया । उन्होंने तापसी को पूछा, ``यह रूपसुंदरी कौन है ? यह नागकन्या है ? कामदेव की पत्नी रति है ? कुछ भी हो यह मानवकन्या तो नहीं हो सकती है । सच कहो, यह किसका चित्र है ?''

तापसी ने कहा, ***''यह किसी देवी का चित्र नहीं है । यह तो एक राजकन्या का ही चित्र है, यह तो उस कन्या का अंश मात्र भी नहीं है । उस कन्या का मूल स्वरूप तो इससे खूब अद्‌भुत है । यह कन्या और कोई नहीं है, यह तो चेटक महाराजा की पुत्री सुज्येष्ठा है और वह आपके लिए ही योग्य है । गुण और रूप का उसमें सुभग समन्वय हुआ है ।''*** इतना कहकर वह तापसी अन्यत्र चली गई ।

श्रेणिक महाराजा ने सुज्येष्ठा का वह चित्र देखा और वे अत्यंत ही मुग्ध हो गए । वे सुज्येष्ठा के विचारों में ही खो गए । किसी भी उपाय से सुज्येष्ठा को पाने के लिए समुत्सुक बन गए ।

सुज्येष्ठा के साथ पाणि-ग्रहण करने के लिए श्रेणिक ने अपने दूत को तैयार किया और वैशाली के लिए रवाना कर दिया ।

कुछ ही दिनों में वह दूत वैशाली पहुँच गया । वह दूत राजसभा में उपस्थित हुआ । उसने राजा को निवेदन करते हुए कहा, ``हे राजन् ! मैं राजगृही नगरी से श्रेणिक महाराजा का संदेश लेकर आया हूँ ।'' ``कहो, क्या संदेश है ?'' राजा ने उत्सुकता से पूछा ।

``श्रेणिक महाराजा आपकी सुपुत्री सुज्येष्ठा के साथ पाणि-ग्रहण करना चाहते हैं ।''

``ओहो ! यह बात संभव नहीं है । तुम्हारे स्वामी वाहीक कुल में पैदा हुए हैं । अतः हीनकुल में उत्पन्न हुए तुम्हारे स्वामी को हैस्तयवंश में उत्पन्न हुई यह कन्या कैसे दे सकता हूँ ? तुम यहाँ से चले जाओ ।''

इस प्रकार चेटक राजा से तिरस्कृत हुआ वह दूत राजगृही नगरी में आ गया । उसने श्रेणिक महाराजा को सारी बात कही ।

दूत की बात सुनकर श्रेणिक को अत्यंत ही आघात लगा । राहु से ग्रस्त चंद्र की तरह उसका मुँह निस्तेज हो गया ।

सुज्येष्ठा के चित्र ने श्रेणिक का मन हर लिया था । अन्य किसी कार्य में श्रेणिक का मन नहीं लगता था ।

आखिर, अभयकुमार को इस बात का पता चला ।

अभयकुमार ने कहा, ``पिताजी ! कुछ काम बल से सिद्ध होते हैं और कुछ काम बुद्धि से । चेटक बलवान राजा है, उसे अपने कुल का अभिमान भी

है, अतः वह सीधे तरीके से तो अपनी पुत्री नहीं देगा, इसके लिए अन्य उपाय ही करना पड़ेगा । आप निश्चिंत रहें । मैं उपाय करके भी उस कन्या को प्राप्त करा दूंगा ।''

अभयकुमार के आश्वासन भरे शब्दों को सुनकर श्रेणिक महाराजा निश्चिंत हो गए ।

सुज्येष्ठा को पाने के लिए अभयकुमार ने गहराई से सोचा । सोचते-सोचते आखिर उसे एक उपाय मिल गया ।

उसने राजगृही के श्रेष्ठ चित्रकार को बुलाकर एक काष्ठ फलक पर श्रेणिक महाराजा का अत्यंत ही सुंदर चित्र तैयार कराया ।

उसके बाद गुटिका के प्रभाव से अपने रूप-रंग और स्वर को बदल लिया । अभयकुमार ने व्यापारी का वेष धारण किया । क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह वैशाली नगरी में आया । राजमहल के पास में ही उसने अपनी दुकान चालू कर दी । अभयकुमार अपनी दुकान में देह-शणगार के लिए उपयोगी सुगंधित पदार्थ बेचने लगा ।

उसके मृदु व्यवहार से आकर्षित होकर राजमहल में से अनेक दासियाँ उसके पास सामान खरीदने के लिए आने लगीं ।

एक बार सुज्येष्ठा की दासी कुछ सामान खरीदने के लिए अभयकुमार की दुकान पर आ रही थी, तभी अभयकुमार, श्रेणिक के फोटो की देव की तरह पूजा करने लगा ।

दासी ने श्रेणिक का वह चित्र देख लिया । उस चित्र को देख वह खूब प्रभावित हुई । उसने पूछा कि यह चित्र किसका है ?

अभय ने कहा, यह तो राजगृही के सम्राट् श्रेणिक महाराजा का चित्र है । मैं उन्हें अपना आराध्यदेव मानता हूँ ।

दासी ने जाकर सुज्येष्ठा को बात कही । सुज्येष्ठा के मन में श्रेणिक के चित्र को देखने का कुतूहल पैदा हुआ ।

दासी ने आकर अभयकुमार को बात कही । अभयकुमार ने कहा, ``मैं यह चित्र देने के लिए तैयार हूँ, परंतु महाराजा को इस बात का पता नहीं लगना चाहिए ।''

दासी ने कहा, ``आप निश्चिंत रहें । यह बात बिल्कुल गुप्त रहेगी ।''

अभयकुमार ने कपड़े में लपेटकर श्रेणिक का चित्र दासी को दे दिया ।

दासी ने जाकर वह चित्र सुज्येष्ठा को दिया । श्रेणिक के अद्‌भुत रूप व लावण्य युक्त चित्र को देखकर तत्क्षण सुज्येष्ठा ने मनोमन संकल्प कर लिया कि इस जीवन में मेरा विवाह होगा तो श्रेणिक के साथ ही । अन्य किसी को मैं अपना वर नहीं बनाऊंगी ।

सुज्येष्ठा ने दासी से अपने मन की बात कही । दासी ने जाकर अभयकुमार को कहा, ``आप कुछ भी उपाय कर राजकन्या की मनोकामना को पूर्ण करने का प्रयत्न करें । श्रेणिक के चित्र ने उसके मन को हर लिया है । वह मन से तो श्रेणिक को वर चुकी है । अतः आप कुछ भी उपाय कर श्रेणिक और सुज्येष्ठा के पाणिग्रहण का उपाय शोध लें ।''

अभय ने कहा, ``राजकुमारी अपने संकल्प पर दृढ़ रहेगी न ? महाराजा चेटक अपनी पुत्री को सीधी रीति से सौंपने के लिए तैयार नहीं होंगे अतः श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण का एक मात्र उपाय रहेगा `अपहरण' । इसके लिए सुज्येष्ठा को पूरी तैयारी रखनी होगी और यह सारी योजना पूर्णतया गुप्त रहे, यह खूब जरूरी होगा ।''

दासी ने जाकर सुज्येष्ठा को सब बातें कह दीं । अभयकुमार की हर बात में सुज्येष्ठा ने अपनी सहमति दे दी । वह किसी भी उपाय से इस जीवन में श्रेणिक को ही वरना चाहती थी ।

दासी ने जाकर अभयकुमार को सारी बात कह दी । अभयकुमार ने कहा, ``मैं राजमहल के निकट भू-भाग तक सुरंग खुदवा दूंगा । उस सुरंग के मार्ग से ही श्रेणिक महाराजा यहाँ आएंगे और सुज्येष्ठा को रथ में बिठाकर ले जाएंगे ।''

दासी ने जाकर सुज्येष्ठा को सारी जानकारी दे दी ।

अपनी योजना को साकार होते देख अभयकुमार ने अपनी दुकान बंद कर दी...और तुरंत ही घोड़े पर सवार होकर राजगृही नगरी में आ गया ।

राजगृही नगरी में आकर अपने पिता के चरणों में नमस्कार करके बोला, ``हे पिताजी ! आपके शुभाशीर्वाद से आपके कार्य को करने में मैं सक्षम बना हूँ ।'' इतना कहकर अभयकुमार ने श्रेणिक महाराजा को सारी बातें बतला दीं ।

इधर सुज्येष्ठा के अपहरण की अपनी योजना को सफल बनाने के लिए मगध की सीमा के अंत भाग से लेकर वैशाली तक के गुप्त मार्ग को खोदने का काम प्रारंभ कर दिया । कुछ ही दिनों में वह सुरंग तैयार हो गई ।

अभयकुमार ने सुलसा के 32 पुत्रों को श्रेणिक महाराजा के अंगरक्षक के रूप में नियुक्त किया । सुलसा के सभी पुत्र अत्यंत ही बलवान, साहसिक और युद्धकुशल थे ।

श्रेणिक महाराजा तथा 32 अंगरक्षकों के कुल 33 रथ तैयार कर दिए गए । सुज्येष्ठा को भी गुप्त रूप से सब समाचार भेज दिए गए ।

एक शुभ दिन श्रेणिक ने राजगृही से प्रयाण प्रारंभ किया । सबसे आगे सुलसा के 32 पुत्रों के रथ थे और अंत में श्रेणिक महाराजा का रथ था ।

सुरंग में से निकलकर श्रेणिक बाहर आ गए । अंगरक्षकों के भी सभी रथ सुरंग में से बाहर आ चुके थे ।

सुज्येष्ठा ने चेलना को सब बातें कहीं, तो वह भी श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण के लिए तैयार हो गई ।

सुज्येष्ठा और चेलना भी रथ में बैठने के लिए तैयार होकर आई थीं ।

सभी रथ तैयार थे । सबसे पहले चेलना रथ में आरूढ़ हो गई । उसी समय ज्येष्ठा भी रथ में चढ़ने के लिए तैयार ही थी...परंतु अचानक उसे रत्नों के आभूषणों की पेटी याद आ गई ।

उसने श्रेणिक को कहा, ``मैं अपने रत्नों की पेटी लेकर अभी आती हूँ, तब तक आप ठहरना ।''

थोड़ा समय बीतने पर सुलसापुत्र अंगरक्षकों को चिंता सताने लगी ।

उन्होंने श्रेणिक को कहा, ``राजन् ! शत्रु के घर में लंबे समय तक रहना हितावह नहीं है, अतः यहाँ से शीघ्र प्रयाण करना चाहिए ।''

अंगरक्षकों की ओर से सूचना मिलने पर श्रेणिक ने सोचा, ``सुज्येष्ठा रथ में बैठ गई है और चेलना रत्नों के आभूषणों की पेटी लेने के लिए राजमहल में गई है...परंतु यहाँ ज्यादा समय तक रुकना ठीक नहीं है ।'' इस प्रकार विचारकर श्रेणिक ने सारथी को रथ हाँकने के लिए आज्ञा कर दी ।

श्रेणिक की आज्ञा होते ही सारथी ने अपने रथ को सुरंग में प्रवेश करा दिया और इसके साथ ही तेजी से अपना रथ हाँक दिया । चंद क्षणों में ही वह रथ सुरंग में तेजी से आगे बढ़ने लगा ।

श्रेणिक के रथ के सुरंग में प्रवेश हो जाने के बाद सुलसापुत्र 32 अंग रक्षकों के रथों ने भी सुरंग में प्रवेश कर दिया ।

इधर थोड़ी ही देर बाद सुज्येष्ठा रत्नों की पेटी लेकर वहाँ आई...परंतु उसने वहाँ न तो श्रेणिक का रथ देखा और न ही श्रेणिक के अंगरक्षकों के । वह एकदम घबरा गई । अरे ! यह क्या ? मैं रह गई और चेलना चली गई ?

वह करुण-कल्पांत रुदन करने लगी ।

कुछ समय बाद वह शांत हुई और पुनः राजमहल की ओर भागने लगी । उसने जाकर चेटक महाराजा को बात की, ``पिताजी ! पिताजी ! चेलना का अपहरण हो गया है ।''

चेलना के अपहरण को सुनते ही चेटक महाराजा आवेश में आ गए । तुरंत ही धनुष-बाण हाथ में लेकर रथ में आरूढ़ होकर सुरंग की दिशा में आगे बढ़े ।

उसी समय सेनापति वीरांगक ने कहा, ``राजन् ! आपको वहाँ जाने की जरूरत नहीं है । मैं शत्रु को परास्त कर चेलना को लेकर वापस शीघ्र ही लौट आता हूँ ।''

महाराजा को वीरांगक के पराक्रम पर पूर्ण विश्वास था, अतः वे स्वयं वहीं रुक गए । वीरांगक ने सुरंग में अपने रथ का प्रवेश कराया । परंतु श्रेणिक का रथ तो सबसे आगे था, अतः वह श्रेणिक के रथ पर कुछ भी प्रहार नहीं कर पाया परंतु उसने श्रेणिक के एक अंगरक्षक पर बाण का प्रहार किया । बाण से सुलसा का एक पुत्र मारा गया । परंतु यह क्या ? सुलसा के एक पुत्र के मरण के साथ शेष 31 पुत्रों की भी मौत हो गई । वे सब वहीं पर ढेर हो गए ।

इधर वीरांगक सुरंग में से लौट आया । उसने चेटक महाराजा को समाचार दिए, ``श्रेणिक का रथ राजगृही की सीमा में पहुँच चुका था और वहाँ पर उसका विराट पैदल सैन्य तैयार खड़ा था, अतः मैं चेलना को छुड़ाए बिना ऐसे ही वापस लौट आया हूँ ।''

इधर सुज्येष्ठा को ज्योंही समाचार मिले कि ``वीरांगक वापस लौट आया है और चेलना नहीं आई है'' तो उसके आघात का पार न रहा ।

सुज्येष्ठा सोचने लगी, ``अहो ! मेरे दुर्भाग्य की कोई सीमा नहीं है । जिस श्रेणिक को पाने के लिए मैंने इतना अधिक जोखिम उठाया । अभयकु-

मार ने यहाँ तक गुप्त सुरंग तैयार की और मैं इतनी अभागिन नारी कि श्रेणिक के हाथ को पकड़ न सकी । इस जीवन में श्रेणिक को छोड़ अन्य किसी का हाथ मुझे पकड़ना नहीं है...अतः अब मैं महावीर प्रभु के वरद हस्तों से भागवती दीक्षा अंगीकार कर साध्वी जीवन स्वीकार करूंगी ।''

अवसर देखकर सुज्येष्ठा ने अपने दिल की भावना अपने पिता को व्यक्त की ।

सुज्येष्ठा की इस भावना को देख चेटक राजा को आश्चर्य हुआ । आखिर उसकी दृढ़ भावना को देख माता-पिता ने भी उसे सहर्ष अनुमति प्रदान की...और एक शुभ दिन मोह माया के बंधनों का त्यागकर सुज्येष्ठा आर्या साध्वी बन गई ।

निर्मल संयम जीवन की आराधना-साधना कर सुज्येष्ठा ने अपना आत्मकल्याण किया ।

सुरंग के मार्ग को पारकर जब श्रेणिक का रथ राजगृही नगरी में पहुँच गया, तब श्रेणिक ने कहा, ``देवी सुज्येष्ठा ! राजगृही नगरी आ गई है, तुम रथ में से नीचे उतरो ।''

श्रेणिक के इस संबोधन को सुनकर चेलना ने कहा, ``स्वामीनाथ ! मैं सुज्येष्ठा नहीं हूँ, मेरा नाम चेलना है । मैं सुज्येष्ठा की छोटी बहिन हूँ ।''

``सुज्येष्ठा कहाँ है ?''

``नाथ ! मैं और सुज्येष्ठा आपको हृदय से वर चुकी थीं, हम दोनों रथ में बैठने के लिए तैयार थीं, परंतु सुज्येष्ठा अपने रत्नों के आभूषणों की पेटी भूल गई थी, वह उन्हें लेने के लिए गई...और इधर यह रथ रवाना हो गया । सुज्येष्ठा पीछे रह गई ।''

``ओहो ! सुज्येष्ठा पीछे रह गई ! आखिर भाग्य को मंजूर होता है, वही होता है ।''

श्रेणिक ने चेलना को अपने अंतःपुर में भिजवा दिया ।

श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाकर पूछा, ``अभी तक सुरंग में से सुलसा-पुत्र अंगरक्षक आए नहीं ?''

``पिताजी ! मैं अभी जाता हूँ और छानबीन करके आता हूँ ।''

अभयकुमार घोड़े पर बैठकर सुरंग के द्वार के पास आया, तब उसे ज्ञात हुआ कि सभी अंगरक्षकों की मृत्यु हो गई है ।

अंगरक्षकों की मृत्यु को जानकर अभयकुमार को अत्यंत ही आघात लगा ।

अभयकुमार ने जब ये समाचार श्रेणिक महाराजा को दिए तो उनके भी दु:ख का पार न रहा ।

श्रेणिक सोचने लगे, ``अहो ! मेरी मोहांधता को धिक्कार हो । मेरे कारण ही सुलसा के 32 पुत्रों की एक साथ मृत्यु हुई है । अपने वैर का बदला लेने के लिए मैं वैशाली पर आक्रमण करूँ तो भी इससे मुझे क्या फायदा ? सुलसा के 32 पुत्रों का पुनः संयोग तो अब प्राप्त होने वाला नहीं है ।''

श्रेणिक स्वयं जोर से रुदन करने लगे । आखिर अभयकुमार ने आश्वासन देकर उन्हें शांत किया । अभयकुमार ने कहा, ``पिताजी ! हमें मुख्य दो कार्य करने हैं 1) नागसारथी के पुत्रों के मृत देहों को सुलसा की हवेली में पहुँचाना और 2) सुलसा-नाग आदि को पुत्र-मृत्यु के समाचार देना ।''

श्रेणिक ने कहा, ``ये दोनों कार्य हम दोनों को ही करने होंगे । सुलसा तो धर्मात्मा है, शायद वह पुत्र-मृत्यु के आघात को सहन कर लेगी । परंतु नागसारथी और उसकी पुत्र-वधुओं की क्या हालत होगी ? वे उस आघात को कैसे सहन कर पाएंगे ?''

श्रेणिक व अभयकुमार रथ में आरूढ़ होकर सुलसा के महल की ओर बढ़े ।

अचानक ही महाराजा व महामंत्री को अपने महल के द्वार पर आए देख नागसारथी के आश्चर्य का पार न रहा ।

वह हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोला, ``राजन् ! पधारो ! पधारो !! आपके आगमन से मेरा आंगन पावन हो गया है । राजन् ! मेरे योग्य सेवा कार्य फरमाइए ।''

थोड़ी इधर-उधर की बातें करके अवसर देखकर धीरे से अभयकुमार ने कहा, ``वैशाली से वापस लौटते समय दुश्मनों ने तुम्हारे एक पुत्र पर प्रहार कर उसे मौत के घाट उतार दिया था-परंतु दुर्भाग्य से उस एक की मृत्यु के साथ शेष सभी पुत्रों की भी मृत्यु हो गई है ।''

अभयकुमार के मुख से अपने 32 पुत्रों के अकाल अवसान के समाचार सुनकर नाग वज्राघात की तरह मूर्च्छित होकर भूमि पर ढल पड़ा...और कुछ क्षणों के बाद होश में आने पर करुण कल्पांत रुदन करने लगा । वह अपने दोनों हाथों से सिर पछाड़ने लगा । अपने पुत्रों के गुणों को यादकर वह पुनः पुनः जोर से विलाप करने लगा । उसकी आँखों में से सावन-भादों बरसने लगे ।

``हाय ! अहो दुर्दैव ! मेरी 32 पुत्रवधुओं के सौभाग्य को तूने एक साथ में छीन लिया ? अब मैं ``वत्स ! बेटा ! कहकर किसे बुलाऊंगा ? तूने मुझे ही क्यों न उठा लिया ?''

इधर सुलसा को भी जैसे ही 32 पुत्रों की अकाल-मृत्यु के समाचार मिले-वह भी मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी ।

ठंडी हवा और चंदन के विलेपन से होश में आने पर सुलसा करुण कल्पांत रुदन करने लगी ।

``ओहो ! मैं कितनी अभागिनी हूँ ? हे पुत्रो ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गए ?''

``माँ ! माँ !'' कहकर अब मुझे कौन पुकारेगा ?

``हे दुर्दैव ! तूने मेरी 32 पुत्रवधुओं को एक साथ विधवा कर दिया ?

``हाय ! सच तो मेरे पुत्रों के मरण में मैं ही निमित्त बनी हूँ ! देव ने मुझे क्रमशः खाने के लिए 32 गुटिकाएँ दी थीं परंतु मैंने वे सब गुटिकाएँ एक साथ खा ली थीं...इसी कारण एक की मौत में उन सब की मौत हुई है ।''

सुलसा की पुत्रवधुओं को जब अपने पतिदेवों के अकाल अवसान के समाचार मिले तो वे तुरंत ही मूर्च्छित होकर धरती पर ढल पड़ीं और होश में आने पर करुण-कल्पांत विलाप करने लगीं ।

सभी को आश्वासन देते हुए अभयकुमार ने कहा, ``आप सभी तो विवेकी हो ! जैन धर्म के परमार्थ को अच्छी तरह से जानने-समझनेवाले हो । संसार के सभी पदार्थ क्षणभंगुर व अस्थिर हैं । अतः तुम्हें इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है ।

``ज्ञानी महापुरुषों ने इस संसार में रहे पदार्थों को 'इन्द्रजाल' 'मेघधनुष' 'हाथी के कान' 'संध्या के रंग' आदि की विविध उपमाएँ दी हैं । समुद्र के जलतरंग के समान मनुष्य का आयुष्य अत्यंत ही चपल है ।

``संसार में मरण स्वाभाविक है, जीवन विकृति रूप है । जिसका जन्म है, उसका मरण तो अवश्यंभावी है । हे बहिन सुलसा !

``आप तो तत्त्वज्ञ हो । भगवान महावीर की उपासिका हो । संसार में जन्म लेनेवाले को अवश्य मरना ही पड़ता है ।''

``इस संसार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्रवधू के जो भी संबंध हैं, वे वास्तविक नहीं हैं । ये सारे संबंध तो कर्मकृत हैं । जिस प्रकार धर्मशाला में सभी मुसाफिर इकट्ठे होते हैं, परंतु कुछ समय बाद सभी अलग-अलग दिशाओं में प्रयाण कर जाते हैं, बस, इसी प्रकार मौत के साथ ही सभी जीव अपने अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग गति में चले जाते हैं ।''

आँसू बहाते हुए सुलसा बोली, ``मंत्रीश्वर ! आपकी बातें सत्य हैं । भवस्वरूप को मैं भी अच्छी तरह से जानती हूँ, परंतु पुत्रों के अकाल अवसान से जो आघात लगा है, वह मेरे लिए भी असह्य बन गया है ।'' इतना कहकर सुलसा और उसकी पुत्र-वधुएँ आक्रंदन करने लगीं ।

पुनः महामंत्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, ``आप तो सूर्य समान तेजस्वी महावीर प्रभु की परम उपासिका हो । आपको उपदेश देना भी मुझे लज्जास्पद लगता है ।''

``हे बहिन ! यह सारा जगत् ही स्वप्न तुल्य है तो इन सांसारिक संबंधों को याद कर कल्पांत रुदन करना कहाँ तक उचित है ?''

अभयकुमार के प्रेरणादायी वचनों को सुनकर सुलसा को खूब आश्वासन मिला । उसका शोक धीरे-धीरे कम हुआ ।

आश्वासन देकर श्रेणिक व अभयकुमार स्थारूढ़ होकर अपने महल में आ गए ।

इधर उन 32 पुत्रों की उत्तर क्रिया की गई । धीरे-धीरे समय बीतने लगा और नाग सारथी व पुत्रवधुओं का शोक भी कम होने लगा ।

पुत्रों की अकाल मृत्यु के बाद सुलसा और अधिक धर्म ध्यान में डूब गई । उसे यह सारा संसार निःसार प्रतीत होने लगा ।

5. सम्यक्त्व-परीक्षा

अपने चरण कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए भगवान महावीर परमात्मा चंपानगरी में पधारे ।

देवताओं ने आकर दिव्य समवसरण की रचना की । रत्नमंडित सिंहासन पर बैठकर प्रभु ने भव-निर्वेदिनी देशना प्रदान की । उस देशना के श्रवण से अनेक पुण्यात्माओं को सद्बोध की प्राप्ति हुई ।

देशना समाप्ति के साथ ही हाथ में त्रिदंड व कमंडल लिये हुए, भगवा वस्त्र धारण किए हुए जटाधारी, अंबड़ परिव्राजक का समवसरण में आगमन हुआ ।

अंबड़ ब्रह्मचारी था, उसके 700 शिष्य थे । परिव्राजक वेष धारण करने पर भी वह महावीर प्रभु का परम श्रावक था । वह 12 व्रतों का पालन करता था । उसके पास अनेक प्रकार की लब्धियाँ थीं । वह कांपिल्यपुर में एक साथ में 100 घरों से भोजन लेता था । वह छट्ठ के पारणे छट्ठ करता था । सूर्य के सामने खड़े रहकर आतापना भी लेता था । उसके पास वैक्रिय-लब्धि थी । वह अवधिज्ञानी था । वह अपनी शक्ति से आकाश में गमन कर सकता था ।

अंबड़ ने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दीं और उसके बाद उसने हाथ जोड़कर प्रभु की स्तुति की ।

अंबड़ ने प्रभु की देशना का श्रवण किया । तत्पश्चात् राजगृही नगरी का ध्यान कर वह खड़ा हुआ । उस समय महावीर प्रभु ने अंबड़ को कहा, **``हे अंबड़ ! तुम राजगृही नगरी में जा रहे हो तो वहाँ सुलसा श्राविका के घर जाकर उसे मेरा धर्मलाभ कहना ।''**

अबंड़ ने ``तहत्ति'' कहकर प्रभु के वचन को स्वीकार किया...उसके बाद वह आकाशमार्ग से राजगृही नगरी में आ गया ।

राजगृही नगरी में आने के बाद अंबड़ ने सोचा, **``वह सौभाग्यशालिनी सुलसा कौन होगी जिसे प्रभु ने खुद ``धर्मलाभ'' कहलाया है ? उसमें अवश्य ही कोई विशिष्ट गुण होना चाहिए । प्रभु ने अन्य किसी को याद न कर सुलसा को याद किया तो जरूर उस सुलसा में कोई विशिष्ट योग्यता होनी चाहिए । उसके गुणों को जानने के लिए मुझे उसकी परीक्षा करनी चाहिए ।''**

सुलसा की परीक्षा करने के लिए अंबड़ अपना रूप परिवर्तन कर हाथ में त्रिदंड व कमंडल लेकर सुलसा श्राविका के द्वार पर आया ।

योगीवेष में रहे अंबड़ ने कहा, ``माँ ! मुझे भिक्षा दो ।''

सुलसा ने दासी को कहा, ``इस भिक्षुक को भोजन दे ।''

योगी ने कहा, ``मैं इस तरह भोजन नहीं लेता हूँ, पहले तुम मेरा पाद-प्रक्षालन करो फिर मैं भोजन लूंगा ।''

सुलसा ने कहा, ``मैं प्रभु महावीर के उपासकों को छोड़ अन्य किसी का पाद-प्रक्षालन नहीं करती हूँ ।''

योगी ने वहाँ से विदाई ले ली ।

सुलसा के सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए दूसरे दिन अंबड़ ने ब्रह्माजी का रूप धारण किया ।

सृष्टि के सर्जनहार ब्रह्माजी के हाथ में कमंडल व रुद्राक्ष की माला थी । जटाधारी ब्रह्माजी के पास सावित्री बैठी थी । चार मुखवाले ब्रह्माजी सभी को वेदमार्ग समझा रहे थे ।

ब्रह्माजी के दर्शन के लिए चारों ओर से लोग उमड़ पड़े । कुछ सखियाँ आकर सुलसा को भी कहने लगीं, ``नगर के बाहर ब्रह्माजी खुद आए हैं । चल, उनके दर्शन के लिए ।''

सुलसा ने कहा, ``नहीं ! मैं नहीं आऊंगी । इस सृष्टि के सर्जक ब्रह्माजी नहीं हैं, यह सृष्टि तो अनादि से है और अनंतकाल तक रहेगी । परमात्मा इस सृष्टि के सर्जक नहीं बल्कि दर्शक हैं ।'' आखिर सुलसा नहीं गई ।

सुलसा की परीक्षा के लिए तीसरे दिन अंबड़ ने विष्णु का रूप धारण किया ।

कमल समान नाभिवाले, गरुड़ पक्षी पर आरूढ़, पीतांबरधारी, हाथों में गदा, शंख, चक्र और धनुष को धारण करनेवाले, पास में बैठी हुई लक्ष्मी देवी ।

विष्णु भगवान के दर्शन, वंदन और उनका आशीर्वाद पाने के लिए चारों ओर से लोगों का टोला उमड़ पड़ा...परंतु उस टोले में भी सुलसा नहीं आई ।

सखियों के आग्रह करने पर वह बोली, ``मुझे प्रभु महावीर के सिवाय अन्य किसी में लेश भी रस नहीं है ।''

आखिर विष्णु भगवान को देखने के लिए सुलसा नहीं गई ।

चौथे दिन अंबड़ ने शंकर का रूप किया ।

संपूर्ण शरीर पर भस्म का लेप, जटा में गंगा, मस्तक पर चंद्र, पास में बैठी हुई पार्वती । कंठ में मनुष्य की खोपड़ियों की माला, हाथ में डमरू व त्रिशूल, शरीर पर चमड़े का आवरण ।

सभी लोग शंकर भगवान के दर्शन के लिए उमड़ पड़े ।

सखियों ने आकर सुलसा को भी चलने का आग्रह किया, परंतु सुलसा ने तो स्पष्ट इन्कार कर दिया ।

पाँचवें दिन अंबड़ ने अपनी वैक्रिय लब्धि से तीर्थंकर की बाह्य समृद्धि की रचना की । लोगों में बातें होने लगी, **``तीर्थंकर परमात्मा पधारे हैं ।''**

सभी लोग तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन के लिए उमड़ पड़े ।

किसी ने सुलसा को भी चलने के लिए प्रेरणा की ।

सुलसा ने कहा, ``कौन से तीर्थंकर पधारे हैं ?''

किसी ने कहा, ``पच्चीसवें ।''

सुलसा बोली, **``तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं, पच्चीस नहीं । 24वें तीर्थंकर महावीर प्रभु ही हैं । यह सब कुछ ढोंग ढकोसला लगता है । यह सब इन्द्रजाल लगता है ।''**

आखिर सुलसा वहाँ भी नहीं गई ।

समवसरण में रहा अंबड़ सुलसा को शोध रहा था, परंतु उसे कहीं भी सुलसा के दर्शन नहीं हुए ।

वह स्वगत बोला, **``धन्य सुलसा ! धन्य महासती ! तेरा धर्म नकली नहीं, असली है । सारी दुनिया इन्द्रजाल से आकर्षित हो जाती है, परंतु तू तो दृढ़ सत्त्ववाली है । तुझे चलित करने की ताकत किसी देव-दानव या मानव में नहीं है ।''**

अपनी सभी विद्याओं का संहरण कर पाँचवें दिन अंबड़ श्रावक के वेष में पूजा के उज्ज्वल वस्त्रों को धारण कर हाथ में पूजा की सामग्री लेकर सुलसा के गृह मंदिर में जिनेश्वर परमात्मा की पूजा करने के लिए गया ।

अंबड़ को श्रावक समझकर तुरंत ही सुलसा ने उसे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोली, ``हे धर्मबंधु ! आपका स्वागत हो । आप मेरे घर पधारे ! आपके आगमन से मेरा घर पावन हुआ है । मेरे लिए आज के दिन सोने का सूरज उगा है । मुझे साधर्मिक बंधु का मिलन हुआ है ।

तुरंत ही सुलसा ने अंबड़ के बैठने के लिए आसन बिछाया । अंबड़ ने आसन ग्रहण किया । उसके बाद सुलसा ने अंबड़ के पैरों का प्रक्षालन किया ।

सुलसा ने दासियों द्वारा प्रभु पूजन की तैयारी करा दी । अंबड़ ने जिनेश्वर भगवंत की भावपूर्वक पूजा की । उसके बाद पुनः योग्य आसन ग्रहण किया और बोला, **``हे महासती ! तुझे लाख लाख धन्यवाद हो ! तूने जैन धर्म के गौरव को बढ़ाया है । जैन धर्म के गंभीर रहस्यों को तू ने अच्छी तरह से समझा है । तेरे समग्र जीवन पर जैन धर्म की छाया है ।**

``हे सुलसा ! तेरा विवेक अपार है । तू कर्तव्य-अकर्तव्य तथा हेय-उपादेय को अच्छी तरह से जानती है । हे देवी ! तेरा मनुष्यजन्म सफल बना है । परमात्मा ने जिन कारणों से मनुष्यजन्म को महान् और सफल कहा है, तूने उसे सार्थक कर दिखाया है ।

तप-त्याग और परमात्म-भक्ति से तेरा जीवन सुवासित बना है ।

हे परम श्राविका ! तू सूक्ष्म-प्रज्ञा को धारण करनेवाली है । परमात्मा के यथार्थ-स्वरूप को तूने पहिचाना है । तू सतियों में शिरोमणि है ।

वीतराग पुरुषों में मुकुट समान ऐसे चौबीसवें जिनेश्वर महावीर परमात्मा ने देव-देवेन्द्र और मनुष्यों की सभा में तेरी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

मैं अंबड़ परिव्राजक हूँ...महावीर प्रभु का परम भक्त हूँ । मैं अभी चंपानगरी से आ रहा हूँ । चंपानगरी में रहे महावीर प्रभु ने तुझे स्वमुख से ``धर्मलाभ'' कहलाया है ।''

अंबड़ के मुख से प्रभु के ``धर्मलाभ'' संदेश को सुनकर सुलसा की देहलता नाच उठी । उसके रोम-रोम में आनंद छा गया । उसकी आँखों में हर्ष के आँसू उमड़ पड़े । उसका मुख-कमल खिल उठा । वह अपने आसन से खड़ी हो गई...और उसने भावपूर्वक परमात्मा की स्तवना की ।

उसके बाद अंबड़ ने कहा, ``हे भाग्यशालिनी सुलसा ! तेरी परीक्षा के लिए ही मैंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब रूप किए थे...परंतु तू नहीं आई ? मैंने तीर्थंकर का रूप किया, फिर भी तू कुतूहलवश भी नहीं आई ?

सुलसा बोली, ``हे धर्मबंधु ! आप तो ज्ञानी हो, फिर मुझे यह प्रश्न क्यों पूछते हो ? प्रभु महावीर को पाने के बाद अब मेरा मन ब्रह्मा आदि में कैसे जा सकता है ?''

``जिस भ्रमर ने हाथी के गंडस्थल में से बहते हुए मद का स्वाद लिया हो वह क्या नीम का रस पीने की इच्छा करेगा ?

``समवसरण में बैठकर मैंने प्रभुवीर की अमृत-वाणी का आस्वाद किया है तो अब मुझे अन्य देवों का आकर्षण कैसे हो सकता है ?

``मेरे लिए तो प्रभु के चरण ही शरणभूत हैं । महावीर प्रभु के चरण कमलों को पाने के बाद अब हरि-हर आदि रागी-द्वेषी देवों के पास जाने का मन ही नहीं होता है ।

``मेरा मन प्रभु वीर में ही लीन बना हुआ है । **वे यहाँ पधारें तो मेरा देह रोमांचित हुए बिना नहीं रहता है ।''**

अंबड़ ने कहा, ``सुलसा ! तेरी श्रद्धा और समर्पण भाव को लाख लाख धन्यवाद है ।''

अंबड़ ने सोचा, ``अहो ! श्रद्धा के परम तत्त्व को समझने के लिए ही प्रभु ने मेरे द्वारा सुलसा को ``धर्मलाभ'' कहलाया है । वास्तव में सुलसा की धर्मश्रद्धा अविचल है ।''

उसके बाद सुलसा ने खूब भक्ति पूर्वक अंबड़ को भोजन कराया ।

भोजन के बाद अंबड़ ने वहाँ से विदाई ली ।

त्याग-तप की साधना में आगे बढ़ती हुई सुलसा ने वृद्धावस्था में प्रवेश किया, उसकी देहलता पर वृद्धावस्था की छाया दिखाई देने लगी । उसकी काया कृश हो गई ।

समाधि-मरण प्राप्ति की भावना से सुलसा श्राविका ने अनशन व्रत स्वीकार किया । अपनी अंतिम साधना के लिए उसने गुरु-भगवंत से विनती की ।

सुलसा की विनंति को स्वीकार कर पूज्य गुरु भगवंत उसके महल में पधारे ।

गुरु भगवंत ने सुलसा को समाधिमरण के लिए सुंदर प्रेरणाएँ दीं ।

सुलसा ने जीवन में हुए सभी पापों के लिए शुद्ध हृदय से आलोचना, निंदा तथा गर्हा की । जीवन में हुए सुकृतों की भावपूर्वक अनुमोदना की ।

अरिहंत आदि चार की उसने भावपूर्वक शरणागति स्वीकार की ।

अपने देह के प्रति वह सर्वथा निर्भय बन गई ।

शुभ-भावनाओं से उसने अपने मन को अच्छी तरह से भावित किया ।

जगत् के जीव मात्र के कल्याण की कामना से उसका मन भावित बन चुका था ।

इस प्रकार शुभ भावनाओं से भावित बनी शुद्ध सम्यक्त्वधारी सुलसा ने **``तीर्थंकर नाम कर्म''** उपार्जित किया ।

सुलसा ने गुरु-साक्षी से अपने पापों की आलोचना की...अत्यंत समाधि पूर्वक कालधर्म प्राप्तकर सुलसा देवलोक में गई ।

देवलोक के दिव्य सुखों का अनुभव कर एवं अपने दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर सुलसा की आत्मा आगामी चौबीसी में उत्सर्पिणी काल में पंद्रहवें **अमम** नाम की तीर्थंकर बनेगी ।

अनेक भव्यात्माओं का उद्धार कर अमम **तीर्थंकर** के रूप में सुलसा शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करेगी ।

2-3. महासती चंदनबाला

कर्म का गणित कितना विचित्र है !

एक राजपुत्री के रूप में पैदा हुई चंदना को बाजार के चौराहे पर नीलाम किया गया ।

☞ **श्रेष्ठी पुत्री के रूप में पली चंदना के**
हाथ-पैरों में जंजीरें डाली गईं ।
मस्तक मुंडाकर जो भयंकर
कैद में डाल दी गई ।

☞ परंतु सद्भाग्य से उसे
प्रभु महावीर की भीष्म-प्रतिज्ञा को (अभिग्रह)
पूर्ण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ !
चंदना का सौभाग्य सोलह कलाएँ खिल उठा !

☞ **प्रभु के द्वारा शासन की स्थापना**
होने पर उसे प्रथम साध्वी बनने का
परम सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

☞ गुरु-शिष्या के क्षमा के आदान-प्रदान में
सर्व प्रथम मृगावती केवली बनी और उसके बाद
चंदनबाला को भी केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

☞ **शिष्या से गुरु को केवलज्ञान की प्राप्ति**
प्रभु वीर के शासन की अलौकिक घटना है ।

2-3. प्रथम साध्वी चंदनबाला

चंपानगरी ।

दधिवाहन राजा । धारिणी रानी ।

राजा और रानी के इकलौती बेटी थी वसुमती ।

एक बार अवसर देखकर अचानक ही शतानीक राजा ने चंपानगरी पर आक्रमण कर दिया । युद्ध के लिए दधिवाहन राजा की अपनी कोई तैयारी नहीं थी...दो सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध चालू हुआ । अपने सैन्य को कमजोर जानकर दधिवाहन राजा अपने प्राण बचाने के लिए गुप्त रूप से भाग गया ।

शतानीक राजा के सैन्य ने चंपानगरी को बुरी तरह से लूटा ।

दधिवाहन राजा की रानी व पुत्री भी अपने जीवन के रक्षण के लिए जहाँ-तहाँ भटकने लगी...अचानक किसी सैनिक ने उन दोनों को पकड़ लिया और अपने रथ में बिठाकर आगे बढ़ने लगा ।

कोशांबी के राजा शतानीक ने चंपानगरी अपने अधीन कर ली । शतानीक भी अपने सैन्य के साथ कोशांबी की ओर लौटने लगा । बीच मार्ग में उस सैनिक ने धारिणी को कहा, ``हे धारिणी ! तू अन्य सब चिंता छोड़ दे...और तू मुझे पति के रूप में स्वीकार कर ले ।''

धारिणी ने कहा, ``अरे पापी ! ऐसे कर्णकटु दुष्ट वचन मत बोल ! तू यह क्या बोल रहा है ? मैं पर-स्त्री हूँ...और परस्त्री गमन करनेवाला पुरुष तो नरक-गामी होता है ।''

धारिणी ने उस सैनिक को समझाने की खूब कोशिश की...परन्तु धारिणी के रूप का पिपासु बना हुआ वह सैनिक धारिणी की एक बात भी सुनने के लिए तैयार नहीं हुआ ।

वास्तव में कामांधता अत्यंत ही भयंकर है । कामांध व्यक्ति के विवेक चक्षु पर आवरण आ जाता है, अपने हिताहित का विचार करने की शक्ति वह खो बैठता है ।

कामांध व्यक्ति वर्तमान का ही विचार करता है, भविष्य की वह सोच ही नहीं पाता है ।

धारिणी के समझाने पर भी जब वह सैनिक अपने संकल्प से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ तो उसने सोचा, **``अनंत पापराशि इकट्ठी होने पर आत्मा स्त्री रूप में जन्म लेती है । शीलरहित स्त्रीजीवन तो अत्यंत ही भयंकर है । सन्नारी के मन तो शील प्राण से भी प्यारा होता है । अतः मेरे प्राण चले जायें तो परवाह नहीं है, किंतु मुझे अपना शील तो नहीं खोना चाहिए ।''** इस प्रकार विचार कर धारिणी ने अपनी जीभ कुचलकर आत्महत्या कर ली ।

धारिणी के निश्चेष्ट देह को देखकर वसुमती कल्पांत रुदन करने लगी । ``हे माता ! तू मुझे छोड़कर कहाँ चली गई ? तेरे बिना अब मेरी क्या हालत होगी ? हे माता ! तेरे वियोग को मैं कैसे सहन कर पाऊंगी ? अब तो जो तेरी गति हुई है वह गति मेरी भी हो ।

``हे हृदय ! माँ के वियोग में तू फट क्यों नहीं गया ?'' इस प्रकार वसुमती कल्पांत रुदन करने लगी ।

वसुमती के करुण रुदन ने सैनिक के कठोर दिल को पिघला दिया ।

उसने कहा, ``हे सुंदरी ! तू यह रुदन छोड़ दे । भवितव्यता के आगे किसी का वश नहीं चलता है । तू निश्चिंत बन । मैं तुझे बहिन व बेटी समझूंगा । मुझ से भय करने की जरूरत नहीं है ।'' इस प्रकार वह सैनिक वसुमती को आश्वासन देने लगा ।

इधर उस सैनिक ने धारिणी के शरीर पर रहे सभी अलंकार उतार लिये और उसके मृत देह को रथ में से बाहर फेंक दिया ।

वह सैनिक वसुमती कन्या को लेकर अपने घर आया ।

घर में प्रवेश करते ही सैनिक की पत्नी ने अपने पति के साथ रही कन्या को देखा । वह सोचने लगी, जरूर मेरा पति इस कन्या को भविष्य में अपनी पत्नी बना लेगा, इस प्रकार विचार कर आक्रोश करती हुई बोली, ``तुम इस कन्या को उठाकर क्यों लाये हो ? मैं इसे अपनी आँखों से देख नहीं सकती हूँ । यदि तुम इस कन्या को घर में रखोगे तो मैं आत्म-हत्या कर अपने जीवन को समाप्त कर दूंगी । और राजा को इस बात का पता चल गया तो वह हमारा सर्वस्व अपहरण कर लेगा । यदि तुम स्वेच्छा से ही इसे घर के बाहर नहीं छोड़ोगे तो मैं राजा के पास जाकर शिकायत करूंगी ।''

पत्नी के आक्रोश भरे शब्दों को सुनकर उस सैनिक ने सोचा, ``इस कन्या को घर में रखना संभव नहीं है, अतः क्यों न राजपथ पर जाकर इस कन्या को बेचकर जो धन मिले, वह प्राप्त कर लूँ ।'' इस प्रकार विचार कर वह सैनिक वसुमती को लेकर राजपथ पर खड़ा हो गया ।

वसुमती के अद्‌भुत रूप व लावण्य को देखकर अनेक लोग वहां इकट्ठे हो गए । कुछ वेश्याएँ भी वहाँ आ गईं ।

वेश्याएँ परस्पर बातें करने लगीं ।

एक वेश्या ने दूसरी वेश्या को कहा, ``अपनी हाजरी में इसे खरीदने की किसकी ताकत है ? इसके लिए तो करोड़ों भी कुरबान है ।''

दूसरी बोली, ``इसकी कीमत तो पूछ ले ।''

वेश्या ने कीमत पूछी ।

सैनिक ने कहा, ``500 सुवर्णमुद्राएँ ।''

वेश्या ने कहा, ``लो ये 500 मुद्राएँ और इसे मुझे सौंपो ।''

सैनिक सुवर्ण मुद्राएँ गिनने लगा ।

वसुमती ने पूछा, ``तुम कौन हो ?''

वेश्या ने कहा, ``हमारी जाति पूछने से क्या फायदा ? हमारे यहाँ तो राज दरबार से भी अधिक सुख है ।''

वसुमती-``अहो ! मैं तुम्हें पहिचान गई, तुम वेश्या हो, मैं किसी भी हालत में यहाँ से चलने वाली नहीं हूँ ।''

``अरे ! तू बेच दी गई है । अब क्यों अहंकार करती है ? चलती है या नहीं ?'' इतना कहकर वह वेश्या वसुमती का हाथ पकड़ कर खींचने लगी ।

वसुमती की आँखों में आँसू आ गए । वह अपने भावी अशुभ की कल्पना से घबरा गई । तत्काल उसने प्रभु को याद किया ।

वसुमती के दिल में शीलरक्षण का भाव था, अतः उसके इस शुभ भाव के प्रभाव से किसी देव ने उस वेश्या का नाक काट लिया और उसका मुँह काला कर दिया ।

यह दृश्य देख दूसरी वेश्याएँ घबरा गईं और वसुमती को वैसे ही छोड़कर वहाँ से भाग गईं ।

वेश्याओं को भागते देख लोग भी परस्पर हँसने लगे ।

वह सैनिक उस वसुमती को लेकर अन्य राजपथ पर चला गया ।

वसुमती को बेचने के लिए सैनिक राजमार्ग पर खड़ा हो गया ।

उसी समय धनावह सेठ वहाँ आए और बोले, ``इस कन्या का क्या मूल्य है ?''

सैनिक ने कहा, ``500 सोना मोहरें ।''

वसुमती ने कहा, ``सेठ ! पहले आप मुझे यह बतलाओ कि आपका कुल कौनसा है ? और मुझे क्या काम करना पड़ेगा ?''

सेठ ने कहा, ``मेरे घर पर हमेशा जिनेश्वर देव की पूजा होती है, जीवदया का पालन होता है । नवकार मंत्र का जाप, सात क्षेत्र में धन का दान, अभक्ष्य-भक्षण का त्याग आदि आदि हमारे कुलाचार हैं ।''

वसुमती ने मन में सोचा ``इस सेठ के घर मेरे शील-धर्म का रक्षण हो सकता है ।'' इस प्रकार विचार कर वह सेठ के साथ चलने के लिए तैयार हो गई ।

सेठ ने उस सैनिक को 500 सोना मोहरें दे दीं । वह सेठ वसुमती को लेकर अपने घर की ओर बढ़ा ।

घर आकर सेठ ने अपनी पत्नी मूला को कहा, ``प्रिये ! इस कन्या का अपनी पुत्री समझकर पालन करना । इसे किसी प्रकार का कष्ट न पड़े, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना ।''

धनावह सेठ की यह बात सुनकर और वसुमती के रूप-लावण्य को देखकर मूला को एकदम आघात लगा ।

``अहो ! मेरे पति इस कन्या के साथ अवश्य पाणि-ग्रहण करना चाहते हैं...अभी तो इसे, बेटी ! बेटी ! कहते हैं...परन्तु भविष्य में मुझे छोड़कर इसे अपनी पत्नी बना लेंगे । बिल्ली यदि यह कहे कि मैंने दूध न पीने का अथवा चूहे न पकड़ने का नियम लिया है तो उसकी बात को कौन सत्य मानेगा ? बस, इसी प्रकार अभी ``बेटी ! बेटी ! करते हैं...परन्तु बाद में तो मेरे लिए तकलीफ ही पैदा होगी । अरे ! इस लड़की ने तो मुझे लूट लिया है ।''

``विषलता तो उगते ही काट देनी चाहिए । बस, इसी प्रकार समय रहते मुझे इसको भी निर्मूल करना होगा, अन्यथा बाद में मुझे ही पछताना पड़ेगा ।''

यद्यपि मूला सेठ की आज्ञा का प्रतिकार नहीं कर सकी...परन्तु वसुमती को अपने घर में रखने में वह प्रसन्न नहीं हुई । धीरे-धीरे समय बीतने लगा । वसुमती के शांत स्वभाव के कारण सेठ उसे चंदनबाला के नाम से पुकारने लगे ।

समय के प्रवाह के साथ ही चंदनबाला का रूप व सौंदर्य भी विकसित होने लगा । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही चंद्र की सोलह कलाओं की भाँति उसका सौंदर्य खिल उठा ।

एक दिन की बात है ।

किसी प्रयोजनवश मूला अपने पड़ोसी के घर गई हुई थी...तभी धनावह सेठ का घर में आगमन हुआ । प्रतिदिन मूला ही सेठ का पाद-प्रक्षालन करती थी...परन्तु आज सेठानी घर पर नहीं होने से पुत्रीतुल्य चंदनबाला ही अपने सेठ का पाद-प्रक्षालन करने लगी ।

चंदनबाला कुछ झुक कर सेठ का पाद-प्रक्षालन कर रही थी, तभी उसकी वेणी भूमि पर गिर पड़ी । सेठ ने यह दृश्य देखा । चंदनबाला की वेणी

भूमि पर खराब न हो जाय, इस प्रकार विचार कर सेठ ने चंदना की वह वेणी अपने हाथों में उठा ली और उस वेणी को पुनः चंदना के मस्तक पर बाँध दीया। अचानक उसी समय मूला ने घर में प्रवेश किया। उसने सेठ को चंदना के सिर पर वेणी बाँधते हुए देखा।

बस, यह दृश्य देखते ही मूला मन ही मन आग बबूला हो उठी। ``ओहो ! सेठ मुझ बुढ़िया को हटाकर इस नवयौवना कन्या के साथ पाणि-ग्रहण करना चाहते हैं। अब मैं भी देखती हूँ कि ये किस प्रकार अपनी मनोकामना पूर्ण करते हैं।''

इस प्रकार विचार कर वह मूला चंदनबाला को खत्म करने के लिए योजना बनाने लगी।

दूसरे दिन धनावह सेठ तो दुकान पर चले गए, तभी मूला ने हजाम को बुलाया और चंदनबाला के सिर का मुंडन करवा दिया...उसके बाद उसके हाथ-पैरों में बेड़ी ड़ालकर उसे तलगृह (भोंयरे) में छोड़ दीया और दरवाजे पर ताला लगा दिया।

मूला सोचने लगी, ***''शोक्या स्त्री को मारने में कोई दोष नहीं है। अरे ! विष खाकर मर जाने में तो एक ही बार कष्ट है, परन्तु शोक्या के जीवित रहने पर तो जिंदगी भर रोना ही रोना है, अतः इसको मार डालने में ही लाभ है।''***

चंदनबाला को भोंयरे में डालकर मूला ने घर पर काम करनेवाले दास-दासियों को भी कड़क सूचना कर दी कि यह बात सेठ तक नहीं पहुँचनी चाहिए। अगर किसी ने यह बात सेठ को बतला दी तो उसकी खैर नहीं रहेगी। इस प्रकार सूचना कर मूला अन्यत्र चली गई।

सेठ जब दुकान से घर लौटे तब उन्होंने भोजन के समय चंदना को नहीं देखा। सेठ ने आवाज दी...परन्तु चंदना नहीं आई। सेठ ने सोचा शायद कहीं खेल रही होगी।

इस प्रकार तीन दिन बीत गए।

इधर चंदनबाला आपद्ग्रस्त स्थिति में भी धर्मध्यान में लीन बनकर सोचने लगी, ``अहो ! ***मैंने गत भव में बुरे कर्म किये होंगे-उसी के परिणाम स्वरूप आज मेरी यह दयनीय स्थिति हुई है। पाप कर्म के बिना जीवन में कभी***

कष्ट आते नहीं हैं । मैंने गत भव में हँसते-हँसते पाप किये होंगे । उसी के परिणाम स्वरूप मेरे जीवन में कष्टों की हारमाला चालू रही है ।

बचपन में पिता का वियोग हुआ, चंपानगरी का नाश हुआ...माता की मृत्यु हुई...और एक गुलाम की भाँति मुझे बेचने के लिए बाजार में खड़ी कर दी गई । अहो ! ऐसे संयोगों में भी मेरा इतना पुण्य अवश्य था कि मैं वेश्याओं के जाल में नहीं फँसी...अन्यथा मेरा यह जीवन बर्बाद हो जाता । आपत्तियों की हारमाला के बीच भी मुझे एकांत में प्रभु के ध्यान में मग्न बनने का सुअवसर मिला ।

चंदनबाला ने अरिहंत प्रभु की शरणागति स्वीकार की और वह निर्भय होकर प्रसन्नता पूर्वक अपने जीवन में आए कष्टों को सहन करने लगी ।

तीन दिन बीतने पर भी जब चंदना का पता नहीं लगा तो सेठ ने अत्यंत ही दबाव डालकर दास-दासियों को पूछा, ``चंदना कहाँ गई है ?''

मूला के भय के कारण सभी दास-दासी सेठ को सत्य बात कहने में हिचकिचाहट महसूस कर रहे थे...तभी एक वृद्धा दासी ने सोचा, **``यह बेचारी चंदना ऐसे ही बेमौत मर जाएगी...मैं तो वृद्ध हो चुकी हूँ...अतः मेरी मौत आ जाय तो भी कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है...अतः क्यों न सेठ को सब सत्य बात बतला दूँ ।''** इस प्रकार विचार कर उस दासी ने सेठ को कहा, **``सेठजी ! चंदना तो उस भोंयरे में बंद है ।''** तुरंत ही सेठ ने उस भोंयरे का ताला खोला ।

जैसे ही सेठ ने मुंडित मस्तक वाली और हाथ-पैर में बेड़ियों से ग्रस्त चंदना को देखा...सेठ के आश्चर्य का पार न रहा । ``अहो ! चंदना की यह हालत किसने की ?'' इस प्रकार विचार कर चंदना को उठाकर द्वार के पास ले आये ।

चंदना की ऐसी स्थिति देखकर सेठ के दुःख का पार न रहा ।

तीन दिन से भूखी ऐसी चंदना को भोजन कराने के लिए सेठ भोजन खंड में गए परन्तु वहाँ तो ताला लगा हुआ था । सेठ ने दासी को पूछा, ``क्या कोई भोजन सामग्री तैयार है ?''

दासी ने कहा, ``सेठजी ! अन्य भोजन सामग्री तो कुछ भी तैयार नहीं है...परन्तु उड़द के बाकले तैयार हैं । और बाकले रखने के लिए कोई

थाली भी नहीं है''...अतः सूपड़े के कोने में ही बाकले लेकर वह दासी सेठ के पास आ गई ।

सेठ सोचने लगा, ``अहो ! आज मैं किस स्थिति में फँस गया । पुत्री तुल्य चंदना को खिलाने के लिए अभी मेरे पास कुछ भी नहीं है । खैर, अभी तो इसे उड़द के बाकलों से ही पारणा कराऊँ''...इस प्रकार विचार कर वह सूपड़ा चंदनबाला को दे दिया और चंदना के हाथ पैरों में रही बेड़ियों को तुड़ाने के लिए सेठ लुहार की बुलाने उसके घर चले गए ।

चंदनबाला के अट्ठमतप पूर्ण हो चुका था । उस समय द्वार पर बैठी हुई वह सोचने लगी-``इसी समय कोई अतिथि मेरे द्वार पर पधारें तो उनको आहार दान देकर फिर मैं भोजन करूँ ! क्या मेरे भाग्य से ऐसा सुयोग प्राप्त होगा ?''

चंदनबाला इस प्रकार सोच रही थी, तभी महावीर प्रभु भिक्षा के लिए सामने से आते हुए दिखाई दिए । प्रभु अभिग्रहधारी थे । आज से 175 दिन पूर्व प्रभु ने अभिग्रह धारण किया था कि ``दासीपने को प्राप्त कोई राजपुत्री, जिसका मस्तक मुंडित हो, तीन दिन के उपवास हों, हाथ-पैर में बेड़ियाँ हों, रोती हो, उसका एक पैर दहलीज के बाहर व एक पैर दहलीज के अंदर हो, भिक्षा समय पूरा हो गया हो, ऐसी स्थिति में सूपड़े के कोने में रहे हुए उड़द देगी तो मैं पारणा करूंगा ।''

इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर महावीर प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते थे, परन्तु अभिग्रह की शर्तें पूर्ण नहीं होने पर प्रभु लौट जाते और उपवास कर लेते । इस प्रकार महावीर प्रभु के 175 उपवास पूर्ण हो चुके थे ।

प्रभु की काया को कृश देखकर नगरवासियों को सतत चिंता सता रही थी । वे अन्य-अन्य उपायों द्वारा प्रभु को पारणा कराने के लिए प्रयत्न कर रहे थे...परन्तु अभिग्रह की शर्तें पूर्ण नहीं होने के कारण वे प्रभु का पारणा नहीं करा सके ।

परन्तु आज चंदना का भाग्य सोलह कलाओं से खिल चुका था । यद्यपि एक ओर पापोदय के कारण मूला ने उसकी यह दुर्दशा की थी...परन्तु वह पापोदय भी चंदना के लिए तो वरदान स्वरूप ही सिद्ध हुआ था ।

चंदना सूपड़े के एक कोने में उड़द के बाकले लेकर अतिथि की प्रतीक्षा

कर रही थी । उसी समय प्रभु वहाँ पधारे । अपने अभिग्रह की शर्त के अनुसार चंदना की आँखों मे आँसू न देखकर प्रभु वापस लौटने लगे । प्रभु को वापस लौटते देख चंदना की आँखों में आँसू आ गए ! प्रभु ने अपने अभिग्रह को पूर्ण होते देखा । प्रभु लौट आए । अपने अभिग्रह को पूर्ण जानकर प्रभु ने चंदनबाला के हाथ से पारणा किया । उसी समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई । देवताओं ने दुंदुभि का नाद किया । आकाश में **``अहो दानं ! अहोदानं''** की घोषणा हुई और 12.5 करोड़ सुवर्ण मुद्राओं की वृष्टि हुई ।

प्रभु को दिये गये सुपात्रदान के प्रभाव से चंदनबाला के सारे बंधन टूट गए ।

देवदुंदुभि का नाद सुनकर शतानीक राजा वहाँ पर आया ।

प्रभु के दीर्घकालीन तप का पारणा कराकर चंदनबाला धन्य हो गई ।

प्रभु अन्यत्र विहार कर गए ।

मूला को जब इस बात का पता चला तो उसे अपने पाप का पश्चाताप हुआ । उसने चंदनबाला से क्षमा मांगी ।

चंदनबाला ने कहा, ``माताजी ! आपने तो मुझ पर उपकार किया है । जो हुआ सो लाभ के लिए ही हुआ है ।''

भगवान महावीर प्रभु को जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ...तब प्रभु की धर्मदेशना का श्रवण कर चंदनबाला के दिल में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ...और उसने प्रभु से दीक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना की ।

प्रभु ने उसकी भावना को जानकर दीक्षा प्रदान की ।

महासती चंदनबाला साध्वी रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन हो गई ।

अंत में केवलज्ञान प्राप्तकर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त कर लिया ।

5. शीलवती-मदनरेखा

पालयन्ति सदा शीलं, मुक्त्यादिसुखदायकम् ।
भव्या मदनरेखावत् मनसा वपुषा गिरा ।।

भव्य प्राणी मदनरेखा की तरह मन, वचन और काया से मुक्ति सुख प्रदान करनेवाले शीलधर्म का पालन करते हैं ।

- अनेक संघर्षों से भरी जीवन-गाथा है, महासती-मदनरेखा की !
- महान् पुण्योदय से प्राप्त अद्भुत रूप और लावण्य ही उसके लिए भयंकर आपत्ति का कारण बन गया ।
- उसे पाने के लिए ज्येष्ठ बंधु ने ही लघु बंधु की अर्थात् मदनरेखा के पति की हत्या की ।
- गर्भवती बनी मदनरेखा विधवा बनी !
- गर्भवती स्थिति में उसे जंगल में जाना पड़ा !
- पुत्रजन्म के बाद मणिप्रभ विद्याधरा ने उसका अपहरण किया ।
- इन सब विकट परिस्थितियों के बीच भी अपने प्राणों की परवाह किए बिना उस महासती ने अपने शीलधर्म का रक्षण किया ।
- साध्वी जीवन के स्वीकार के बाद परस्पर युद्ध के लिए तैयार हुए अपने ही पुत्रों को प्रतिबोध देने के लिए मदनरेखा साध्वी युद्धभूमि में भी गई और भाइयों के परस्पर युद्ध के संघर्ष को भी उसने त्याग में पलट दिया ।

5. शीलवती-मदनरेखा

भरत क्षेत्र ।

सुदर्शनपुर नगर ।

मणिरथ राजा और युगबाहु युवराज । दोनों भाई ।

युवराज युगबाहु की पत्नी का नाम था मदनरेखा । मदनरेखा के जीवन में रूप और गुण का अद्‌भुत संमिश्रण था । दुनिया में स्त्रियाँ तो बहुत होती हैं, परन्तु किसी स्त्री में सिर्फ रूप होता है तो गुण नहीं और किसी स्त्री में गुण होते हैं तो रूप नहीं । रूप व गुण का संयोग सभी स्त्रियों में देखने को नहीं मिलता है । मदनरेखा में रूप व गुण का अद्‌भुत संगम था ।

कामातुर पुरुष रूप के पिपासु होते हैं, गुणों के नहीं । आग से आकर्षित बना पतंगा आग में जलकर भस्मीभूत हो जाता है, बस, इसी प्रकार कामातुर व्यक्ति भी रूप में अंधा बनकर अपने जीवन को पतन के गर्त में डुबो देता है ।

मणिरथ सत्ताधीश होते हुए भी रूप का पिपासु था । राजा तो न्यायप्रिय और सदाचारी होना चाहिए...परन्तु मणिरथ के जीवन में सदाचार की बहुत बड़ी कमी थी...और इसी कारण जब एक दिन उसने मदनरेखा के अद्‌भुत रूप सौंदर्य को देखा तो वह उसके रूप का पिपासु बन गया । उसके अन्तर्मन में मदनरेखा को अपनी पत्नी बनाने की इच्छा पैदा हो गई । वह मदनरेखा के रूप पर अत्यंत ही मोहित हो गया । किसी भी उपाय से वह उसे अपनी बनाने के लिए सोचने लगा ।

आखिर उसे लगा, ``यदि मैं मदनरेखा को कीमती भेंटें दूंगा तो धीरे-धीरे वह अवश्य मेरी बन जाएगी ।'' बस, इस प्रकार का मनोमन निर्णय कर उसे जो भी मूल्यवान् वस्तुएँ भेंट में प्राप्त होतीं, वे वस्तुएँ वह मदनरेखा के पास भिजवा देता ।

मदनरेखा उन वस्तुओं को सहर्ष स्वीकार कर लेती । उसके मन में किसी प्रकार का पाप नहीं था । वह तो यही सोचती कि मेरे पिता तुल्य ज्येष्ठ मुझे ये वस्तुएँ भिजवा रहे हैं । परन्तु उस दिन उस महासती मदनरेखा का यह भ्रम टूट गया जिस दिन मणिरथ राजा की दासी अमूल्य भेंट लेकर आई और मदनरेखा को भेंट देती हुई बोली, **``महाराजा मणिरथ आपके अद्‌भुत रूप और लावण्य से अत्यंत ही आकर्षित बने हैं । आपके जैसा अद्‌भुत रूप उन्होंने दुनिया में कहीं नहीं देखा । वे भरपेट आपके रूप की प्रशंसा करते हैं । अब तक तो वे मात्र आपके रूप के ही पिपासु थे, जब कि वे अब तुम्हारा संग चाहते हैं । यदि तुम अपनी सहमति दे दोगी तो वे तुम्हें अपनी पटरानी का पद प्रदान करेंगे । बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?''**

दासी के मुख से इस प्रकार की बातों को सुनकर मदनरेखा एकदम आश्चर्य में डूब गई । वह सोचने लगी, ``अरे ! यह क्या ? वे तो मेरे लिए पिता तुल्य हैं । वे इस प्रकार की गलत इच्छाएँ कैसे कर रहे हैं ? वे तो राजसिंहासन पर आसीन हैं, यदि वे ऐसा पाप करेंगे तो प्रजाजनों की क्या हालत होगी ? **``यथा राजा तथा प्रजा''** जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है । राजा सदाचारी, नेक व ईमानदार होगा तो प्रजा भी वैसी ही होगी...और राजा ही यदि चरित्र-भ्रष्ट हो गया तो प्रजाजनों की भी वो ही हालत होने वाली है ।'' इस प्रकार विचार कर मदनरेखा ने कहा, ``तू जाकर अपने स्वामी (राजा) को कहना कि इस लोक व परलोक, उभयलोक में निंदनीय ऐसा अपकृत्य करने के लिए आप कैसे तैयार हो गए ? क्या आपको लोकनिंदा और परलोक में दुर्गति का भय नहीं है ? परस्त्री की इच्छा करना भयंकर अपराध है । ऐसा कुकर्म करने की इच्छा भी कैसे हुई ? अभी भी आप अपने अशुभ विचारों से पीछे हट जायें...इसी में आपका हित रहा हुआ है ।''

दासी ने जाकर ये सारी बातें राजा को सुना दीं । परन्तु कामांध बना मणिरथ अपने मिथ्या संकल्प से पीछे हटने वाला कहाँ था ? वह सोचने लगा, ``आज नहीं तो कल, मैं अवश्य ही मदनरेखा को अपनी बनाऊंगा ।

पहले प्रयास में भले ही उसने मना कर दिया...परन्तु मुझे अपना प्रयास नहीं छोड़ने का है । आज नहीं तो कल, मुझे अवश्य सफलता मिलेगी ।'' इस प्रकार विचार कर कुछ दिनों के बाद मणिरथ ने दूसरी बार अपनी दासी मदनरेखा के पास भेजी ।

इस बार मदनरेखा ने उस दासी की खूब भर्त्सना की और उसे ठपका देते हुए कहा, ``इस प्रकार के भयंकर पापाचार में सहयोग देकर तू भी अपना अहित ही कर रही है ।''

``सती स्त्री तो हमेशा एक ही पुरुष को अपना वर समझती है...अन्य पुरुष तो उसके लिए भाई तुल्य हैं । पर-स्त्री संग करनेवाला पुरुष नरक में जाता है, उसी प्रकार पर पुरुष का संग करनेवाली स्त्री भी नरकगामी बनती है ।

***``अनंत पाप राशि जब इकट्ठी होती है, तब आत्मा, स्त्री रूप में अवतरित होती है । उस स्त्रीदेह को पाकर भी जो स्त्री शील-धर्म का पालन नहीं करती है, वह तो नरकगामी ही है ।*** ओ दासी ! तू अपने स्वामी को जाकर कह देना-**``विनाशकाले विपरीतबुद्धिः''** की तरह आपको यह गलत विचार आया है । अभी भी यदि आप अपने गलत मार्ग से पीछे नहीं हटेंगे तो याद रखना आप मदनरेखा के जीवित देह को छू भी नहीं सकोगे । इस देह में जब तक प्राण हैं तब तक मदनरेखा आपकी नहीं हो सकती....आप मदनरेखा के मुर्दे को जरूर पा सकते हैं किंतु जीवित मदनरेखा को तो किसी भी हालत में नहीं पा सकोगे ।''

दासी ने जाकर ये सारी बातें राजा को कह दीं ।

मणिरथ ने सोचा, ``जब तक युगबाहु जिंदा है तब तक मदनरेखा मेरी कैसे हो सकेगी ? हाँ ! युगबाहु की हत्या कर दूँ तो आखिर वह मेरी हो जाएगी । फिर तो उसे अनिच्छा से भी मुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा ।'' इस प्रकार विचार कर मणिरथ, युगबाहु की हत्या के लिए षड्यंत्र रचने लगा । मणिरथ युगबाहु के छिद्र देखने लगा । अनेक उपाय सोचने पर भी उसे ऐसा कोई उपाय हाथ नहीं लगा, जिसके द्वारा वह युगबाहु की हत्या कर सके ।

ओहो ! कामांधता कितनी भयंकर वस्तु है । अपने सगे भाई का खून करने के लिए भी मणिरथ तैयार हो गया ? कामांध व्यक्ति के चर्म चक्षु भले ही खुले रहते होंगे...परन्तु उसके विवेक चक्षु पर तो अवश्य ही आवरण आ जाता है । वह अपने भावी हिताहित का विचार नहीं कर पाता है ।

एक दिन रात्रि में मदनरेखा ने स्वप्न में पूर्णचन्द्र देखा । प्रातःकाल होने पर मदनरेखा ने अपने स्वामी को स्वप्न दर्शन की बात की । युगबाहु ने कहा, ``प्रिये ! तू चन्द्र के समान अति उज्ज्वल और सौम्य प्रकृति वाले पुत्ररत्न को जन्म देगी ।''

हर नवोढ़ा कन्या में माता बनने का स्वप्न होता है । पुत्रजन्म की बात सुनकर मदनरेखा प्रसन्न हो गई । उसका हृदय आनंद से भर आया । क्रमशः तीन मास व्यतीत होने पर गर्भ के प्रभाव से उसे उत्तम दोहद पैदा हुए । उसे जिनेश्वर परमात्मा की पूजा-भक्ति, अंगरचना, गुरु-भक्ति एवं धर्म-श्रवण के दोहद उत्पन्न होने लगे । युगबाहु ने उसके सारे दोहद पूर्ण किये ।

एक दिन वसंत ऋतु में युगबाहु अपनी पत्नी मदनरेखा के साथ क्रीड़ा के लिए उद्यान में गया । दिन में विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ कर संध्या समय युगबाहु अपनी पत्नी के साथ वार्ता विनोद करता हुआ अशोक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था ।

इधर मणिरथ युगबाहु की हत्या के लिए अनेक विकल्प कर रहा था...तभी एक विचार उसके दिमाग में कोंध उठा । वह गुप्त रूप से कटार लेकर उद्यान में पहुँच गया ।

उसने सोचा, ``उद्यान में युगबाहु व मदनरेखा सिर्फ दो ही हैं, अतः युगबाहु की हत्या करना मेरे लिए आसान होगा'' ।

बस, इस प्रकार विचार कर मणिरथ उद्यान में युगबाहु की ओर आगे बढ़ा । इधर युगबाहु व मदनरेखा ने जैसे ही मणिरथ को सामने से आते हुआ देखा, वे दोनों अपने वस्त्रों को व्यवस्थित कर अपने आसन पर से खड़े हो गए ।

``बड़े भैय्या ! अचानक कैसे आना हुआ ?'' युगबाहु ने सीधा प्रश्न किया ।

``बंधुवर्य ! मदनरेखा अभी सगर्भा है, ऐसी स्थिति में यहाँ रात्रि-विश्राम के लिए रहना उचित नहीं है । मैं तुम्हें राजमहल ले चलने के लिए ही आया हूँ ।''

दोनों भाइयों के बीच परस्पर वार्तालाप चल रहा था...तभी अवसर देखकर मणिरथ ने कमर में छुपाई कटार बाहर निकाल ली...और एक क्षण की भी देरी किए बिना मणिरथ ने युगबाहु की छाती में वह कटार भोंक दी । उसी समय युगबाहु धरती पर ढल पड़ा । उसके सीने में से खून की धारा बहने लगी । अपने पाप का भंडा फूट न जाय, इस प्रकार विचार कर मणिरथ उद्यान के दूसरे भाग में चला गया ।

ओहो ! कामांधता कितनी भयंकर वस्तु है ? जिसके अंत:पुर में स्त्रियों की कोई कमी नहीं थी, फिर भी भाई की पत्नी के रूप में पागल बना हुआ मणिरथ अपने सगे भाई का खून करने के लिए तैयार हो गया ।

पापी व्यक्ति पाप-कार्य में सफलता मिलने पर खुश होता है, परन्तु उसे पता नहीं है कि उसका यह पाप उसी को भस्मसात् कर देगा ।

मदनरेखा को अपनी बनाने के लिए अपने सगे भाई की हत्या करने वाला मणिरथ एक वृक्ष के नीचे आराम के लिहाज से सो गया ।...परन्तु उसी समय किसी विषैले साँप ने उसे डस लिया और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई ।

मणिरथ को मदनरेखा नहीं मिली...परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए किए गए पाप के फलस्वरूप उसे मौत की भेंट अवश्य मिल गई ।

2. सच्ची धर्मपत्नी

पति को धर्ममार्ग में स्थिर करनेवाली पत्नी ही वास्तव में धर्मपत्नी कहलाती है । आर्य देश में पति-पत्नी का संबंध केवल शारीरिक संबंध के लिए नहीं, बल्कि वे एक-दूसरे को धर्म-मार्ग में सहायक बन सकें...वे एक-दूसरे के कल्याणमित्र बन सकें...यह मुख्य उद्देश्य लग्न-संबंध में समाया होता है ।

मणिरथ ने युगबाहु की छाती में कटार भोंक दी थी । मर्मस्थल पर घाव लगने से युगबाहु की वेदना का कोई पार नहीं था । उसे मणिरथ का ख्याल आ गया । मणिरथ के इस कुकृत्य को जानते ही युगबाहु की आँखें क्रोध से लाल हो गईं । यद्यपि वह मणिरथ का प्रतिकार करने में सक्षम नहीं था, फिर भी उसके अन्तर्मन में क्रोध की ज्वालाएँ भड़क उठी थीं ।

अपने स्वामी की मरणासन्न अवस्था देखकर मदनरेखा को अपने कर्तव्य का भान हो आया । वह सोचने लगी, **``स्वामी की मृत्यु की पलें अत्यंत ही निकट हैं...ऐसी परिस्थिति में यदि क्रोधावस्था में ही अपने प्राण छोड़ देंगे...तो उनकी दुर्गति हो सकती है...अतः उन्हें समाधि में स्थिर करना मेरा परम कर्तव्य है ।''**

इस प्रकार विचार कर अपने स्वार्थ को पूर्णतया गौणकर एक कल्याणमित्र की अदा से मदनरेखा अपने स्वामी को समझाती हुई बोली, ``हे स्वामिन् ! आप क्रोध का त्याग कर दें । मृत्यु की अंतिम पलें नजदीक आ रही हैं । अंतिम समय में जैसे विचार होते हैं, उसी के अनुसार आत्मा की सद्गति-दुर्गति निश्चित होती है, अतः आप आत्महित के लिए क्रोध का त्याग कर दें ।

सचमुच, मणिरथ ने आपकी हत्या नहीं की है, मणिरथ तो निमित्त मात्र है। हत्या तो अपने ही पाप कर्म के उदय का फल है। मृत्यु की घड़ियाँ तो परीक्षा की घड़ियाँ हैं। इस समय आप अपने मन को समाधि भाव में स्थिर कर दें। मणिरथ तो बेचारा है...अज्ञानी है, उसे यह पता नहीं है कि युगबाहु की हत्या करने पर भी मदनरेखा कभी भी उसकी होने वाली नहीं है।

स्वामिन् !

इस भव में अथवा पूर्व भव में जीव ने जैसे कर्म किए होते हैं, उसी के अनुसार उसको सजा भुगतनी पड़ती है, दूसरे जीव तो सिर्फ निमित्त मात्र होते हैं। मुख्य दोष तो अपने ही कर्मों का होता है।

इस संसार में किसी भी व्यक्ति या वस्तु पर मोह करने जैसा नहीं है, वह मोह तो आत्मा का अनंत संसार बढ़ाने वाला है। पुत्र-पत्नी आदि चेतन पदार्थ व सोना-चांदी-हीरा-मोती माणेक आदि अचेतन पदार्थों में मोहित बनकर आत्मा ने अपने आपको भयंकर नुकसान ही पहुँचाया है।

हे स्वामिन् ! परलोक में भी जो अपने साथ चल सके, ऐसा धर्म-पाथेय आप एकत्र करें। बाकी इस दुनिया की चिंता आप छोड़ दें।

सर्वप्रथम आप अपने समस्त दुष्कृतों की गर्हा करें। जान बूझकर या अनजान में मन, वचन और काया से जो भी पाप हो गए हैं, उनके लिए आप **''मिच्छा मि दुक्कडम्''** प्रदान करें।

महासती मदनरेखा के आत्महितकर इन शब्दों का युगबाहु पर जादुई असर हुआ। युगबाहु का आवेश शांत हो गया...अपनी अंतिम स्थिति जानकर वह भी अंतिम साधना के लिए तैयार हो गया।

युगबाहु ने मणिरथ के प्रति रही वैर भावना व बदले की भावना को अपने मन से दूर कर दिया। वह शांत चित्त से सर्व जीवों के साथ क्षमायाचना करने के लिए तैयार हो गया।

मदनरेखा ने कहा, **''इस जगत् में अपना कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है। शत्रु और मित्र तो अपना ही कर्म है। इस जगत् में अपनी आत्मा को दुःख देने वाला कोई नहीं है। अपने ही किये हुए कर्मों की सजा हमें भुगतनी पड़ती है। जब इस आत्मा ने हँसते-हँसते पाप कर्म बाँधे हैं तो उन कर्मों की सजा भी उसे हँसते-हँसते स्वीकार करनी चाहिए।**

2-3. महासती चंदनबाला धारिणी, पृष्ठ नं. 27

महासती चंदनबाळा की सज्झाय

वीर प्रभुजी पधारो नाथ, वीर प्रभुजी पधारो,
विनंती मुज अवधारो नाथ, वीर प्रभुजी पधारो,
चंदनबाळा सती सुकुमाळा, बोले वचन रसाला,
हाथ अने पगमां जड दीया ताळा, सांभळो दीन दयाळा. नाथ वीर०१
कठण छे मुज कर्मनी कहाणी, सुणो प्रभुजी मुज वाणी,
राजकुंवरी हुं चौटे वेचाणी, दुःख तणी नथी खामी. नाथ वीर०२
तात ज मारो बंधन पडीयो, माता मरण ज पामी,
मस्तकनी वेणी कतराणी, भोगवी में दुःख खाणी. नाथ वीर०३
मोंघी हती हुं राज कुटुंबमां, आजे हुं त्रण उपवासी,
सुपडाने खूणे अडदना बाकुला, शुं कहुं दुःखनी राशि. नाथ वीर०४
श्रावण भादरवा मासनी पेरे, वरसे आंसुडांनी धारा,
गदगद कंठे चंदनबाळा, बोले वचन करुणा. नाथ वीर०५
दुःख ए सघळुं भुलुं पूर्वनुं, आपना दर्शन थाता,
दुःख ए सघळुं हैये ज आवे, प्रभु तुम पाछा जाता. नाथ वीर०६
चंदनबाळानी अरज सुणीने, नीर नयनमां निहाळे,
बाकुळा लइ वीर प्रभुजी पधारे, दया करी दीन दयाळे. नाथ वीर०७
सोवन केरी त्यां थइ वृष्टि, साडी बार कोडी सारी,
पंच दिव्य तत्काले ज प्रगट्या, बंधन सर्व विदारी. नाथ वीर०८
संजम लइने काज सुधार्या, चंदनबाळा कुमारी,
वीर प्रभुनी शिष्या पहेली, पंचमहाव्रत धारी नाथ वीर०९
कर्म खपावी मुक्ति सीधाव्या, धन्य सती शिरदार,
विनयविजय कहे भाव धरीने, वंदु हुं वारंवार. नाथ वीर०१०

इस संसार में अपना कोई दुश्मन नहीं है फिर भी कर्मसंयोग से कोई दुश्मन बने हों तो उन सबके साथ क्षमायाचना कर लो ।

मित्र हो या दुश्मन, स्वजन हो या अरिजन ! उन सब के साथ क्षमा याचना करो । संसार में भटकती हुई अपनी आत्मा ने अन्य जीवों को अनेक बार पीड़ा पहुँचाई है । पशु के भव में अन्य पशुओं को पीड़ा पहुँचाई हो, मनुष्य के भव में अन्य मनुष्य-तिर्यंचों को पीड़ा पहुँचाई हो, नारक के भव में अन्य नारक जीवों को कष्ट दिया हो और देव भव में अन्य देवों से ईर्ष्या आदि भाव रखा हो तो उन सब के साथ क्षमायाचना कर लो ।

हे स्वामिन् ! मनुष्य भव का आयुष्य तो जल-तरंग की भाँति अत्यंत ही चंचल है । यौवन का सौंदर्य भी अल्पकालीन है, लक्ष्मी पवन की भाँति अस्थिर है, रूप का सौंदर्य भी अल्पजीवी है तथा प्रिय का समागम भी सदैव रहने वाला नहीं है । अतः इन सब की प्राप्ति में खुश होने जैसा नहीं है ।

जन्म, जरा और मृत्यु, आधि-व्याधि और उपाधि, रोग-शोक और भय से ग्रस्त प्राणियों के लिए जिन धर्म को छोड़कर अन्य कोई शरणभूत नहीं है । जगत् का एक भी भौतिक पदार्थ आत्मा को शरण देने में समर्थ नहीं है । जो पदार्थ स्वयं नश्वर हों, वे अन्य का रक्षण करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? एक मात्र जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बताया हुआ जिनधर्म ही आत्मा को शरण देने में सक्षम है ।

इस संसार में जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जाने वाला है । अपने शुभ-अशुभ कर्मों की सजा भी जीवात्मा अकेली ही सहन करती है, अतः जगत् के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व भाव धारण करने का कोई अर्थ नहीं है । वे बाह्य-पदार्थ आत्मा को सुख देने में कतई समर्थ नहीं हैं ।

आप अपनी आत्मा को एकत्व भाव से भावित करते हुए समझाएँ कि **''मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ ।''** इस प्रकार बारबार अपनी आत्मा को अनुशासित करें ।

मदनरेखा के उपदेश को सुनकर युगबाहु शुभ ध्यान में स्थिर बना और अत्यंत ही समाधि पूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर पाँचवें ब्रह्मदेव लोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ ।

3. शीलरक्षा !!

युगबाहु को समाधि प्रदान कर मदनरेखा ने धर्मपत्नी व कल्याणमित्र का कर्तव्य अदा किया...परन्तु अब पुनः उसके सामने अपने शीलरक्षण की बड़ी समस्या खड़ी थी। उसने सोचा, ``यदि मैं राजमहल में जाऊंगी तो वह कामी मणिरथ मेरे शीलभंग के लिए अनुचित कदम उठा सकता है, अतः क्यों न राजमहल का त्याग कर जंगल की ओर ही चली जाऊँ ?'' बस, इस प्रकार विचार कर घोर अंधेरी रात्रि में ही भयंकर जंगल की ओर उसने अपने कदम बढ़ा दिये। वह द्रुत गति से जंगल की ओर आगे बढ़ने लगी।

महासती स्त्री के मन, प्राणों से भी शील अधिक प्यारा होता है। अपने शीलरक्षण के लिए मदनरेखा ने अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की।

यद्यपि जिस समय उसने जंगल की ओर कदम उठाये थे उस समय वह सगर्भा थी। एक ओर प्रसूति का काल निकट आ रहा था। परन्तु उसके मन शील की अत्यधिक कीमत थी।

आज की नारी क्षणिक सुख व स्वर्ण के चंद टुकड़ों के लोभ में फँसकर अपने शील को लुटाने के लिए तैयार हो जाती है। वर्तमान नारी-समाज की यह कैसी दुर्दशा है ? शील को कीमती समझने वाली मदनरेखा ने अपने समस्त सुखों को न्योछावर कर दिया था। सुकोमल सुख-शय्या, सेवा में तत्पर दास-दासी, सानुकूल-भोजन-वस्त्र-मकान आदि आदि सभी सुखों को वह लात मारने के लिए तैयार हो गई थी।

जंगल के फल-फूल खाकर व बहते झरनों का मीठा जल पीकर भयंकर जंगल में मदनरेखा ने सात दिन व्यतीत किये। आठवें दिन उसने चन्द्र के समान अत्यंत सौम्य मुखाकृतिवाले पुत्ररत्न को जन्म दिया। **``एक से दो भले''** की कहावत के अनुसार पुत्र को प्राप्त कर मदनरेखा अत्यंत प्रसन्न हो गई। उसका हृदय प्रसन्नता से भर आया। परन्तु उसे कहाँ पता था कि कर्मसत्ता उसपर भयंकर जुल्म करने के लिए तैयार बैठी है।

कंबल में पुत्र को लपेटकर मदनरेखा अपनी शरीरशुद्धि के लिए नदीतट पर जा पहुँची...उसने देह-स्नान के लिए नदी में प्रवेश किया...और उसके दुर्भाग्य से जलहस्ती ने उसे अपनी सूंड में पकड़कर आकाश में उछाल दिया। उसी समय एक विद्याधर आकाश मार्ग से नंदीश्वर द्वीप की ओर

जा रहा था...उस विद्याधर ने आकाश से गिरती हुई मदनरेखा को ग्रहण कर लिया और उसे अपने विमान में बिठा ली ।

मदनरेखा के अद्‌भुत रूप-लावण्य और देह सौंदर्य को देखकर वह विद्याधर कामातुर हो गया ।

एक आपत्ति के टलने के साथ ही आई हुई दूसरी आपत्ति को जानकर मदनरेखा विह्वल हो गई । पुत्र-वियोग की वेदना से जोर से आक्रंद करने लगी ।

तभी आश्वासन देते हुए उस विद्याधर ने मदनरेखा को रुदन का कारण पूछा ।

मदनरेखा ने कहा, ``कुछ समय पूर्व मैंने एक शिशु को जन्म दिया है, वह कदली वृक्ष के नीचे सोया हुआ है । वह मेरे वियोग को कैसे सहन कर पाएगा...अतः तुम मुझे मेरे पुत्र के पास ले चलो ।''

``सुंदरी ! पहले तुम मुझे पति के रूप में स्वीकार कर लो...फिर तुम जैसा चाहोगी, वैसा मैं करने के लिए तैयार हो जाऊंगा ।''

मदनरेखा ने सोचा, **``अहो ! कर्म की गति न्यारी है । मणिरथ के जाल से बचने के लिए मैं जंगल की ओर चल पड़ी...तो यहाँ भी यह आपत्ति आ खड़ी हुई...अब तो मुझे किसी युक्ति से अपने शील का रक्षण करना होगा ।''**

इस प्रकार विचार कर मदनरेखा ने कहा, ``आप कौन हैं ? और कहाँ जा रहे हैं ?''

विद्याधर ने कहा, ``मैं वैताढ्य पर्वत के रत्नावह नगर के महाराजा मणिचूड़ का पुत्र मणिप्रभ हूँ । वैराग्यवासित बने मेरे पिता ने मुझे राजगद्दी पर स्थापित कर चारण मुनि के पास भागवती दीक्षा स्वीकार की है । वे नंदीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए गये हुए हैं...मैं भी पिता मुनि को वंदन करने के लिए नंदीश्वर द्वीप जा रहा था...तभी बीच मार्ग में तुमको आकाश से गिरते हुए देखा...मैं तुम्हारे रूप-सौंदर्य पर मोहित हूँ...तुम मुझे पति के रूप में स्वीकार कर लो । मैं तुम्हें पटरानी का पद प्रदान करूंगा ।''

मदनरेखा ने सोचा, ``मणिप्रभ का कुल तो उत्तम है...इसके पिता ने दीक्षा अंगीकार की है, अतः पुनः योग्य आलंबन मिले तो वह सन्मार्ग में स्थिर हो सकता है ।''

इस प्रकार विचार कर मदनरेखा ने कहा, ``मैं अपने पुत्र के बिना नहीं रह सकूंगी, मेरे पुत्र को तुम यहाँ ले आओ ।''

मणिप्रभ ने कहा, ``प्रज्ञप्ति विद्या के बल से मैंने तुम्हारे पुत्र की स्थिति को देखा है। मिथिलापुरी के महाराजा पद्मरथ विपरीत शिक्षित घोड़े पर बैठने के कारण दूर-सुदूर जंगल में आ गए थे। अचानक बालक के रुदन के स्वर को सुनकर वे उस बालक के पास आए। जंगल में एकाकी बालक को देखकर वे आश्चर्य में डूब गए। वे स्वयं निःसंतान थे...अतः नवजात शिशु को देखकर खुश हो गए...उन्होंने उस बालक को उठा लिया। उस बालक को लेकर वे अपने राजमहल में गये हैं। उन्होंने वह बालक अपनी पत्नी पुष्पमाला को सौंप दिया है। वह पुष्पमाला पुत्र को पाकर खुश हो गई है। वह बालक राजमहल में सुखी है। उसकी तुम लेश भी चिंता मत करो।''

मणिप्रभ की यह बात सुनकर कालक्षेप करने के लिए मदनरेखा ने कहा, ``पहले तुम मुझे नंदीश्वर द्वीप की यात्रा और पिता मुनि के दर्शन करा दो...उसके बाद तुम्हारी प्रार्थना पर विचार करूंगी।''

मदनरेखा के इन आश्वासन भरे शब्दों को सुनकर वह विद्याधर खुश हो गया। उसे अपनी मनोकामना पूर्ण होती नजर आने लगी।

विद्याधर ने अपना विमान नंदीश्वर द्वीप की ओर आगे बढ़ा दिया। कुछ समय में वह विमान नंदीश्वर द्वीप पहुँच गया। मणिप्रभ व मदनरेखा दोनों विमान में से बाहर आए।

मदनरेखा ने अंजन पर्वत पर आए हुए चार जिन मंदिर, दधिमुख पर्वत पर रहे सोलह और रतिकर पर्वत पर रहे बत्तीस जिन मंदिरों के दर्शन किए। ये मंदिर 100 योजन लंबे, 50 योजन चौड़े और 72 योजन ऊँचे थे। उन शाश्वत जिनमंदिरों में ऋषभ, चंद्रानन, वारिषेण और वर्धमान स्वामी की शाश्वत जिन प्रतिमाएँ थीं। मदनरेखा ने अत्यंत ही भाव पूर्वक उन प्रतिमाओं के दर्शन किये।

मंदिर दर्शन के बाद वे दोनों मणिचूड़ मुनि के पास पहुँचे। वे मुनि उस समय धर्मदेशना दे रहे थे। वे दोनों धर्मदेशना सुनने के लिए बैठ गए।

चार ज्ञान के धारक मणिचूड़ मुनि ने अपने ज्ञान के बल से कुकर्म में प्रवृत्त अपने पुत्र मणिप्रभ की मनःस्थिति को जान लिया।

अपने पुत्र को अकार्य से रोकने के लिए मणिचूड़ मुनि ने अपनी वैराग्य सभर धर्मदेशना में कहा, **``हे भव्यात्माओं ! यदि तुम अपना कल्याण चाहते**

हो और आत्मा को दुर्गतिपात से बचाना चाहते हो तो परस्त्री गमन के पाप से अपने आपको बचाना चाहिए ।

परस्त्री गमन की इच्छा करने से पुरुष नरक में जाता है और अन्य पुरुष का सेवन करने से स्त्री मरकर नरक में जाती है ।

भोग में क्षण भर का सुख है और उसके परिणाम स्वरूप जीवात्मा को परलोक में भयंकर यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

बिल्ली दूध को देखती है किंतु डंडे को नहीं । पक्षी अनाज को देखते हैं किंतु पत्थर को नहीं । बस, इसी प्रकार जीवात्मा को भोग में सुख नजर आता है, परन्तु उसका कटु परिणाम नजर नहीं आता है ।''

परस्त्रीगमन के पाप के कटु परिणाम को जानकर मणिप्रभ का हृदय एकदम काँप उठा...उसी समय उसे अपनी भूल समझ में आई...वह अपने स्थान से खड़ा हुआ । उसने मदनरेखा के पास क्षमायाचना की और बोला, ``हे मदनरेखा ! आज से तू मेरे लिए बहिन तुल्य है । मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ ?''

मणिप्रभ के हृदय परिवर्तन को जानकर मदनरेखा खुश हो गई । उसने सोचा, ``चलो, शील पर आया एक और संकट दूर हो गया ।''

मदनरेखा ने कहा, ``इस शाश्वत तीर्थधाम की यात्रा कराकर तुमने मुझ पर महान् उपकार किया है...अतः तुम मेरे परम बंधु हो ।''

मदनरेखा ने मणिचूड़ मुनि को अपने पुत्र की कुशलता पूछी ।

वे मुनि मदनरेखा के पुत्र की खुशहाली की बात कर रहे थे उसी समय आकाश मार्ग से एक देदीप्यमान विमान का अवतरण हुआ...चंद क्षणों में ही उस विमान में से अत्यंत तेजस्वी देव बाहर आया । बाहर आकर उस देव ने महासती मदनरेखा की तीन प्रदक्षिणा दी और मदनरेखा के चरणों में भाव पूर्वक नमस्कार किया । तत्पश्चात् उसने मुनि के चरणों में प्रणाम किया । प्रणाम कर वह देव मुनि की धर्मदेशना सुनने के लिए बैठ गया ।

गुरु को वंदन करने के पूर्व मदनरेखा को किए गए प्रणाम को देखकर मणिप्रभ को अत्यंत ही आश्चर्य हुआ ।

उसने सोचा, ``ये मुनिवर तो संसार के त्यागी और चार ज्ञान के धारक हैं, जबकि यह मदनरेखा तो संसारी है....एक त्यागी मुनिवर को

छोड़कर एक संसारी स्त्री को पहले नमस्कार करना कहाँ तक उचित है ? क्या देवता गण आचार-मर्यादा नहीं जानते हैं ? फिर इस देव ने यह भूल क्यों की होगी ?'' इस प्रकार विचार कर मणिप्रभ ने परम ज्ञानी अपने पिता मुनि को प्रश्न करते हुए पूछा, ``प्रभो ! इस देव ने यह गलत व्यवहार क्यों किया ?''

मुनिवर ने कहा, ***'' मुझ से पहले मदनरेखा को प्रणाम कर इस देव ने कोई भूल नहीं की है । इसका यह व्यवहार उचित ही है । यह देव पूर्वभव में इस मदनरेखा का पति युगबाहु था । अपने सगे भाई ने जब युगबाहु पर निर्दयता से प्रहार किया, तब इस मदनरेखा ने ही उसे धर्मोपदेश द्वारा समाधि प्रदान की थी...और इसी के फलस्वरूप वह युगबाहु मरकर देव बना है ।***

''जो जिसको सद्धर्म में स्थापित करता है, वह गृहस्थ हो या साधु, उसका धर्मगुरु कहलाता है । जिसने सम्यक्त्व का दान किया है, वास्तव में उसने मोक्षसुख प्रदान किया है । समकितदाता का उपकार अपरंपार है । अन्य किसी उपकार से उसकी तुलना नहीं हो सकती है ।

''समकितदाता के उपकार का बदला अनेक भवों तक सेवा-शुश्रूषा करने पर भी चुका नहीं सकते हैं । समकितदाता का उपकार दुष्प्रतिकार कहा गया है ।''

मुनि भगवंत के मुख से जिनधर्म के इस अद्‌भुत रहस्य को सुनकर मणिप्रभ विद्याधर की शंका का समाधान हो गया । मणिप्रभ ने उस नूतन देव से अपनी भूल की क्षमायाचना की ।

4. दीक्षा स्वीकार

उत्तम पुरुष अपने उपकारी के उपकार को चुकाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है ।

उस नूतनदेव ने मदनरेखा को कहा, ``तुम अपनी मनोकामना व्यक्त करो, मैं उसे पूर्ण करने की कोशिश करूंगा ।''

मदनरेखा ने कहा, ***''हे देव ! वास्तविक दृष्टि से तो तुम मेरा प्रिय करने में समर्थ नहीं हो, क्योंकि तुम अविरत हो...जबकि मुझे तो जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, आधि-व्याधि व उपाधि से रहित एक मात्र मोक्षसुख ही पसंद है । वह मोक्षसुख प्रदान करने की तुम्हारे में ताकत नहीं है । फिर भी आपने पूछा है तो ''मुझे शीघ्र मिथिला नगरी में ले चलो...जहाँ अपने पुत्र के मुखदर्शन कर मैं भी चारित्र धर्म स्वीकार करूँ ।''***

मदनरेखा ने मिथिला ले जाने के लिए जैसे ही अपनी भावना व्यक्त की...वह देव तत्क्षण तैयार हो गया। कुछ ही समय में वह देव मदनरेखा को मिथिला नगरी में ले आया।

मिथिला नगरी में मल्लिनाथ प्रभु के जन्म, दीक्षा व केवलज्ञान कल्याणक हुए हैं। ऐसी पवित्र नगरी में रहे जिनमंदिरों के दर्शन कर मदनरेखा और युगबाहु देव साध्वीजी भगवंत के पास गए। उन्होंने साध्वीजी भगवंत को प्रणाम किया।

साध्वीजी भगवंत ने धर्मोपदेश देते हुए कहा, **``हे पुण्यात्मन्! मनुष्य भव को प्राप्तकर क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। आत्महित की साधना सिर्फ मानव भव में ही संभव है। उस साधना के लिए अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है, अतः प्रमाद से सदैव दूर रहना चाहिए। पुत्र, पत्नी व शरीर आदि के निमित्त जीवात्मा इस संसार में अनेक प्रकार के पाप करती है...और उन पापों की सजा उसे अकेले ही नरक में सहन करनी पड़ती है। मोह में अंध बनी आत्मा प्रयत्नपूर्वक पाप का आचरण करती है और अवसर हाथ लगने पर भी धर्म नहीं करती है। मनुष्य लोक में यह कितना आश्चर्य है कि अमृत समान धर्म की साधना सुलभ होने पर भी यह जीव विष के कटोरे समान पाप का आचरण करता है।''**

साध्वीजी भगवंत की इस धर्मदेशना की समाप्ति के बाद उस देव ने मदनरेखा को कहा, ``चलो, अब राजभवन में चलते हैं। वहाँ जाकर अपने पुत्र का मुखदर्शन कर लो।''

मदनरेखा ने कहा, ***``अब मुझे पुत्र के मुखदर्शन का भी मोह नहीं रहा है। पुत्र का मोह तो संसार को बढ़ाने वाला है। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने सभी संसारी जीवों के साथ सभी प्रकार के पुत्र, माता-पिता आदि के संबंध किये हैं। इस अनंत संसार में यह मेरा अनंत बार पुत्र हुआ है और मैं अनंत बार माता बनी हूँ। भूतकाल में हुए उन संबंधों को आज कौन याद करता है ?***

``यह संसार वास्तव में स्वप्न तुल्य ही है। ``मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ?'' इस प्रकार विचार किया जाय तो संसार का मोह तत्काल क्षीण हो सकता है।

``अब मुझे इस संसार में रहने की इच्छा नहीं है। अब तो इन

साध्वीजी भगवंत के चरण ही मेरे लिए शरणभूत हों ।'' इस प्रकार देव के सामने अपनी मनोकामना व्यक्त कर महासती मदनरेखा ने साध्वीजी भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । उसके बाद वह देव भी अपने देवलोक में चला गया ।

5. युद्ध विराम

मदनरेखा के नवजात शिशु को पद्मरथ राजा, पुत्र तुल्य मानकर उसका पालन पोषण करने लगा । नव-जात शिशु के पुण्य प्रभाव से सभी दुश्मन राजा भी पद्मरथ राजा के चरणों में नत मस्तक होने लगे...अतः पद्मरथ राजा ने उस बालक का नाम **नमिकुमार** रखा । धीरे धीरे नमिकुमार बड़ा होने लगा । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने तक तो नमिकुमार शस्त्र व शास्त्र दोनों कलाओं में निपुण बन गया । अनेक सुंदर राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ ।

पद्मरथ राजा ने अपने पुत्र नमिकुमार को राज्य ग्रहण करने के योग्य जानकर एक शुभ दिन बड़े ही धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक कर दिया । राज्य के कार्यभार से सर्वथा मुक्त बने पद्मरथ राजा ने ज्ञानसागरसूरि आचार्य भगवंत के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली । क्रमशः सुंदर चारित्र धर्म का पालन करते हुए पद्मरथ मुनि मोक्ष में चले गए ।

नमिराजा के चरणों में अनेक राजा नतमस्तक होने लगे । नमिराजा इन्द्र की भाँति शोभने लगा ।

इधर युगबाहु की हत्या व मणिरथ की सर्पदंश से मृत्यु को जानकर दूसरे दिन उन दोनों बंधुओं की श्मशान यात्रा निकली । मणिरथ के कुकृत्य को जानकर लोग उसको धिक्कारने लगे और युगबाहु की अकाल मृत्यु को जानकर उसके सद्गुणों को याद करते हुए लोग करुण रुदन करने लगे ।

दोनों भाइयों की अकाल मृत्यु के कारण सत्ता का सिंहासन खाली हो चुका था । प्रजाजनों ने युगबाहु के पुत्र चंद्रयश का राज्याभिषेक करने का निर्णय लिया । चंद्रयश की इच्छा नहीं होने पर भी उसे अनिच्छा से राज्य स्वीकार करना पड़ा ।

राज्य ग्रहण करने के बाद चंद्रयश, न्याय व नीतिपूर्वक प्रजाजनों का पालन करने लगा ।

एक दिन की बात है ।

नमिराजा का श्वेत पट्ट हाथी आलानस्तंभ को उखाड़ कर विंध्या अटवी में चला गया । उसी समय चंद्रयश राजा विंध्या अटवी में घूमने के लिए गया हुआ था । उस हाथी को देखकर वह खुश हो गया । उसने उस हाथी को पकड़ लिया और उसे अपने नगर में ले आया ।

गुप्तचरों के द्वारा जैसे ही नमिराजा को इस बात का पता चला कि उसका पट्ट हस्ती सुदर्शनपुर के राजा चंद्रयश ने पकड़ लिया है, तो तुरंत ही नमि राजा ने अपना दूत भेजा ।

उस दूत ने जाकर राजा को कहा, **``हे राजन् । हमारे नमिराजा का पट्ट हस्ती आपके राज्य में आया हुआ है, उसे आप लौटा दें ।''**

दूत की यह बात सुनकर चंद्रयश ने कहा, ``मैं उस हाथी को देने वाला नहीं हूँ । क्या तुम्हारा स्वामी नीतिशास्त्र को नहीं जानता है ? नीति में लिखा है-**``लक्ष्मी न तो कुलक्रम से आई हुई होती है और न ही पत्र में लिखे अनुसार राज्य दिया जाता है । वास्तव में तलवार के आधार पर ही सत्ता हासिल की जाती है । यह भूमि तो वीरभोग्या है ।''**

दूत ने कहा, ``यदि आप इस प्रकार हाथी नहीं लौटाओगे तो मेरा स्वामी युद्ध में आपको मारकर भी वह हाथी लिये बिना नहीं रहेगा ।''

दूत की यह बात सुनकर कोपायमान बने राजा ने तिरस्कार पूर्वक उस दूत को राजसभा से बाहर निकाल दिया ।

उस दूत ने जाकर नमि राजा के कान फूंके और उसे लड़ने के लिए तैयार कर दिया । नमिराजा अपने विशाल सैन्य के साथ सुदर्शनपुर की ओर चल पड़ा ।

इधर विशाल सैन्य के साथ नमिराजा के आगमन के समाचार को सुनकर चंद्रयश भी युद्धभूमि में जाने के लिए तैयार हो गया...परन्तु उसके मंत्रियों ने उसे समझाते हुए कहा, नमिराजा का सैन्य विशाल है, युद्धभूमि में जाकर उसके साथ युद्ध करने में तो अपनी हार निश्चित है, अतः हमें बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है । नगर के द्वारों को बंद कर दिया जाय और भीतर रहकर ही हम शत्रु सैन्य को परास्त करने की कोशिश करें ।

राजा को मंत्री की सलाह पसंद आ गई । राजा ने नगर के सभी द्वार बंद करा दिए । इधर नमिराजा ने अपने विराट सैन्य द्वारा नगर को चारों ओर से घेर लिया ।

अपने दोनों पुत्रों व दोनों सगे भाइयों के बीच हो रहे इस महायुद्ध के समाचार मदनरेखा-सुव्रता साध्वी को मिले । वे सोचने लगीं, **``अहो ! इस असार संसार को धिक्कार हो ! दो सगे भाई युद्ध करने के लिए तैयार हो गए ? इस प्रकार युद्धभूमि में लाखों लोगों की हत्या कर वे नरक में चले जाएंगे । मुझे किसी भी उपाय से उस युद्ध को रोकना चाहिए ।''** इस प्रकार विचार कर अपनी गुरुणी की अनुमति प्राप्त कर मदनरेखा सुव्रता साध्वी अपने परिवार के साथ युद्धभूमि की ओर चल पड़ी ।

युद्धभूमि में साध्वीजी भगवंत के आगमन को देखकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ । वे साध्वीजी सर्वप्रथम नमि राजा के पास पहुँची । नमिराजा ने उन्हें प्रणाम किया । तत्पश्चात् सुव्रता साध्वी ने धर्मोपदेश देते हुए कहा, **``इस अनादि-अनंत संसार में चार वस्तुओं की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ है । मानव भव, धर्म-श्रवण, धर्मश्रद्धा व धर्म का आचरण महान् पुण्योदय से ही प्राप्त होता है । अतः क्षणिक वस्तु के पीछे युद्ध कर इस अमूल्य जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए ।''**

पूज्य साध्वीजी ने कहा, ``हे राजन् ! इस संसार में राज्य से जीव दुःखदायी ऐसी नरक गति में जाता है । अपने ज्येष्ठ बंधु के साथ युद्ध करना उचित नहीं है ।''

नमिराजा ने कहा, ``चंद्रयश मेरा ज्येष्ठ बंधु कैसे ?''

मदनरेखा ने नमिराजा के जन्म का सारा वृत्तान्त बताया ।

साध्वीजी भगवंत के मुख से चंद्रयश से अपने संबंध को जानकर नमिराजा विचार में पड़ गया । उसने अपनी माता पुष्पमाला को पूछा, ``माँ ! सच बता, मैं किसका पुत्र हूँ ?''

पुष्पमाला ने कहा, ``मैं तुम्हारी जन्मदात्री माता नहीं हूँ, मैं तो सिर्फ तुम्हारी पालक माता हूँ ।'' पुष्पमाला ने नमि के विश्वास के लिए युगबाहु के नाम से अंकित मुद्रा व कंबलरत्न बतलाया ।

इतनी जानकारी मिलने पर भी नमि राजा युद्ध भूमि से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ ।

तब मदनरेखा अपने दूसरे पुत्र चंद्रयश के पास पहुँची ।

चंद्रयश अपनी माँ को पहिचान गया । साध्वी वेष में रही अपनी माता को युद्धभूमि में आए देखकर चंद्रयश ने कहा, ``माताजी ! इस युद्ध भूमि में आप क्यों आईं ?''

साध्वीजी ने कहा, **``वत्स ! तू जिसके साथ लड़ने के लिए तैयार हुआ है वह तो तेरा छोटा भाई है । एक छोटी सी वस्तु के लिए हो रहे तुम्हारे इस युद्ध को जानकर उस युद्ध को रोकने के लिए मैं यहाँ आई हूँ ।''**

चंद्रयश ने कहा, ``वह मेरा भाई कहाँ हैं ?''

माँ ने कहा, ``नगर के बाहर है ।''

उसी समय चंद्रयश के दिल में इस असार संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हो गया । वह अपने हथियारों को छोड़कर अपने छोटे भाई से मिलने के लिए आगे बढ़ा ।

जैसे ही नमिराजा ने अपने ज्येष्ठ बंधु को हथियार रहित आते हुए देखा । वह भी अभिमान छोड़कर बड़े भाई के चरणों में झुकने के लिए आगे बढ़ा । क्रमशः बड़े भाई के निकट आते ही नमिराजा ने बड़े भाई के चरणों में प्रणाम किया । दोनों भाइयों का परस्पर मिलन हुआ । चंद्रयश ने छोटे भाई को गले लगाते हुए कहा, अब नगर में चलो ।

भव्य स्वागत के साथ दोनों भाइयों का नगर में प्रवेश हुआ । उसके बाद चंद्रयश ने कहा, **``पिता की मृत्यु के बाद राज्यभार को वहन करने वाला कोई नहीं होने से अब तक मैंने यह राज्य सँभाला है । तुम मेरे भाई हो, इस बात का मुझे कोई पता नहीं था । मुझे तो माता साध्वी द्वारा इस बात की जानकारी मिली है, अतः अब मैं इस राज्य के कार्यभार से मुक्त होना चाहता हूँ । तुम इस राज्य के भार को वहन करने के लिए पूर्णतया सक्षम हो, अतः राज्य स्वीकार कर मुझे राज्य के भार से मुक्त करो ।''**

नमि ने कहा, ``मुझे भी राज्य पसंद नहीं है, मैं भी संयम स्वीकार करना चाहता हूँ ।''

ज्येष्ठ बंधु ने कहा, ``अपने राज्यभार को वहन करनेवाला कोई नहीं है, अतः यह न्यायसंगत ही है कि बड़ा भाई छोटे भाई को राज्य देकर स्वयं दीक्षा स्वीकार करे ।''

इस प्रकार चंद्रयश के समझाने पर आखिर नमिराजा ने राज्य लेने के लिए ``हाँ'' भर दी ।

चंद्रयश ने नमिराजा को अपना राज्य प्रदान कर गुरू भगवंत के चरणों में जीवन समर्पित कर भागवती दीक्षा स्वीकार की ।

महासती मदनरेखा साध्वी ने भी विशुद्ध संयम धर्म का पालन कर समस्त घाति-अघाति कर्मों का क्षयकर शाश्वत पद-मोक्ष पद प्राप्त किया ।

महासती मदनरेखा ने अपने पति युगबाहु को समाधि प्रदान करने के लिए जो उपदेश दिया, उस उपदेश को कवि **पद्म-पराग** ने गुर्जर भाषा में भावानुवाद के रूप में रचा है, जो यहाँ प्रस्तुत है-

(राग : मंदिर छो मुक्तितणा...)

हे भाग्यशाली ! आ क्षणे तुं सावधान बनी रहे,
बाहोशपणुं करी जाणवाने, आ समय आव्यो अरे,
तुं खेद मनमां जरीय कर ना, अन्य को कारण नहि,
पोते करेला कर्मना, परिणाम थी दुःखो अहीं 1

जेना वड़े कर्मो बंधाया, आ भवे के पर भवे,
तेना विपाको ते अनुभवे, बीजा मात्र निमित्त हुवे,
समभावथी सह तेथी जो तुं, रोष शत्रु पर करे,
तो बगड़शे परलोक तारो, तेनु नहिं बगड़े अरे 2

तुं भेगुं करी ले धर्म भातुं, तन-वचनने मन थकी,
अने जे कर्या दुष्कृत्य तेनी, गर्हणा कर संप्रति,
होय मित्र के दुश्मन महा, वली स्वजन के परजन भले,
खमावजे ते सर्व ने तुं, हृदयना भावे भले 3

तिर्यंच गति मां हतो त्यारे, प्राणीओने जे पीड़्या,
नारकपणा मां नारकीओ, साथ जे बहु बहु लड़्या,
तिम देवने वली मनुजने, संतापीया दुःखे करी,
ते सर्वने त्रिविधे खमावे, मैत्री भाव हृदय धरी 4

प्रियनो समागम जीवन, यौवन रूप ने लक्ष्मी बधु,
पवन प्रकंपित जलधिना, मोजासमुं चंचल कीधुं,
व्याधि जरा-मृत्यु-जनमथी, ग्रस्त छे प्राणी सवि,
तेने जिनोदित धर्म विना, शरण बीजुं को नवि 5

सर्वे जीवो स्वजनो थया, ने ते थया दुश्मन वली,
तो पछी ते जीवो प्रति करे, कोण राग लली लली,
जन्मे छे आत्मा एकलोने, एक मृत्यु पामतो,
सुखो अनुभवे एकलोने, दुःख तेम नभावतो 6

धन कण स्वजनने तन वगेरे, जीव थी सहु भिन्न छे,
पण मुर्ख तेमां महालतोने, मानतो के अभिन्न छे,
चरबी-रूधिर-मलमूत्र-अस्थि, मांसथी भरपूर आ,
अशुचि खाण समां शरीरमां, चतुर ने अनुराग ना 7

टुंक समयमां पड़े छोड़वो, आ देह भाडुं घर समो,
लालन करो पालन करो, पण छे नश्वर समजो तमो,
कायर बने के धीर पण, मरवुं पड़े सहु जीव ने,
तो मरे तेम चतुर जेथी फरी न मरवुं भव वने 8

अरिहंत सिद्ध सुसाधुने, केवली प्ररूपित धर्म जे,
आ शरण दायक चार तत्त्वो, ना शरण स्वीकारजे,
जिनधर्मने गणो मात सरिखो, तात सम सद्गुरू वली,
सोदर समा सुसाधुओ, साधर्मिको स्वजनो वली 9

प्राणातिपात असत्य-चोरी, मैथुनने परिग्रह तणो,
परित्याग कर तुं त्रिविध-त्रिविधे, भाव धरी मनमां घणो,
हिंसादि पाप अढार छे, तेनाथी पाछो फिर हवे,
अरिहंत आदि पंच परमेष्ठिने, वंदन कर भावे हवे 10

सहु जीव ने वंदनिक रूषभ, जिणंद आदि भदंत ने,
कर वंदनावली भरत ऐरावत-विदेह जिणंद ने,
भगवंत तीर्थंकर प्रभुने, नमन जे भावे करे,
ते नमन करता बोधि पामे, शीघ्र भवजलधि तरे 11

ध्यानाग्निथी जेणे जगाया, कर्म क्रोड़ो भवतणां,
भगवान ते श्री सिद्धने, वंदो अहो भावे घणां,
प्रवचन सुकानी पंचविध, आचार पालन रत सदा,
आचार्य वंदो तेह जे, कापी रह्या भव आपदा 12

धारण करे सवि सूत्रने, आपे वली निज शिष्यने,
वंदन करो भावे भले ते, उपाध्याय भगवंतने,
वंदन करो सुसाधुने, शील-व्रत थकी जे शोभता,
जे क्षमा मंड़लमां रह्या, मुक्ति तणी करे साधना 13

परमेष्ठि पांच ने वंदता जे, मृत्यु मंगल याचतां,
पामे नहि ते मोक्ष तो पण, देव वैमानिक थतां,

सवि पाप ना व्यापार ने, अने परिग्रहने तिम सवे,
तुं वोसिराव त्रिविध त्रिविधे, जीवन अंत सुधी हवे 14

आहार चारनो त्याग कर तुं, जीवन अंतिम क्षण सुधी,
आ देह ने पण चरम श्वासे, वोसिराव तुं हे सुधि !
कर त्याग तुं धन-स्वजनने, घर बारनी ममता तणो,
अंते सहु रही जशे, एक धर्म ने साथी गणो 15

दुष्कृत्य नी गर्हा अने, सवि जीव साथ क्षमापना,
चतुःशरण परमेष्ठी नमन, अनशन तथा शुभ भावना,
आराधना ए षट् प्रकारो, करावी निज स्वामी ने,
पछी धीर बुद्धि मदनरेखा, उच्चरे इम वाणी ने 16

ऊपर कहेली वात ने महाभाग ! मनमां तुं लही,
ने याद करी ने नरकनी, महावेदनाओ जे सही,
सुख राग के दुःख द्वेष मनमां, लावतो नही तुं जरा,
आवी पड़्या आ कष्ट ने, सही साधी ले तुं निर्जरा 17

मानवपणुं जिनधर्म अने आ, योग फरि दुर्लभ कह्यो,
तेथी समाधिमय बनी, तेना सफल फल ने ग्रहो,
समाधि रंगतरंग ना आ, स्त्रोतमां झीली सहु,
पद्म पराग कहे ने, वरजो सहु मुक्ति वहु 18

6. महासती दमयंती

कर्म की गति न्यारी है ।

कभी वह सर्वोच्च शिखर पर चढ़ा देता है

तो कभी पतन के गर्त में डुबो देता है ।

महासती दमयंती !

राजकुमारी के रूप में पैदा हुई दमयंती !

भव्य समारोह के साथ राजकुमार के साथ जिसका पाणि-ग्रहण हुआ ।

- पूर्वकृत पाप कर्म के विपाक के फलस्वरूप उसे पति के साथ जंगल में जाना पड़ा ।
- जंगल में भी पति ने उसका त्याग कर दिया और
  उसे 12 वर्ष की लंबी अवधि तक पति का वियोग सहन करना पड़ा ।
- पापकर्म के शिथिल होने पर पुनः पति का संयोग हुआ-
  अंत में मोह-माया के बंधनों को तोड़कर भागवती-दीक्षा स्वीकार की
  और क्रमशः मुक्ति पद प्राप्त करेगी ।
- सामान्यजन का मन संयोगों के अधीन होता है ।
  संयोग बदलते हैं और मन के परिणाम विचलित हो जाते हैं ।

  जबकि चाहे जैसी परिस्थिति हो, जिनके मन के परिणाम लेश भी विचलित नहीं हों, यही तो इन महासतियों की विशेषता है ।

6. महासती दमयंती

कर्म की गति बड़ी विचित्र है । वह कभी राजा को रंक और कभी रंक को राजा बना देती है । सुख के शिखर पर चढ़ी आत्मा को दुःख के गहन गर्त में डुबो देती है तो कभी महादुःखी आत्मा को सुख के शिखर पर पहुँचा देती है ।

शुभ-अशुभ कर्म के उदय से जीवन में सुख-दुःख का चक्र घूमता रहता है, परंतु महासतियों के जीवन की यह विशेषता होती है कि अमाप सुख के साधन मिलने पर भी वे उनमें लीन नहीं बनती हैं और दुःख के पहाड़ टूट पड़ने पर भी वे दीन नहीं बनती हैं । कर्म के गणित को अच्छी तरह से समझनेवाली वे आत्माएँ सुख में विरक्त और दुःख में सम भाव धारण कर मुक्ति मंजिल की ओर आगे बढ़ती जाती हैं ।

प्रस्तुत है महासती दमयंती की दिल को दहलानेवाली अति अद्‌भुत एवं रोमांचक कर्म-कहानी ।

भारत देश ! कोशला नगरी !

उस देश में निषध राजा न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करता था । वह राजा प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के दुःख में दुःख का अनुभव करता था । निषध की महारानी का नाम सुंदरा था, जो अत्यंत ही शीलवती सन्नारी थी ।

इधर कुंडिनपुर नगर में महाराजा भीम का शासन चल रहा था, उनकी महारानी का नाम पुष्पदंती था ।

एक शुभ दिन एक ही देवलोक में से दो देवताओं का एक साथ च्यवन हुआ । एक देव का आगमन सुंदरा महारानी की कुक्षि में हुआ तो दूसरे देव का च्यवन पुष्पदंती की कुक्षि में हुआ ।

कर्म की गति बड़ी विचित्र है । एक भव में जो देव मित्र के रूप में रहे होते हैं, वे ही अगले जन्म में पति-पत्नी के रूप में भी पैदा हो सकते हैं । इस जन्म में जो आत्मा पुरुष के रूप में जन्मी है, वही आत्मा अगले जन्म में स्त्री के रूप में भी पैदा हो सकती है ।

देवलोक से दो देवों का एक ही दिन च्यवन होने पर भी एक देव सुंदरा की कुक्षि से पुत्र के रूप में पैदा हुआ, उसका नाम **नल** रखा गया । जबकि पुष्पदंती की कुक्षि से दूसरा देव, पुत्री के रूप में पैदा हुआ, उसका नाम **दमयंती** रखा गया ।

धीरे-धीरे नल और दमयंती बड़े होने लगे । दोनों ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया ।

नल पुरुषों के योग्य 72 कलाओं में निपुण बना तथा दमयंती स्त्रियों के योग्य 64 कलाओं में निपुण बनी ।

वय की वृद्धि के साथ ही दमयंती का रूप-सौंदर्य भी चंद्र की सोलह कलाओं की भाँति एकदम खिल उठा ।

दमयंती के अद्‌भुत रूप और लावण्य को देखकर भीम राजा को अपनी पुत्री के लिए सुयोग्य वर की चिंता सताने लगी ।

ठीक ही कहा है-**''कन्या की ज्यों-ज्यों वय बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके पिता की चिंता बढ़ती जाती है ।''**

आखिर एक दिन दमयंती के सुयोग्य वर के लिए महाराजा भीम ने स्वयंवर की रचना की । दूर-सुदूर देश के राजा-महाराजा व राजकुमारों तक दमयंती के स्वयंवर की बात पहुँच गई । दमयंती के अद्‌भुत रूप व लावण्य की प्रशंसा सुनकर अनेक राजकुमार भोगी भ्रमर की भाँति दमयंती को पाने के लिए लालायित हो उठे ।

स्वयंवर का दिन निश्चित हो चुका था । भीम राजा ने स्वयंवर की सारी तैयारियाँ पूरी कर ली थीं । उस अवसर के लिए चारों ओर से राजा-महाराजा और राजकुमारों का आना प्रारंभ हो गया ।

कोशल देश के महाराजा को जब दमयंती के स्वयंवर के समाचार मिले तो महाराजा ने भी अपने पुत्र नल और कुबेर को स्वयंवर में जाने के लिए आज्ञा कर दी ।

नल और कुबेर क्रमशः आगे बढ़ते हुए स्वयंवर के एक दिन पूर्व ही कुंडिनपुर पहुँच गए ।

भीम राजा ने आए हुए सभी आगंतुक राजा-महाराजाओं व राजकुमारों का भव्य स्वागत किया ।

स्वयंवर मंडप में अनेक राजा-महाराजा व राजकुमार योग्य स्थान पर आसीन हो चुके थे । राजकुमारी दमयंती भी सोलह शणगार सजकर अपने पति को वरने के लिए स्वयंवर मंडप में आ चुकी थी । चारों ओर उत्सुकता और कल्पनाओं का वातावरण छाया था । एक दासी क्रमशः एक-एक महाराजा व राजकुमार का विस्तृत परिचय देती जा रही थी...परंतु दमयंती किसी के गले में वरमाला डाले बिना आगे बढ़ती जा रही थी ।

इस जन्म के संबंध भी, जन्म-जन्मांतर के स्नेहतंतुओं से जुड़े होते हैं ।

जैसे ही दमयंती नलकुमार की बैठक के नजदीक आई, उसके अन्तर्मन में सहज ही एक अद्‌भुत आकर्षण पैदा हो गया । उसने तत्क्षण ही नल के गले में अपने हाथ की माला डाल दी । दमयंती ने नलकुमार को अपने पति के रूप में चुन लिया था, अन्य सभी राजकुमारों को निराशा ही हाथ लगी ।

भीम राजा ने खूब धूमधाम के साथ पुत्री के विवाह का महोत्सव किया ।

एक दिन नलकुमार ने अपनी पत्नी दमयंती के साथ कुंडिनपुर से प्रयाण का निश्चय कर लिया ।

पराक्रमी, तेजस्वी व गुणवान दामाद को प्राप्त कर भीमराजा को पूर्ण संतोष था ।

विदाई की मंगल वेला में भीमराजा ने अपनी पुत्री को योग्य हितशिक्षा दी, ``बेटी ! अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित रहना । अपनी सास व श्वसुर के प्रति खूब आदर भाव रखना, गृहकार्य में कभी प्रमाद मत करना । आलस्य को अपना शत्रु समझना । अपने पति के घर को अब अपना घर समझना । हर कार्य पूर्ण निष्ठापूर्वक संपन्न करना । किसी के साथ कलह-क्लेश मत करना ।

``बेटी ! इन गुणों को तू आत्मसात् करेगी तो तू दोनों कुलों को उज्ज्वल बनाएगी । दोनों कुलों की कीर्ति में चार चांद लगा सकेगी ।''

अपने पिता की इन हित-शिक्षाओं को हृदय से आदर-बहुमान पूर्वक स्वीकार कर दमयंती अपने पति के साथ अपने श्वसुर गृह की ओर आगे बढ़ी ।

नल अपनी पत्नी दमयंती को लेकर अपने नगर की ओर बढ़ रहा था । बीच मार्ग में एक जंगल आया । सूर्य अस्त हो गया । धीरे-धीरे अंधकार बढ़ने लगा । अंधेरे में मार्ग बराबर दिखाई नहीं दे रहा था, अतः सभी लोग परेशान होने लगे । उसी समय दमयंती ने वस्त्र से अपने कपाल को पोंछकर अंगराग से ढके हुए स्वाभाविक तिलक को तेजस्वी किया । दमयंती के तिलक के प्रकाश से मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा ।

उस तिलक के प्रकाश में नल-दमयंती ने देखा-पास में ही एक मुनिवर प्रतिमा योग धारण किये हुए खड़े हैं, एक मदोन्मत्त हाथी आकर मुनि के शरीर के साथ अपनी सूंड घिस रहा है । इस कारण हाथी का मद मुनि के शरीर पर लग रहा है, उस मद की सुगंध से भौंरे आकर मुनि के शरीर में दंश दे रहे हैं । वे मुनिवर निःस्पृह भाव से उन दंशों की पीड़ा को सहन कर रहे हैं ।

यह दृश्य देख नल-दमयंती अपने वाहन से नीचे उतर आए । उन्होंने मुनि की क्षेम-कुशलता पूछी और भौंरों के उपद्रव को दूर किया ।

मुनिवर ने उन्हें धर्मदेशना दी । नल ने पूछा, ``भगवंत ! इस दमयंती ने गत भव में ऐसा कौनसा पुण्यकर्म किया, जिसके फलस्वरूप इसके कपाल में अपूर्व प्रकाश करने वाला स्वाभाविक तिलक रहा हुआ है ?''

नल की यह बात सुनकर दमयंती के पूर्व भव का वर्णन करते हुए मुनिवर ने कहा, **``इस दमयंती ने गत भव में 500 आयंबिल किये थे और भविष्य में होनेवाले शांतिनाथ प्रभु की अपूर्व पूजा की थी ।**

एक शुभदिन पिता के नल का राज्याभिषेक कर दिया और कुबेर को युवराज का पद प्रदान कर दिया और स्वयं ने धूमधाम के साथ मोहमाया के बंधनों को तोड़कर सद्गुरू के चरणों में जाकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।''

बाहर की आग से भी ईर्ष्या की आग और अधिक खतरनाक है । पानी द्वारा बाहर की आग को शांत किया जा सकता है, परंतु ईर्ष्या की इस भीतरी आग को शांत करना आसान बात नहीं है ।

दमयंती के साथ नल का पाणिग्रहण हुआ और नल राजा भी बना ।

नल की बढ़ती हुई समृद्धि और लोकप्रियता को देखकर ईर्ष्या के अधीन बने कुबेर का मन बेचैन रहने लगा ।

नल न्याय व नीति पूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करने लगा । नल की राज्यनीति से प्रजा सुख-चैन में थी, परंतु कुबेर के मन में शांति नहीं थी, दिन-रात उसके भीतर तो अशांति की ज्वाला ही भड़क रही थी । अतः वह नल के छिद्र देखने में प्रयत्नशील बना ।

नल की बढ़ती हुई प्रसिद्धि को धूल में मिलाने के लिए कुबेर, नल की भूलें शोधने लगा । नल को अपने जाल में फँसाने के लिए कुबेर ने कहा, ``बंधुवर्य ! आप तो रात दिन राजकार्य में ही डूबे रहते हो । कुछ देर तो अपना मन बहलाने के लिए जुआँ खेलें !''

नल ने कहा, ``पिता के द्वारा सौंपी गई राज्य की जवाबदारियों को वहन करना, मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, फिर भी तुम्हारी इच्छा है तो मन बहलाने के लिए जुआँ खेलने के लिए थोड़ा समय अवश्य निकालूंगा ।''

महासती दमयंती व मंत्रियों को जब इस बात का पता चला तो वे नल को जुएँ से रोकने के लिए समझाने लगे ।

नल ने कहा, ``जुए में हार-जीत की शर्त कहाँ लगाई है ? यह तो सिर्फ मन बहलाने के लिए एक प्रयोग है ।''

सभी का निषेध होने पर भी नल, कुबेर के साथ जुआँ खेलने के लिए तैयार हो गया ।

प्रारंभ में तो कुबेर के दाँव उलटे पड़ने लगे । मात्र मन-मौज के लिए प्रारंभ हुए उस खेल में अब दाँव भी लगने लगे ।

भाग्य ने पलटा खाया और जुएँ में नल हारता ही गया । ज्यों-ज्यों जुएँ में नल हारता गया, त्यों-त्यों नल अपनी अमूल्य वस्तुओं को दाँव पर लगाने लगा । देखते-ही-देखते वह बहुत कुछ हार गया ।

युधिष्ठिर की भाँति उसने अपना पूरा राज्य दाँव पर लगा दिया और उसमें भी उसकी हार हो गई । उसके बाद उसने अपना राज-मुकुट, राजभवन और यावत् दमयंती को भी दाँव पर लगा दिया...दुर्भाग्य से वे सब चीजें वह हार गया ।

दमयंती को खो देने से सारे राजभवन में हाहाकार मच गया । राज भवन में सभी मंत्री इकट्ठे हो गए ।

उस समय अवसर देखकर कुबेर ने नल से कहा, ``पिताजी ने आपको राज्य दिया था, परंतु अपनी बुद्धिमत्ता से मैं आपको हरा चुका हूँ, अतः अब राज्य का मालिक मैं हूँ । आपकी उपस्थिति में राजमुकुट धारण करना उचित नहीं होने से मैं आपको राज्य की सीमा छोड़ देने के लिए आज्ञा करता हूँ ।''

कुबेर के इन अपमानजनक शब्दों को सुनकर नल ने कहा, ``कुबेर ! तुम इतना अभिमान मत करो । मैं इस राज्य को हार चुका हूँ, तो मैं भी अपना कर्तव्य समझता हूँ, मुझे आज्ञा करने की जरूरत नहीं है, मैं स्वयं ही अपनी इच्छा से राज्य की सीमा को छोड़कर जंगल की राह अपनाने के लिए तैयार हूँ ।''

इतना कहकर नल वन की ओर अपने कदम उठाने लगा ।

दमयंती को ज्योंही ये समाचार मिले उसके आघात का कोई पार न रहा । अपने शील की सुरक्षा की खातिर वह भी जंगल की राह अपनाने के लिए तत्क्षण तैयार हो गई ।

दमयंती को जाते देख कुबेर ने तुरंत ही उसे रोक लिया और उसका हाथ पकड़कर बोला, ``दमयंती ! नल सब कुछ हार चुका है । इस राज्य पर अब मेरा अधिकार हो चुका है, तुझ पर भी मेरा अधिकार हो गया है, अतः तुझे मेरी आज्ञा माननी चाहिए ।''

कुबेर के इन निकृष्ट वचनों को सुनकर मंत्रीगण आगे आए और कठोर शब्दों में बोले, ***''युवराज ! आप अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हो । परस्त्री तो माता तुल्य होती है, जब कि ये तो बड़े भाई की पत्नी हैं, इनके प्रति तो कितना आदर व पूज्य भाव होना चाहिए । जुएँ में आप राज्य को जीत गए हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि आप कैसा भी अनुचित व्यवहार करने के अधिकारी बन गए हो । आप यदि दमयंती पर दमन करोगे तो आपका यह सत्ता का सिंहासन विचलित हुए बिना नहीं रहेगा ।''***

मंत्रीजन की ये बातें सुनकर कुबेर ने सोचा, ``प्रजा के विरुद्ध चलने में मजा नहीं है ।'' इस प्रकार सोचकर उसने दमयंती को नल के पीछे जाने के लिए अनुमति दे दी । प्रजाप्रिय राजा-रानी नगर छोड़कर जा रहे थे, सभी प्रजाजन की आँखों में आँसू थे ।

नल अपनी पत्नी दमयंती को साथ में लेकर जंगल की ओर बढ़ रहा था । दिन में सूर्य आग का गोला बनकर बरस रहा था । नीचे धरती तपी हुई थी तो आकाश में सूर्य तप रहा था । रात्रि में भी विश्राम के लिए वृक्ष की छाया को छोड़ अन्य कोई सहारा नहीं था । धरती ही उनके लिए बिछौना थी और आकाश ही उनके लिए चादर थी । राजमहलों की वह सुखसामग्री, सोने के लिए गद्दी-तकिये, खाने-पीने के लिए अकल्प्य स्वादिष्ट सामग्री और घूमने-फिरने के लिए वे बाग-बगीचे, नल के लिए यह सब स्वप्न तुल्य बन गया था ।

व्यक्ति अपने जीवन में सुख की सामग्री थोड़ी-थोड़ी खो बैठे तो वह दुःखानुभूति नहीं होती है, जो सब कुछ एक साथ में खो बैठने पर होती है ।

नल-दमयंती की सुख-सामग्री का सारा वैभव एक साथ में चला गया था । वे राजा से रंक बन गए थे । शहंशाह से भिखारी बन गए थे । राजवैभव उनके लिए भूतकाल का एक सपना बन गया था ।

मार्ग में चलते हुए कहीं पत्थर, कहीं काँटे परेशान कर रहे थे ।

जंगल के कष्टों को सहन करने में कायर बनी दमयंती ने एक बार कहा, ``स्वामिनाथ ! अपन कुंडिनपुर नगर चलें तो ! इस आपत्ति की वेला में मेरे पिता अवश्य मदद करेंगे ।''

दमयंती की इस बात से नल ने स्पष्ट इन्कार कर दिया । ``प्रिये ! आपत्ति की वेला में मेरा श्वसुरगृह जाना कतई उचित नहीं है ।''

दो-तीन दिन बीतने के बाद नल ने सोचा, ``मैं तो पुरुष हूँ, जंगल के कष्टों को येन-केन प्रकार से सहन कर लूंगा, परंतु मेरी पत्नी तो कोमलांगी है, वह जंगल के कष्टों को सहन नहीं कर पाएगी, आज नहीं तो कल वह पुनः अपने पितृ-गृह जाने की बात कर सकती है, अतः क्यों न इसे जंगल में ऐसे ही छोड़कर चला जाऊँ । इसे अपने पितृगृह या श्वसुरगृह जाने का मार्ग बता दूंगा, ताकि यह कम-से-कम जंगल के कष्टों से तो मुक्त हो जाएगी ।'' इस प्रकार विचार कर नल, अपनी प्राणप्रिया दमयंती को जंगल में ही एकांत में छोड़ने के लिए तैयार हो गया ।

2

धरती माँ की गोद में दमयंती आराम से सोई हुई थी । उस समय अपने विचार को क्रिया में लाने की इच्छा से उसने धीरे से दमयंती के मस्तक को भूमि पर रख दिया । फिर अपने हृदय को कठोर कर उसने तीक्ष्ण काँटा भोंककर अपनी जंघा में से खून निकाला और उस खून की स्याही बनाकर दमयंती के वस्त्र के एक भाग में उसने लिखना चालू किया ।

उसने लिखा, ``प्रिये ! जंगल के कष्टों को तू सहन नहीं कर पाएगी...और कुंडिनपुर जाना मेरे लिए उचित नहीं है, अतः तुझे भाग्य के भरोसे छोड़ते हुए भी मेरा हृदय टूट रहा है । तेरे लिए दो विकल्प हैं, यदि कोशला जाना हो तो केसुड़े के फूल की ओर से आगे बढ़ना और कुंडिनपुर जाना हो तो वट वृक्ष के नीचे से जो मार्ग जाता है, उस मार्ग की ओर आगे बढ़ना । मैं जा रहा हूँ, परंतु मेरा हृदय तेरे साथ है ।''

इतना लेख लिखते हुए नल ने अत्यंत ही मानसिक पीड़ा का अनुभव किया । इतना लिखकर दमयंती को जंगल में सोई हुई छोड़कर नल आगे बढ़ने लगा । आगे बढ़ने के साथ नल बार-बार पीछे मुड़कर देख लेता कि कहीं दमयंती जाग तो नहीं गई है ?

आगे बढ़ते समय जबतक उसे दमयंती दिखाई दी, तब तक वह पीछे मुड़कर देखता रहा । फिर वह तेजी से आगे बढ़ गया । जंगल की घनी झाड़ियों को पारकर थका-माँदा नल जब एक वृक्ष के नीचे बैठकर आराम कर रहा था, तब नल के दिमाग में दमयंती के विचार मँडराने लगे...``अहो ! मैं तो दमयंती को छोड़कर इधर आ गया ! अब उसका क्या हाल हुआ होगा ? किसी जंगली प्राणी ने उसको हैरान-परेशान तो नहीं किया होगा ? क्या वह

अपने पिता के घर गई होगी ? आपत्ति के समय में स्त्री के रक्षण की संपूर्ण जवाबदारी पति की होती है, जबकि मैं स्वयं ही उस जवाबदारी से पीछे हट गया ! क्या इस पाप की सजा मुझे नहीं मिलेगी ? क्या कर्मसत्ता मुझे माफ कर देगी ?''

इस प्रकार के विचार उसके दिमाग में बारंबार मँडराते रहते थे, परिणामस्वरूप उसकी नींद हराम हो चुकी थी ।

दमयंती वृक्ष के नीचे पर्णशय्या पर आराम से निद्राधीन बनी हुई थी । उस रात में उसने एक स्वप्न देखा, **''मैं आम के एक विशाल झाड़ की डाल पर बैठकर आम के फल का आस्वाद ले रही हूँ । चारों ओर भौंरों का मधुर संगीत चल रहा है, इसी बीच एक मदोन्मत्त हाथी वहाँ आया और उसने अपनी सूंड द्वारा उस वृक्ष को उखाड़कर दूर फेंक दिया और मैं भी दूर गिर पड़ी ।''**

गाढ़ निद्रा में यह विचित्र स्वप्न देखकर दमयंती अचानक जाग गई । जागने के बाद जैसे ही उसने पास में अपने पति की शय्या खाली देखी तो उसकी आँखें फटी रह गईं । वह चारों ओर अपने पति को देखने लगी, परंतु कहीं भी उसे अपने पति नजर नहीं आए । उसने पूरी ताकत लगाकर अपने पति को आवाज दी, परंतु कहीं से भी उसे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला । वह एकदम आकुल-व्याकुल हो गई ।

वह एकदम भयभीत बनी इधर-उधर देखने लगी । उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी ।

वस्त्र के आँचल से जैसे ही वह अपने आँसुओं को पोंछने लगी, तभी उसकी नजर अपने वस्त्र के उस भाग पर गई, जहाँ कुछ लिखा था ।

अपने हृदय को मजबूत कर दमयंती ने अपने आँचल के एक भाग पर खून से लिखा अपने पति का संदेश पढ़ा...और क्षणभर के लिए एकदम स्तब्ध हो गई । ``अहो ! यह क्या ! क्या मेरे पति मुझे अकेली छोड़कर जंगल में अन्यत्र चले गए ? अहो ! यह तो मैंने कभी सोचा भी नहीं था...कि वे मुझे अकेली छोड़कर इस प्रकार चले जाएंगे ।'' यह सोचकर दमयंती भूमि पर नीचे ढल पड़ी । उसकी आँखों से सतत आँसुओं की धारा बहने लगी । थोड़ी देर बाद वह होश में आई ।

दमयंती ने सोचा, ``अब कायर बनने से क्या फायदा ! सचमुच मैंने स्वप्न में जो देखा, वैसा ही फल मुझे प्राप्त हुआ है ।''

``मैं आम्रवृक्ष पर मीठे आम के आस्वाद की तरह इतने दिन तक

राज्य-सुख का अनुभव कर रही थी । भ्रमर के गुंजन की भाँति परिवार की सुख-साहिबी थी, अचानक दुष्ट हाथी ने आकर उस वृक्ष को उखाड़ दिया, इसी तरह दुर्भाग्य रूपी दुष्ट दैव ने मेरा सारा आनंद लूट लिया ।''

``अहो ! मैं कहाँ जाऊँ ? अब मेरा आधार कौन ?'' इस प्रकार सोचते-सोचते उसने अपने पिता के भवन की ओर कदम उठाना ही ज्यादा मुनासिब समझा । इस प्रकार संकल्प कर वह कुंडिनपुर की ओर कदम उठाने लगी ।

दमयंती को अकेली छोड़कर नल जंगल में एक दिशा में आगे बढ़ रहा था । दमयंती के साथ किये विश्वासघात की बात उसे पुनःपुनः याद आ रही थी । वन के फल-फूल और बहते हुए झरनों का पानी पीकर वह अपनी क्षुधा और तृषा को शांत कर लेता था ।

प्रातःकाल की मधुरवेला में नल क्रमशः आगे बढ़ रहा था, तभी उसे दूर से उठता हुआ धुआँ दिखाई दिया...वह उस दिशा की ओर बढ़ा । वहाँ पहुँचने पर उसे आग में जल रहा सर्प दिखाई दिया । वह महाकाय सर्प आग से बचने के लिए तड़प रहा था और मनुष्य की भाषा में ``मुझे बचाओ ! बचाओ !'' इस प्रकार चिल्ला रहा था ।

आग में तड़पते हुए साँप को देखकर नल का हृदय पिघल गया । वह किसी भी उपाय से उस साँप को बचाना चाहता था । साँप को बचाने के लिए नल ने तुरंत ही अपना एक वस्त्र साँप पर डाल दिया । वह साँप उस कपड़े में लिपट गया । नल ने उस वस्त्र को बाहर खींचा और इसके साथ वह सर्प भी बाहर आ गया ।

साँप के बचने से नल खुश हो गया । नल कुछ सोच ही रहा था, तभी उस सर्प ने उसके हाथ में जोर से डस लिया । उस सर्पदंश से नल धरती पर गिर पड़ा...और थोड़ी ही देर में उस साँप के जहर के प्रभाव से नल की काया बदल गई । नल का चेहरा श्याम हो गया और उसका शरीर कुबड़े जैसा हो गया । अपने शरीर में अचानक हुए इस परिवर्तन को देख नल के आश्चर्य का पार न रहा । नल ने सोचा, ``मैंने तो आग से बचाकर इस साँप का कुछ उपकार ही किया है, जबकि इसने तो मुझे डसकर मेरा अपकार ही किया है । सचमुच साँप को दूध पिलाना भी लाभ के बदले हानिकर ही होता है ।''

साँप के जहर से नल की मौत तो नहीं हुई, किंतु शरीर की आकृति बदल गई । यह सब देख उसे कुछ आश्चर्य लगा । आखिर राज क्या है ?

उसे अपनी काया पर तिरस्कार पैदा हो गया और वह खुद अग्नि-स्नान के लिए तैयार हो गया ।

इसी बीच वहाँ एक नवीन चमत्कार हो गया । साँप ने अपना मूल स्वरूप प्रगट किया । नल ने साँप के स्थान पर अपने पिता को प्रत्यक्ष देखा ।

नल को समाधान देते हुए निषध देव ने कहा, ``बेटा नल ! मैं तेरा पिता निषध हूँ ! संयम के प्रभाव से मैं मरकर 5वें ब्रह्मदेवलोक में देव बना हूँ । पुत्रस्नेह से ही आपत्ति में पड़े हुए तुझे मदद करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ । अभी तुम्हारे जीवन में कई उतार-चढ़ाव आएंगे । उनमें तुम हार न जाओ, इसीलिए मैंने तुम्हारा यह रूप परिवर्तन किया है । यह साँप भी मैं ही था ।''

नल ने कहा, ``पिताजी ! मेरे शत्रु मुझे पहिचान न लें, इसके लिए क्या कोई दूसरा विकल्प नहीं है ?''

निषधदेव ने कहा, ``तुम्हारे अद्‌भुत रूप व लावण्य को देखकर कोई स्त्री तुम्हें अपने जाल में फँसा न ले, बस, इसी ध्येय से तुम्हारे शीलरक्षण के लिए ही मैंने जान बूझकर तुम्हारा यह रूप किया है ।''

नल ने कहा, ``क्या अब मेरा मूलस्वरूप कभी प्रगट नहीं होगा ?''

उसी समय उस देव ने नल के हाथ में एक श्रीफल और एक करंडिया देते हुए कहा, ``इस श्रीफल में रहे हुए वस्त्र और करंडिये में रहे हुए अलंकारों को जब तुम अपने शरीर पर धारण करोगे तो तुम्हारा मूल स्वरूप प्रगट हो जाएगा ।''

देव ने कहा, ``अभी तुम्हें कहाँ जाने की इच्छा है ?''

नल ने कहा, ``मुझे सुसमार नगर पहुँचा दो ।''

देव के प्रभाव से नल कुछ ही क्षणों में सुसमार नगर के बाहर पहुँच गया । उसके बाद वह देव अदृश्य हो गया ।

नल ने कुबड़े के रूप में ज्योंही सुसमार नगर के द्वार में प्रवेश किया, तभी उसे नगर में चारों ओर सर्वत्र कोलाहल सुनाई दिया ।

कोलाहल के कारण की शोध करने पर पता चला कि महाराजा का पट्टहस्ती आलानस्तंभ तोड़कर नगर में भयंकर तूफान मचा रहा है । महावत द्वारा लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी वह हाथी किसी भी प्रकार से वश में नहीं हो रहा है ।

नगर के सभी लोग परेशान थे । तभी कुबड़े के रूप में रहे नल ने कहा, ``मुझे उस हाथी के पास ले चलो, मैं उस हाथी को तत्क्षण वश में कर लूंगा ।''

``बड़े-बड़े होशियार महावत भी जिस हाथी को वश में करने में समर्थ नहीं हैं, उस हाथी को यह कुबड़ा कैसे वश में कर पाएगा ?'' पहले तो कुबड़े की बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया...परंतु उसके विशेष आग्रह को देख आखिर कुछ लोग उसे उस हाथी के पास ले गए ।

लोगों को अपना प्रभाव बतलाने के लिए प्रारंभ में तो उस कुबड़े ने हाथी को खूब घुमाया । अंत में वह कुबड़ा उस हाथी पर चढ़ गया । अंकुश के प्रहार द्वारा उसने हाथी को अपने वश में कर लिया और उसे ले जाकर आलान स्तंभ से बँधवा दिया ।

कुबड़े के इस अद्‌भुत पराक्रम को देखकर महाराजा बहुत खुश हुए ।

खुश होकर सुसमार नगर के महाराजा दधिपर्ण उस कुबड़े को एक गाँव और 1 लाख सोनामोहर भेंट देने लगे ।

कुबड़े ने कहा, ``मुझे इतने बड़े इनाम की जरूरत नहीं है ।''

राजा के आग्रह से आखिर उसने 1 लाख सुवर्ण मुद्राओं को स्वीकार किया ।

राजा ने अपनी ओर से उसके आवास की व्यवस्था कर दी ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक दिन राजा ने उसे पूछ ही लिया, ``हाथी को वश में करने के सिवाय अन्य भी कुछ कलाएँ जानते हो क्या ?''

उसने कहा, ``और तो कुछ नहीं आता है, परंतु हाँ, मैं सूर्यपाक रसोई बना सकता हूँ ।''

सूर्यपाक रसोई की बात सुनकर राजा को खूब आश्चर्य हुआ ।

``क्या यह सूर्यपाक रसोई बनाना जानता है ?'' इसकी परीक्षा के लिए राजा ने उसे रसोई की सारी सामग्री प्रदान की ।

उसके बाद उस कुबड़े ने वह सारी सामग्री विधि के अनुसार व्यवस्थित कर दी, तत्पश्चात् उसने सौरी विद्या का स्मरण किया...उस विद्या के प्रभाव से थोड़ी ही देर में वह रसोई तैयार हो गई ।

उस कुबड़े ने राज्य के सभी मुख्य लोगों को वह सूर्यपाक रसोई

खिलाई । जीवन में पहली बार ही सभी ने सूर्यपाक रसोई का आस्वाद लिया था, सभी खुश हो गए ।

कुबड़े की उस सूर्यपाक कला को देख दधिपर्ण राजा ने उसे पाकशाला का अधिपति बना दिया ।

एक बार राजा ने पूछा, ``लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि नल राजा के सिवाय सूर्यपाक रसोई कोई नहीं जानता है तो तुम्हें यह कला कहाँ से प्राप्त हो गई ?''

कुबड़े ने कहा, ``मैं नल राजा का रसोइया था, नल राजा ने मुझे सूर्यपाक कला सिखाई थी । नल राजा को सूर्यपाक रसोई खिलाने की जवाबदारी मुझ पर थी...और मैं यह जवाबदारी अच्छी तरह से वहन कर रहा था । परंतु दुर्भाग्य से कुबेर के साथ जुएँ में नल सब कुछ हार गए ।''

``कुबेर ने उन्हें राज्य-त्याग की शिक्षा की । वे अपनी पत्नी दमयंती के साथ जंगल में चले गए । उस बात को वर्षों बीत चुके हैं । उनका क्या हुआ ? कुछ पता नहीं है । आज वे जीवित हैं या मर चुके हैं कुछ भी कह नहीं सकते हैं ।'' इतनी बातें कहकर वह कुबड़ा अपनी आँखों से धड्-धड् आँसू बहाने लगा ।

नल-दमयंती की मृत्यु की संभावना से दधिपर्ण राजा के हृदय को भी भयंकर झटका लगा । दधिपर्ण राजा के परिवार में भी शोक की लहर छा गई ।

कुबड़े ने कहा, **``कर्म की गति न्यारी है, अतः ऐसे प्रसंगों में शोकातुर बनने के बजाय कुछ बोध लेना चाहिए, क्योंकि दुनिया के रंग-मंच पर होनेवाली सभी घटनाएँ हमें कुछ-न-कुछ सीख अवश्य देती हैं ।''**

दधिपर्ण राजा ने कहा, ``तुम्हारी इस सूर्यपाक कला को देखकर मैं तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम्हें जो चाहिए, सो मांग लो ।''

कुबड़े ने कहा, ``राजन् ! आपकी प्रसन्नता ही मेरे लिए सबसे बड़ा वरदान है ।''

राजा ने कहा, ``नहीं, तुम्हें कुछ माँगना ही होगा ।''

``राजन् ! आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करने के लिए तैयार हो तो मेरी एक ही इच्छा है कि आपके राज्य को शराब, शिकार और जुएँ के व्यसन से मुक्त किया जाय ।''

कुबड़े की इस पवित्र भावना को देख दधिपर्ण राजा खुश हो गए ।

राजा ने तत्क्षण अपने विशाल राज्य में अपनी आज्ञा फरमाकर सभी प्रजाजनों को शराब, शिकार व जुएँ से मुक्त होने की सुंदर सीख दी ।

``मेरे अशुभ कर्म के उदय से मेरे जीवन में यह आपत्ति आई है ।''

इस प्रकार विचार कर अपने मन को मनाकर महासती दमयंती जंगल से अपनी जन्मभूमि कुंडिनपुर की ओर आगे कदम बढ़ा रही थी ।

चार दिन सतत चलने के बाद वह एक वट वृक्ष के नीचे आराम करने के लिए बैठी थी, तभी उसने दूर से आते हुए एक सार्थवाह को देखा । उसने सोचा, ``सार्थ आ रहा है तो मुझे उससे अवश्य कुछ मदद मिलेगी ।''

जंगल में ही सार्थ ने अपना पड़ाव ड़ाला । इसी बीच रात्रि के अंधकार का लाभ उठाकर कुछ लुटेरे सार्थ को लूटने के लिए आ गए । अचानक ही सार्थ में भगदड़ मच गई...सब इधर-उधर भागने लगे । सार्थ को लूटने का यह दृश्य दमयंती ने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा, उसके हृदय में करुणा का झरना उमड़ पड़ा । वह सार्थ के निकट आई । उसने अपने मस्तक पर रहे तिलक के आवरण को दूर किया और उसके साथ ही अंधेरे में तेज रोशनी फैल गई । सतीत्व के प्रभाव से, दमयंती के शील के प्रभाव से वह सार्थ बड़ी आपत्ति में से बाहर आ गया ।

सार्थवाह ने दमयंती का खूब-खूब आभार माना । सार्थवाह ने आतिथ्य-सत्कार के लिए निवेदन किया, जिसे दमयंती ने स्वीकार किया । सार्थ के लोगों द्वारा दमयंती ने कुंडिनपुर की ओर जाने के मार्ग की सारी जानकारी प्राप्त कर ली ।

रात्रि का पहला प्रहर बीत चुका था । नमस्कार महामंत्र का स्मरण कर दमयंती निद्राधीन हो गई । सार्थ के लोग भी निश्चिंत होकर सो गए ।

प्रातःकाल होने के पूर्व ही दमयंती जाग गई । अपने शील के सहारे आगे बढ़ गई । बीच मार्ग में उसे एक राक्षस मिला । उस राक्षस ने दमयंती की परीक्षा लेने का निश्चय किया । राक्षस ने अपना डरावना भयंकर रूप बनाया और दमयंती को खाने के लिए सामने आया । राक्षस ने दमयंती को पकड़ने के लिए जैसे ही अपना हाथ लंबा किया, दमयंती ने उसके हाथ पर जोर से प्रहार किया ।

महासती के शील के प्रभाव से राक्षस शांत हो गया । दमयंती ने उस राक्षस को जीवदया का महत्त्व समझाया ।

दमयंती के मधुर वचनों से राक्षस ने अपने जीवन से हिंसात्मक प्रवृत्ति को तिलांजलि दे दी ।

राक्षस ने कहा, ``आप मेरे स्कंध पर बैठें, मैं अभी आपको विदर्भ देश पहुँचा देता हूँ ।''

दमयंती ने कहा, ``पर-पुरुष के स्कंध पर बैठना उचित नहीं है ।''

``हाँ ! तुम आगे-पीछे का जान सकते हो तो मुझे बताओ कि मेरे पति का मुझसे कब मिलन होगा ?''

राक्षस ने कहा, ``अभी तो आपके भाग्य में पतिविरह की वेदना लिखी हुई है, फिर भी 12 वर्ष के बाद आपका अपने पति से जरूर मिलन होगा । आपके पति क्षेम-कुशल हैं, अपने पितृगृह में ही उनका मिलन होगा ।'' इतना कहकर राक्षस अदृश्य हो गया ।

दमयंती ने सोचा, ``कर्म में जो लिखा होता है, उसे स्वीकारे बिना छुटकारा नहीं है ।''

उसने निश्चय किया कि जब तक पतिदेव के दर्शन नहीं होंगे, तब तक मैं अंगराग, देह-श्रृंगार और मिष्ट भोजन का त्याग रखूंगी ।

वर्षा ऋतु का प्रारंभ हो चुका था, अतः दमयंती ने पर्वत की एक गुफा में ही वर्षाकाल व्यतीत करने का निश्चय कर लिया ।

दमयंती ने एक गुफा पसंद की । उसने मिट्टी से जिनेश्वर परमात्मा की मूर्ति का निर्माण किया और उसी की भक्ति में वह अपना अधिकांश समय सुखपूर्वक व्यतीत करने लगी ।

इधर प्रातःकाल होने पर जब सार्थवाह ने दमयंती को नहीं देखा तो उसके खेद का पार न रहा । सार्थपति ने जंगल में चारों ओर दमयंती की शोध चालू की । आखिर दमयंती के पद चिह्नों के अनुसार वह सार्थ उस पहाड़ी गुफा के पास आ गया ।

सार्थवाह ने प्रभुभक्ति में तन्मय बनी दमयंती को देखा ।

सार्थवाह ने कहा, ``मुझ से आपका अविनय हुआ हो तो मैं क्षमा चाहता हूँ । मुझे कुछ सेवा का मौका दो ।''

सार्थवाह की अंतरंग योग्यता देख दमयंती ने उसे वीतराग देव और निर्ग्रंथ गुरु की सही पहिचान कराई ।

जैन धर्म को पाकर सार्थवाह के आनंद का पार न रहा ।

इस पहाड़ी क्षेत्र में 500 तापस रहते थे । दमयंती ने उनको भी धर्मबोध दिया ।

एक दिन अचानक ही घनघोर बादल छा गए । चारों ओर भय का वातावरण खड़ा हो गया । परंतु दमयंती के शील के प्रभाव से तत्क्षण वह भय दूर हो गया ।

दमयंती के शील धर्म के इस प्रत्यक्ष प्रभाव को देखकर वे तापस अत्यंत ही प्रभावित हुए । तापसों के कारण वह नगर तापसपुर के नाम से प्रख्यात हो गया ।

एक दिन की बात है ।

तापसपुर के शिखर पर आकाश में देवताओं का आगमन होने लगा । थोड़ी देर बात पता चला कि एक मुनिवर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस केवलज्ञान के महोत्सव के लिए देवतागण आ रहे हैं ।

केवली मुनि के दर्शन के लिए उन तापसों के साथ दमयंती भी वहाँ गई ।

केवली मुनि का नाम सिंहकेसरी मुनि था । अभी तो यौवन के प्रांगण में उन्होंने प्रवेश ही किया था ।

सभी सोचने लगे, ``इतनी छोटी उम्र में इन्होंने इस असिधारा समान त्याग धर्म का स्वीकार क्यों किया होगा ?''

केवली भगवंत ने उनके संशय-छेद के लिए वैराग्यमय धर्मदेशना दी ।

तापसों के कुलपति विमलमति ने कहा, ``भगवन् ! मुझे सर्वविरति धर्म प्रदान करने की कृपा करें ।''

केवली भगवंत ने कहा, ``तुम्हें दीक्षा का दान तो मेरे ये गुरु यशोभद्रसूरिजी करेंगे, क्योंकि मेरा आयुष्य तो बहुत थोड़ा ही बाकी है ।''

सभी की जिज्ञासावृत्ति देख अपने अल्प आयुष्य व दीक्षा की कहानी बताते हुए केवली भगवंत ने कहा, ``मैं तो लग्न जीवन के स्वीकार के लिए वर राजा बनकर जा रहा था, मैं कोशला देश के राजा कुबेर का पुत्र हूँ'' । संगानगरी के राजा की बंधुमती पुत्री के साथ लग्न कर मैं वापस कोशलादेश जा रहा था, तभी मेरी पूज्य यशोभद्रसूरिजी म. से भेंट हो गई । उनके दर्शन-वंदन से मेरा मन पुलकित हो उठा । उनकी वैराग्य सभर वाणी को सुनकर

मेरा हृदय संसार से विरक्त हो गया । मेरे हाथ में मींढल बँधा हुआ था । उन्होंने मेरे अल्प आयुष्य को देखकर कहा, ``जल्दी ही संयम की साधना कर लेने जैसी है । तुम्हारा आयुष्य सिर्फ 5 दिन का ही बाकी है ।''

आयुष्य की अल्पता जान, आत्मकल्याण की कामना से मैं वर से मुनिवर बन गया । उसके बाद मैंने इस पर्वत शिखर पर अनशन व्रत स्वीकार किया । तप के प्रभाव से कल ही मुझे केवलज्ञान प्राप्त हुआ है । घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं, अब सिर्फ अघातिकर्म ही बाकी हैं ।

दमयंती ने केवली भगवंत से पूछा, ``भगवन् ! मैं संयम के लिए योग्य हूँ या नहीं ?''

केवली भगवंत ने कहा, ``अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी हैं ।''

केवली भगवंत का आयुष्य अब पूर्ण होने की तैयारी में था । उन्होंने योगनिरोध की साधना की । कुछ ही क्षणों में वे अघाति कर्मों के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष चले गए ।

उन तापसों ने केवली भगवंत के देह का अग्निसंस्कार किया ।

विमलमति ने पू. यशोभद्रसूरिजी म. के पास दीक्षा अंगीकार कर ली । सभी तापसों ने भी जैनधर्म स्वीकार किया ।

दमयंती ने पूज्य आचार्य भगवंत से पूछा, ``भगवंत ! किस पुण्य से राजकुल में जन्म हुआ और किस पाप के कारण पति से 12 वर्ष का वियोग सहन करना पड़ा है ?''

आचार्य भगवंत ने दमयंती के पूर्व भव का वर्णन करते हुए कहा, **``गत जन्म में तू मम्मण राजा की वीरमती नाम की रानी थी । एक बार राजा-रानी जब शिकार के लिए जा रहे थे, तब उन्होंने सामने से आते हुए एक मुनि को देखा । अपशकुन की बुद्धि से उन्होंने उन मुनि को 12 घड़ी तक रोके रखा ।**

``उसके बाद उन्हीं मुनि से राजा-रानी को धर्म का बोध हुआ । उन्होंने मन से क्षमायाचना की । पूर्व भव में मुनि को दी 12 घड़ी की पीड़ा के पापोदय के कारण इस भव में तुम्हें 12 वर्ष तक पति के वियोग को सहन करना पड़ा है । उसके बाद उस वीरमती ने अष्टापद की यात्रा की, चौबीस तीर्थंकरों की आराधना निमित्त 20-20 आयंबिल किये । 24 प्रभु के भाल में सुवर्णमय तिलक बनाए । उस भक्ति के फलस्वरूप ही तुम्हें राजकुल व मस्तक पर तेजस्वी तिलक की प्राप्ति हुई है ।''

5. महासती मदनरेखा पृष्ठ नं. 36

6. महासती दमयंती पृष्ठ नं. 57

7. महासती नर्मदासुंदरी पृष्ठ नं. 85

अपने पूर्व जन्म के पुण्य-पाप की आराधना-विराधना की कथा सुनकर दमयंती को सद्‌बोध प्राप्त हुआ । महासती दमयंती प्रभुभक्ति में लीन बनकर अपना समय बिताने लगी ।

पर्वत की गुफा में प्रभु की भक्ति में लीन बनते हुए काफी वर्ष बीत गए । 7 वर्ष के बाद अचानक ही किसी ने आकर दमयंती को कहा, ``दमयंती ! नल राजा अभी इस पहाड़ी में से प्रसार हुआ है ।''

पति के वियोग से दुःखी बनी दमयंती अपने पति के आगमन की बात सुनकर तत्क्षण गुफा छोड़कर बाहर आ गई और पति की शोध में खूब आगे निकल गई । परंतु उसे कहीं भी अपने पति की छाया भी नहीं मिली । दमयंती हताश हो गई ।

उसी समय दमयंती के सामने एक राक्षसी खड़ी हो गई और ``खाऊँ, खाऊँ'' करके दमयंती को डराने लगी ।

दमयंती ने सोचा, ``मुझे इसी ने गुफा-भ्रष्ट किया है ।'' दमयंती एकदम सावधान हो गई । दमयंती के शील धर्म के प्रभाव से वह राक्षसी शांत हो गई और अदृश्य हो गई ।

दमयंती ने नवकार महामंत्र का ध्यान किया । प्रातःकाल होने पर वह पुनः अपनी गुफा की ओर आगे बढ़ी, परंतु उसे कहीं सही रास्ता नहीं मिल पा रहा था । दमयंती भाग्य के भरोसे आगे बढ़ रही थी ।

उसी समय किसी सार्थवाह के कुछ लोग जल की शोध में इधर-उधर भटक रहे थे ।

दमयंती ने पूछा, ``तुम किसकी शोध कर रहे हो ?''

``देवी ! हम चारों ओर पानी की शोध कर रहे हैं ।''

उसी समय दमयंती ने क्षेत्रदेवताओं से प्रार्थना करते हुए कहा, ``यदि मैंने निर्मल शील का पालन किया हो तो इस शील के प्रभाव से इन तृषातुरों की समस्या हल हो जाय ।''

उसी समय दमयंती ने अपने पैर के प्रहार से थोड़ी मिट्टी खोदी और उसके साथ ही भूमि में से पानी बाहर आ गया ।

दमयंती के शीलप्रभाव से हुए इस चमत्कार को देख, वह सार्थवाह एकदम खुश हो गया ।

सार्थवाह ने पूछा, ``आप कौन हैं और इस भयंकर जंगल में कैसे हैं ?''

दमयंती ने कहा, ``मैं अभी तापसपुर में रहती हूँ, मार्ग भूल जाने से इधर आ गई हूँ ।''

सार्थवाह ने कहा, ``तापसपुर तो पीछे रह गया है, फिर भी आप हमारे साथ अचलपुर पधारें, वहाँ से मैं आपको तापसपुर पहुँचा दूंगा ।''

दमयंती उस सार्थ के साथ चलने के लिए तैयार हो गई । कुछ ही दिनों में वह सार्थ अचलपुर पहुँच गया । अचलपुर के महाराजा ऋतुपर्ण की महारानी चंद्रयशा, दमयंती की मौसी लगती थी ।

अचलपुर नगर के बाहर बावड़ी के पास दमयंती बैठी हुई थी, उस समय महारानी चंद्रयशा की दासियाँ पानी भरने के लिए वहाँ आई हुई थीं ।

उन दासियों ने जाकर महारानी से कहा कि नगर के बाहर अद्‌भुत रूप और लावण्य की प्रतिमा समान एक अज्ञात युवती कुएँ के तट पर बैठी है ।

महारानी ने दमयंती को आमंत्रण दिया । दमयंती के रूप-लावण्य को देख चंद्रयशा कुछ सोच में पड़ गई, परंतु उसने सोचा, ``कहाँ कुंडिनपुर और कहाँ अचलपुर ! दमयंती के यहाँ आने की कोई संभावना ही नहीं दिखती है ।'' फिर भी आकृति की समानता देख महारानी ने अपनी पुत्री चंद्रावती को बुलाकर कहा, ``इस अज्ञात युवती में मुझे अपनी बहिन की पुत्री के दर्शन होते हैं अतः तू इसे अपनी बहिन समझकर व्यवहार करना ।''

दमयंती ने अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया । वह अज्ञात बनकर ही अपनी मौसी के यहाँ आनंदपूर्वक दिन व्यतीत करने लगी ।

अचलपुर में दमयंती को अन्य किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं थी, परंतु उन सब सुखों के बीच भी उसे अपने पति के वियोग की व्यथा सता ही रही थी ।

तापसपुर में पर्वत की गुफा में प्रभुप्रतिमा की जो पूजा-भक्ति की थी, उसकी याद दमयंती को सदैव बनी रहती थी ।

नलराजा के वनवास की बात चारों ओर फैलने लगी । क्रमशः ये समाचार कुंडिनपुर नगर में भी पहुँच गए । भीमरथ राजा और पुष्पदंती को इन समाचारों से अत्यंत ही आघात लगा ।

भीमरथ राजा ने नल-दमयंती की शोध के लिए अपने सेवक हरिमित्र को रवाना किया । अनेक गाँवों-नगरों में नल-दमयंती की शोध करते-करते वह अचलपुर नगर आ पहुँचा ।

महारानी चंद्रयशा ने अपनी बहिन पुष्पदंती के नगर से आए सेवक हरिमित्र से पूछा, ``कुंडिनपुर में सब कुशल-मंगल है न ?''

हरिमित्र ने कहा, ``कुंडिनपुर में तो सब क्षेम-कुशल है, परंतु कोशला के समाचार अत्यंत ही हृदयविदारक हैं ।''

रानी ने पूछा, ``वहाँ क्या हुआ है ? जल्दी कहो ।'' हरिमित्र ने कहा, ``कोशला में नल राजा आनंदपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण कर रहे थे, परंतु उनके छोटे भाई ने माया कपट से उन्हें जुएँ में फँसाया, परिणामस्वरूप नल अपना सर्वस्व हार गए, आखिर दमयंती को साथ लेकर उन्हें राज्य छोड़ जंगल में जाना पड़ा । अभी नल-दमयंती अपना वनवास काल व्यतीत कर रहे हैं । उनकी शोध के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ ।''

नल-दमयंती के वनवास की बात सुनकर चंद्रयशा को अत्यंत ही आघात लगा ।

चंद्रयशा ने कहा, ``दमयंती जैसी ही कोई अज्ञात युवती मेरा आश्रय लेकर यहाँ रही हुई है । चलो, उससे मुलाकात कर लें ।''

जैसे ही दमयंती ने हरिमित्र को देखा, उसने पूछ ही लिया, ``तुम यहाँ, कहाँ से ?''

हरिमित्र दमयंती को तत्क्षण पहिचान गया । उसने राजा-रानी को भी दमयंती का परिचय दिया ।

वनवास-गमन के बाद नल ने किस प्रकार दमयंती को जंगल में सोती हुई को छोड़ दिया, ये समाचार सुने तो सभी के आघात का पार न रहा ।

दो दिन वहाँ स्थिरता कर हरिमित्र दमयंती को साथ में लेकर कुंडिनपुर के लिए रवाना हो गया ।

कुछ ही दिनों में दमयंती अपने पिता के घर पहुँच गई । दमयंती की प्राप्ति से एक ओर राजा को बड़ी खुशी हुई तो नल के वियोग की बात सुनकर उनके आघात का पार न रहा ।

लोग नल के विषय में अलग अलग-प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे ।

एक दिन सुसमारनगर से आए दूत ने राजा को कहा, ``नल राजा के वनवास की बात की तो सुसमार नगर में गंध भी नहीं आई है, परंतु नल राजा का एक रसोइया जरूर ऋतुपर्ण राजा की सेवा में है । जो हमेशा सूर्यपाक रसोई बनाकर राजा को खुश करता है ।''

जब दमयंती को ये समाचार मिले तो उसने अपने पिता को आत्म-विश्वास के साथ कहा, ``वे आपके दामाद ही होने चाहिए, क्योंकि नलराजा को छोड़कर सूर्यपाक की कला दुनिया में कोई नहीं जानता है । अतः आप उनकी अवश्य छानबीन कराएँ ।''

नगर में चारों ओर नल के वनवास की बात फैल गई ।

भीमराजा ने नल की शोध के लिए एक सेवक को सुसमार नगर भेजा । उसने वहाँ एक कुबड़े को देखा । उस सेवक ने उस कुबड़े को दो श्लोक सुनाए–

अनार्याणामलज्जानां, दुर्बुद्धीनां हतात्मनां ।
रेखां मन्ये नलस्येव यः सुप्तमत्यजत् प्रियां ।।1।।
विश्वास्य वल्लभां स्निग्धां सुप्तामेकाकिनीं वने ।
त्यक्तुकामोऽपि जातः किं, तत्रैव हि न भस्मसात् ।।2।।

अर्थ : नल राजा की तरह जो सोई हुई का त्याग करे, उसे अनार्य, निर्लज्ज, दुर्बुद्धिवाला और आत्मघ्न में प्रथम रेखा समान समझना चाहिए ।

स्नेहवाली प्रिया को विश्वास में लेकर, ठगकर, वन में अकेली सोई हुई को छोड़कर चले जाने वाला नल, उसी समय भस्मीभूत क्यों नहीं हो गया ?

कुबड़े ने इस बात में रस लिया । उसने उस सेवक को कहा, ``तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक है । बेचारी उस दमयंती का क्या हुआ होगा ? यदि तुम्हारे पास कोई समाचार हो तो कहो ।''

उसने कहा, ``दमयंती तो क्षेम-कुशल अपने पिता के घर पहुँच गई है, परंतु उस नल का कोई पता नहीं है ।''

उस सेवक ने कुंडिनपुर जाकर राजा और दमयंती को समाचार दिये कि वहाँ सूर्यपाक रसोई बनानेवाला तो एकदम कुरूप व कुबड़ा व्यक्ति है, वह नल हो ही नहीं सकता है । वह कुबड़ा होते हुए भी स्वादिष्ट सूर्यपाक रसोई बहुत ही सुंदर बनाता है । पूरे नगर में उसकी प्रसिद्धि है ।

दमयंती ने कहा, ``कुबड़े के रूप में वे नल ही हैं, उनके सिवाय सूर्यपाक रसोई बनाना कोई नहीं जानता है ।''

नल राजा के असली स्वरूप को कैसे प्रगट कराया जाय ? इसके लिए अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क पैदा होने लगे । आखिर दमयंती की सलाह अनुसार एक योजना को अंतिम रूप दिया गया ।

सुसमारपुर के महाराजा दधिपर्ण को समाचार भेजे गए कि वर्षों से नलराजा का कोई पता नहीं लगने से दमयंती के पुनः स्वयंवर का निश्चय किया गया है, अतः आपको स्वयंवर में पधारने के लिए भावभरा आमंत्रण है ।

दधिपर्ण ने सोचा, ``कुंडिनपुर यहाँ से 800 कोस दूर है, जब कि स्वयंवर के लिए सिर्फ तीन दिन ही बचे हैं, इतने कम समय में इतनी लंबी दूरी पार करना कैसे संभव है ?''

नल के बाद अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझने वाले दधिपर्ण राजा के सामने सबसे बड़ी समस्या थी कि इतनी कम अवधि में इतनी लंबी दूरी कैसे पार की जाय ?

दमयंती के पुनःस्वयंवर के समाचार जब कुबड़े को मिले तो उसने सोचा, ``अपने प्राणों का बलिदान देकर भी महासती अपने शील का भंग होने नहीं देती है । वह पर-पुरुष की इच्छा भी नहीं करती है तो महासती दमयंती के दूसरे स्वयंवर की बात कैसे सही हो सकती है ? जरूर इस योजना के पीछे कुछ रहस्य होना चाहिए ।''

कुबड़े के रूप में रहे नल को अपने पिता का वचन याद आ गया । ठीक 12 साल के बाद तुम्हें अपनी पत्नी का संयोग होगा । पिता के इस वचन को याद कर नल जब वर्ष गिनने लगा तो उसे पता चला कि 12 वर्ष में सिर्फ तीन दिन ही बाकी हैं ।

``दमयंती ने मुझे पति रूप में स्वीकारा है तो उसके सिर पर अब कोई दूसरा पति हो ही नहीं सकता । या तो वह मुझे मिलेगी या फिर अग्नि की शरण स्वीकार करेगी ।'' इस प्रकार विचार कर वह कुबड़ा महाराजा के महल में पहुँच गया ।

स्वयंवर के आमंत्रण से एक ओर महाराजा को अपार खुशी थी तो बीच में रहे अल्पकाल के अंतर से महाराजा व्यथित भी थे ।

कुबड़े ने जब महाराजा को व्यथा का कारण पूछा तो महाराजा ने कहा, ``कुंडिनपुर जाने की इच्छा है, परंतु वहाँ पहुँचना शक्य नहीं है, क्योंकि स्वयंवर में सिर्फ तीन दिन ही बाकी हैं ।''

कुबड़े ने कहा, ``राजन् ! आप रथ तैयार कराएँ, मैं आपका सारथी बनूंगा और आपको स्वयंवर के पहले ही पहुँचा दूंगा ।''

पहले तो महाराजा को कुबड़े के वचनों पर विश्वास नहीं आया परंतु जब उसने पूर्ण विश्वास के साथ कहा तो महाराजा कुंडिनपुर जाने के लिए तैयार हो गए ।

महासती दमयंती ने अपने पुनःस्वयंवर के पीछे यह योजना बना दी थी कि नल राजा की मदद के सिवाय सिर्फ तीन दिन में दधिपर्ण राजा यहाँ आ ही नहीं सकते हैं, क्योंकि पवनवेग से रथ को हाँकने की कला में नलराजा ही निष्णात हैं ।

दमयंती की योजनानुसार दधिपर्ण राजा कुबड़े को सारथी बनाकर रथ में बैठकर कुंडिनपुर जाने के लिए प्रयाण कर चुके थे ।

दधिपर्ण राजा का रथ पवन की तरह आकाश में उड़ रहा था ।

बीच मार्ग में राजा ने कहा, ``मैं वृक्ष देखकर वृक्ष पर रहे फलों की संख्या बता सकता हूँ ।''

कुबड़े ने रथ को रोकना चाहा तो राजा ने कहा, ``लौटते समय यह प्रयोग अवश्य बतायेंगे ।''

बस, उसी समय रथ को रोक दिया गया । सामने खड़े वृक्ष को देखकर राजा ने कह दिया, ``इस वृक्ष पर 18000 फल हैं, तुम चाहो तो गिन सकते हो । परंतु अभी समय कम होने से यह गिनती लौटते समय करना ही उचित होगा ।''

कुबड़े ने कहा, ``आप निश्चिंत रहें, मैं आपको समय से पहले पहुँचा दूंगा ।''

उसी समय उस कुबड़े ने अपनी मुष्टि के तीव्र प्रहार से वृक्ष पर रहे सभी फलों को नीचे गिरा दिया । उसके बाद उन फलों को गिना गया तो कुल 18000 फल थे ।

कुबड़ा महाराजा की इस गणित कला से एकदम खुश हो गया ।

उसने कहा, ``राजन् ! आप मुझे यह गणितकला सिखा दो तो मैं आपको अश्वकला सिखा दूंगा ।''

दोनों ने अपनी कला एक दूसरे को प्रदान कर दी ।

वह रथ वायुवेग से बढ़ता गया और स्वयंवर के एक दिन पूर्व ही कुंडिनपुर पहुँच गया ।

राजा भीमरथ और दमयंती को जब दधिपर्ण राजा के आगमन के समाचार मिले तो उनके आनंद का पार नहीं रहा । भीमरथ ने दधिपर्ण राजा का भावभीना आदर-सत्कार किया ।

दधिपर्ण ने कहा, ``कुबड़े के रूप में मुझे यह सारथी नहीं मिला होता तो मैं इतना जल्दी नहीं आ सकता था । इतना ही नहीं, यह कुबड़ा तो सूर्यपाक कला में भी अत्यंत निपुण है ।''

भीमरथ राजा आदि की इच्छा होने से कुबड़े ने उस दिन सूर्यपाक कला से रसोई बनाकर सभी को खिलाई । उस रसोई को खाकर सब खुश हो गए ।

नल और दमयंती के वियोग को लगभग 12 वर्ष पूर्ण हो चुके थे, सिर्फ एक ही दिन बाकी था ।

दधिपर्ण राजा की सभा खचाखच भरी हुई थी, तभी भीमरथ राजा ने दमयंती को वरमाला हाथ में देते हुए कहा, ``तू अपने योग्य स्वामी को वर सकती है ।''

दमयंती ने वह वरमाला अपने हाथों में ली और दधिपर्ण राजा को छोड़कर, उनके पास बैठे कुबड़े के गले में वरमाला डाल दी ।

सभी के आश्चर्य का पार न रहा । दधिपर्णराजा को भी गुस्सा आ गया और वे बोले, ``अहो ! मेरा इतना भयंकर अपमान ! यदि कुबड़े को ही यह वरना चाहती थी तो मुझे आमंत्रण देने की क्या जरूरत थी ?''

भीमरथ राजा ने उन्हें शांत करते हुए कहा, ``आप थोड़ा धैर्य रखें ।''

कुबड़े ने सोचा, ``अब 12 वर्ष की अवधि पूर्ण हो चुकी है अतः अपना मूल स्वरूप प्रगट किए बिना छुटकारा नहीं है ।''

उसने उसी समय करंडिया खोला और उसमें रखा श्रीफल फोड़ा । दिव्य वस्त्र और अलंकारों को धारण करते ही कुबड़े की काया नल में बदल गई ।

सभी के आश्चर्य का पार न रहा ।

दधिपर्ण राजा भी सोच में पड़ गए कि क्या कुबड़े के रूप में रहे नल राजा ही थे ।

दधिपर्ण राजा नलराजा के चरणों में गिर पड़े और बोले, ``आपका कुछ भी अविनय हुआ हो तो आप मुझे क्षमा करें ।''

नल ने कहा, ``आपने तो मेरा खूब रक्षण किया है, अतः आपको क्षमायाचना करने की कोई जरूरत नहीं है ।''

दमयंती के भी आनंद का पार न रहा । उसने कहा, ``स्वामिन् ! अब तो आप मुझे छोड़कर चले नहीं जाओगे न ! हाँ, उस समय तो मैं जंगल में सोई हुई थी जबकि आज तो मैं महल में जाग रही हूँ ।''

नल ने कहा, ``देवी ! भूतकाल को अब भूल जाने में ही सार है ।''

कुंडिनपुर नगर में घर-घर में नल-दमयंती के संयोग-वियोग की कथा गूंजती रही । नल-दमयंती के पुनः संयोग की कथा जब कोशला नगरी में पहुँची तो कुबेर के आघात का पार न था । उसने तो सोचा था कि वनवास में रहे नल-दमयंती ऐसे ही मौत के मुख में चले जाएंगे ।

नल-दमयंती के भाग्य ने अब करवट बदल ली थी, उनके भाग्य का सितारा अब सोलह कलाओं से खिल उठा था ।

एक मास के आतिथ्य सत्कार के बाद नल दमयंती ने अपने विशाल परिवार के साथ कोशलानगरी की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया ।

नलराजा क्रमशः आगे बढ़ता हुआ कोशलानगरी के समीप पहुँचा ।

नल ने अपना दूत भेजकर कुबेर को संदेश कहलवाया कि वह चाहे तो युद्ध द्वारा और वह चाहे तो पुनः जुएँ के द्वारा हार-जीत का निर्णय कर सकता है ।

कुबेर ने सोचा, ``युद्ध में तो नल को जीतना मेरे वश की बात नहीं है, क्योंकि उसका सैन्यबल खूब बढ़ गया है, लेकिन जुएँ की कला में तो मैं ही होशियार हूँ, अतः उसे वापस जीत लूंगा ।'' इस प्रकार सोच कर उसने जुएँ की शर्त मंजूर कर ली ।

और एक दिन पुनः नल और कुबेर जुआँ खेलने के लिए बैठ गये । अब कुबेर का पुण्य क्षीण हो चुका था । नल भविष्य में भारत का भाग्यविधाता बनने वाला था, अतः उस जुएँ में नल जीतता ही गया और कुबेर सब कुछ हारता ही गया ।

कुबेर अपना राज्य हार गया, यावत् अपनी सर्वस्व संपत्ति भी हार गया ।

कुबेर की हार के साथ ही सामंत व मंत्रीजनों ने पुनः नल का राज्याभिषेक किया । राज्याभिषेक के बाद, यद्यपि नल सब कुछ जीत चुका था, परंतु उसने अपनी सज्जनता बताते हुए कहा, ``मैं कुबेर को युवराज का पद प्रदान करता हूँ ।''

नल राजा बने और कुबेर युवराज बना । नल का पुण्य बढ़ता ही गया । सभी राजा नल के आधीन हो गए ।

भारत के भाग्यविधाता के रूप में नल की कीर्ति दिग्-दिगंत तक फैलने लगी ।

राज्यधुरी को वहन करते हुए नल को कई वर्ष बीत गए ।

निषधदेव, वे नल के पिता ही नहीं थे, धर्मपिता भी थे । दुनिया की मौज-मजा में आकंठ डूबे नल को देखकर निषधदेव ने नल को प्रतिबोध देने का संकल्प किया ।

ग्रीष्म ऋतु के दिन थे । नल राजा आम्रकुंज में आराम कर रहे थे । तभी उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा । नल ने देखा, एक पुरुष आम के पके हुए मीठे मधुर व सुगंधित फलों को छोड़कर आम्रवृक्ष के पत्ते चबा रहा है । यह दृश्य देख नल ने उससे कहा, ``अरे मूर्ख ! उत्तम व मधुर फलों की उपेक्षा कर तू ये तुच्छ पत्ते क्यों चबा रहा है ?''

नल के इस प्रश्न को सुनकर उस पुरुष ने नल को जवाब देते हुए कहा, ``यदि फलों को छोड़कर पत्ते चबानेवाला मैं मूर्ख हूँ तो आप भी महामूर्ख ही हैं ।''

राजा ने पूछा, ``कैसे ?''

उसने कहा, ``मानव-भव रूपी कल्पवृक्ष का वास्तविक फल तो संयम-धर्म की साधना है, इस जीवन की प्राप्ति के बाद भी संयम साधना के फल की उपेक्षा कर संसार के क्षणिक-भौतिक सुखों में पागल बनना क्या महामूर्खता नहीं है ?''

इन शब्दों को सुनकर नलराजा को थोड़ा आघात लगा । वह कुछ पूछने जाय इस बीच तो निषधदेव का तेजोमय देह आँखों के सामने खड़ा हो गया ।

नल ने कहा, ``आपका आगमन कैसे ?''

देव ने कहा, ``वत्स ! तेरी सोई हुई आत्मा को जगाने के लिए आया हूँ ! दुनिया के सभी सुख क्षणिक व नाशवंत हैं, उन सुखों में पागल बनने में कोई मजा नहीं है, क्योंकि वे सुख कटु विपाक देनेवाले हैं । संयम के प्रभाव से ही मुझे देवभव की प्राप्ति हुई है, यह मानवभव ऐसे ही गँवाने जैसा नहीं है । मुक्ति की श्रेष्ठतम साधना इसी भव में शक्य है ।''

निषधदेव के इन शब्दों ने नल की सोई हुई आत्मा को जगा दिया ।

समझदार के लिए तो इशारा ही काफी होता है ।

नल ने जब दमयंती को सारी बात कही तो वह भी संयम-जीवन के

स्वीकार के लिए तैयार हो गई । **सच्ची धर्मपत्नी सुख-दुःख में अपने पति के ही मार्ग का अनुसरण करनेवाली होती है ।**

नल-दमयंती संयम-स्वीकार के लिए समुत्सुक बने हुए थे, तभी उद्यानपाल ने आकर बधाई देते हुए कहा, ``नगर के बाह्य उद्यान में आचार्य जिनसेनसूरिजी म. पधारे हैं ।''

भूखे को भोजन और प्यासे को पानी की प्राप्ति की तरह ये समाचार मिलते ही नल-दमयंती अत्यंत खुश हो गए । वे अपने परिवार के साथ पूज्य आचार्यदेव को वंदन करने के लिए निकल पड़े ।

अवसर देख पूज्य आचार्य भगवंत ने वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना दी । उस देशना के श्रवण से नल-दमयंती की वैराग्य-ज्योति और अधिक प्रज्वलित हो उठी ।

एक शुभ दिन नल ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और मंगल-मुहूर्त में उन दोनों ने श्रमण धर्म का स्वीकार कर लिया ।

नल-दमयंती सुंदर ढंग से निर्मल संयम धर्म की साधना में मग्न बने हुए थे ।

एक बार अचानक नल का पापोदय हुआ और उन्हें पुनः संसार के भोग-सुखों की याद आ गई । वे संयम में शिथिल बनने लगे । उन्होंने गुरुदेव को अपने मानसिक पाप की बात बताई तो पूज्यगुरूदेव ने भी उन्हें वैराग्य में दृढ़ बनने के लिए सुंदर प्रेरणा की ।

इधर दमयंती को इस बात का पता चला तो उसने अपने संयम की चादर को निष्कलंक बनाए रखने के लिए अनशन व्रत स्वीकार कर लिया ।

इधर निषधदेव ने आकर नल को पुनः संयम में स्थिर रहने के लिए प्रबल प्रेरणा की । इस प्रेरणा के फलस्वरूप नल पुनः संयम में स्थिर बने और उन्होंने भी अनशन व्रत स्वीकार किया ।

एक मास के अनशन के बाद अपना देह त्याग कर नल की आत्मा लोकपाल कुबेरदेव के रूप में उत्पन्न हुई और दमयंती उनकी प्रिया देवी बनी ।

अपने देवभव के आयुष्य को पूर्णकर दमयंती द्वारिका नगरी में वसुदेव की पत्नी कनकवती बनी । उसने भी नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया ।

नल भी अपने देव-भव को पूर्णकर मानव-भव प्राप्तकर संयम की साधना करके मोक्ष गए ।

7. महासती नर्मदा सुंदरी

प्रातःकाल की मधुर वेला में
जिन महासतियों के नाम का
पवित्र स्मरण किया जाता है,
उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि
उन्होंने मरणांत कष्टों में भी
अपने शील को बचाने के लिए
भरसक प्रयत्न किये ।

नदी के जलप्रवाह की भाँति
प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में
उतार-चढ़ाव तो बहुत आते हैं,
परंतु उनमें 'स्थिर' विरले ही होते हैं ।

महासती नर्मदा का जीवन भी
अनेक असमंजसों से भरा-पूरा है,
परंतु कैसे भी संयोगों में वह
शील धर्म से लेश भी च्युत नहीं बनी है ।

उसने अपने सास-श्वसुर को भी जैनधर्म में दृढ़ किया था ।
अंत में चारित्र धर्म स्वीकार कर
सद्गति प्राप्त की, क्रमशः मोक्षपद प्राप्त करेगी ।

नर्मदा सुंदरी ने जो कर्म बाँधे, उन कर्मों की सजा
उसे अवश्य भुगतनी पड़ी ।
परंतु शीलवती महासतियाँ अशुभ कर्म के उदय में भी लेश भी
विचलित न होकर समतापूर्वक सहन करती हैं ।
ठीक ही कहा है-

ये पालयन्ति सच्छीलं, स्वर्गापवर्गदायकम् ।
नर्मदासुंदरीवालं, ते पूज्याः स्युर्महीतले ।।

जो स्वर्ग और अपवर्ग के सुख को देनेवाले निर्मल शील का पालन करते हैं वे नर्मदासुंदरी की तरह पृथ्वीतल पर भी जगत् पूज्य बनते हैं ।

7

नर्मदा सुंदरी

भरत क्षेत्र !

वर्धमानपुर नगर ! उस नगर में संप्रति नाम का राजा न्यायपूर्वक राज्य का पालन करता था ।

उसी नगर में ऋषभसेन नाम का सार्थवाह रहता था, उस सार्थवाह के वीरमती नाम की पत्नी थी । ऋषभसेन के सहदेव और वीरदास नाम के दो पुत्र और ऋषिदत्ता नाम की एक पुत्री थी ।

सार्थवाह ने अपने दोनों पुत्र और पुत्री को हर तरह का शिक्षण दिया । व्यावहारिक शिक्षण के साथ उन्होंने धार्मिक शिक्षण भी प्राप्त किया ।

धीरे धीरे ऋषिदत्ता ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । यौवन वय में प्रवेश के साथ ही ऋषिदत्ता का देह-सौंदर्य भी एकदम खिल उठा ।

अपनी पुत्री की युवावस्था को देखकर पिता के दिल में उसके सुयोग्य वर की चिंता सताने लगी । सार्थवाह की तीव्र अभिलाषा थी कि ऋषिदत्ता किसी जैन धर्म के उपासक को ही देनी है ।

अनेक मिथ्यादृष्टि युवक ऋषिदत्ता के साथ पाणिग्रहण करने के लिए समुत्सुक थे, परंतु ऋषभसेन अपनी पुत्री उन मिथ्यादृष्टियों को देने के लिए बिल्कुल राजी नहीं था ।

एक बार रूपचंद्रनगर से रुद्रदत्त नाम का वणिक् पुत्र व्यापार के उद्देश्य से उस नगर में आया । उसका हृदय मिथ्यात्व से वासित था । वह कुबेरदत्त नाम के मित्र के घर पर रहा हुआ था ।

रुद्रदत्त भी युवा था, उसके दिल में भी सांसारिक मौज-मजा के लिए खूब उत्सुकता थी । एक बार वह अपने घर के गवाक्ष में बैठा हुआ था, तभी उसने सखी वृंद से युक्त रूप और लावण्य की साक्षात् प्रतिमा समान ऋषिदत्ता को देखा । ऋषिदत्ता के अद्‌भुत रूप-सौंदर्य को देखकर वह रुद्रदत्त पानी-पानी हो गया । किसी भी उपाय से वह उसके साथ पाणिग्रहण करने के लिए उत्कंठित हो गया ।

वह रुद्रदत्त पुनःपुनः ऋषिदत्ता के रूप को देखने लगा । उसके रूप में मोहित बना रुद्रदत्त सोचने लगा, ``अहो ! यह कन्या कौन है ? कोई देवी है ? रति है ? प्रीति है या पातालकुमारी है ?''

उस कन्या के स्वरूप को जानने के लिए उसने चारों ओर पूछताछ की । कुबेरदत्त के द्वारा उसे पता चला कि यह तो ऋषभसेन श्रावक की पुत्री है और वह ऋषभसेन श्रावक के बिना किसी भी मिथ्यादृष्टि को अपनी पुत्री देने के लिए राजी नहीं है ।

किसी भी उपाय से ऋषिदत्ता को मुझे प्राप्त करना है । इस प्रकार का दृढ़ निश्चयकर वह रुद्रदत्त ऋषिदत्ता को पाने के लिए कपटी श्रावक बन गया । किसी जैन मुनि के सान्निध्य में रहकर उसने जैन धर्म का प्राथमिक परिचय भी प्राप्त कर लिया ।

ऋषभसेन को प्रभावित करने के लिए मायापूर्वक वह प्रभुभक्ति और पूजा-पाठ भी करने लगा । उसने अपने बाह्य आचरण से ऋषभसेन को खूब प्रभावित किया । ऋषभसेन भी उसकी कपटलीला को समझ नहीं पाया ।

एक बार रुद्रदत्त के बाह्य आचरण से प्रभावित हुए ऋषभसेन ने रुद्रदत्त को अपने गृहांगण में भोजन के लिए आमंत्रण दिया । उसके प्रभुभक्ति और जैन धर्म के बाह्य आचारों से प्रभावित हुए ऋषभसेन ने अपनी पुत्री का पाणिग्रहण रुद्रदत्त के साथ करा दिया ।

रुद्रदत्त की मनोकामना पूर्ण हो चुकी थी । उसके आनंद का पार न रहा । वह अपने आपको कृतार्थ समझने लगा । कुछ दिनों तक उसी नगर में रहकर वह रुद्रदत्त अपने नगर में आकर अपने माता-पिता से मिला ।

ऋषिदत्ता जैसी खूबसूरत पुत्रवधू को पाकर उसके माँ-बाप भी बहुत खुश हो गए ।

अपने लक्ष्य की पूर्ति हो जाने से अवसर देखकर रुद्रदत्त ने जैन धर्म को छोड़ दिया ।

पति के संसर्ग से ऋषिदत्ता ने भी जैन धर्म छोड़ दिया ।

आम और नीम के मूल के संयोग से आम को ही नुकसान होता है आम ही नीम में बदलता है, न कि नीम आम में ।

दुनिया में अच्छी वस्तु का प्रभाव जल्दी नहीं होता है, जबकि खराब वस्तु का प्रभाव जल्दी होने लगता है । मुर्दे के संग से वायु भी दुर्गंधित हो जाती है ।

ऋषिदत्ता के माता-पिता को जब इस बात का पता चला कि ऋषिदत्ता ने जिनधर्म छोड़ दिया है और वह मिथ्यात्व से वासित हो गई है, तो यह सब जानकर उन्हें अत्यंत ही खेद हुआ । उन्होंने ऋषिदत्ता को अपने घर बुलाना बंद कर दिया ।

एक दिन ऋषिदत्ता ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया ! बालक का नाम महेश्वरदत्त रखा गया । धीरे-धीरे महेश्वरदत्त ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । उसने पुरुष योग्य सभी कलाएँ सीखीं ।

इधर ऋषभसेन के पुत्र सहदेव का विवाह श्रीदत्त श्रेष्ठी की पुत्री सुंदरी के साथ हुआ । समय बीतने पर शुभ स्वप्न से सूचित सुंदरी गर्भवती बनी ।

गर्भ के प्रभाव से सुंदरी को नर्मदा नदी में जल क्रीड़ा करने का दोहद उत्पन्न हुआ । एक दिन सहदेव ने नर्मदा नदी में जलक्रीड़ा की । सहदेव व्यवसाय हेतु नर्मदा नदी के तट पर ही रह गया । उसने वहाँ पर नर्मदापुर नाम के नगर की स्थापना की । उसने उस नगर में सुविशाल जिनमंदिर का निर्माण कराया । जिनभक्ति के द्वारा उसने अपने सम्यक्त्व का पोषण किया और उसे निर्मल बनाया ।

बहुत से व्यापारी उस नगर में आकर अपना व्यवसाय करने लगे । अनेक लोगों ने अनेक जिनमंदिरों का वहाँ निर्माण करा दिया ।

एक शुभ दिन सुंदरी ने एक तेजस्वी लक्षणयुक्त पुत्री को जन्म दिया । पिता ने पुत्री का जन्म महोत्सव मनाया । एक शुभ दिन उस पुत्री का ``नर्मदासुंदरी'' इस प्रकार नामकरण किया । धीरे-धीरे नर्मदासुंदरी बड़ी होने लगी । उम्र की वृद्धि के साथ उसके रूप और सौंदर्य में भी निखार आने लगा । नर्मदासुंदरी ने सभी कलाएँ अर्जित कीं ।

नर्मदासुंदरी के अद्‌भुत रूप और लावण्य को सुनकर ऋषिदत्ता ने अपने पुत्र के लिए उसकी याचना की, परंतु मिथ्याधर्म से वासित होने के कारण सहदेव ने अपनी पुत्री, ऋषिदत्ता के पुत्र को देने से इन्कार कर दिया। इस बात को जानकर ऋषिदत्ता को खूब आघात लगा।

वह मन में अत्यंत ही पश्चात्ताप करती हुई सोचने लगी, ``अहो ! मुझे धिक्कार हो ! मेरी ही दुष्प्रवृत्ति के कारण मैं अपने स्वजनों से ही दूर हो गई हूँ। जैनधर्म का त्याग करके मैं सब कुछ हार गई हूँ। अहो ! पर्व दिनों में भी मेरे स्वजन मुझे नहीं बुलाते हैं। वे मेरे स्वजन मेरे पुत्र महेश्वरदत्त को अपनी पुत्री कैसे प्रदान करेंगे ?'' इस प्रकार विचारकर वह ऋषिदत्ता अत्यंत ही करुण विलाप करने लगी।

उसे रोती हुई देखकर पुत्र ने उसके रुदन का कारण पूछा।

ऋषिदत्ता ने अपने पुत्र के आगे अपने दिल की बात कही।

माँ की इस वेदना को जानकर महेश्वरदत्त ने अपनी माँ को आश्वासन देते हुए कहा, ``माँ ! आप इतनी चिंता न करें। आप मुझे वहाँ पर भेजें। मैं वहाँ जाकर स्वजनों को खुश करने की कोशिश करूंगा और मामा की पुत्री के साथ पाणिग्रहण करके तुम्हें भी खुश करूंगा।''

माँ की अनुमति प्राप्तकर एक शुभ दिन महेश्वरदत्त ने वहां से प्रयाण किया। वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ नर्मदापुर नगर में आया।

महेश्वरदत्त अपने मामा आदि सभी स्वजनों से मिला। यद्यपि महेश्वर दत्त मिथ्यात्व से वासित था, फिर भी सभी स्वजनों ने उसका औचित्य पालन करते हुए स्वागत आदि किया।

महेश्वरदत्त ने भी अपने धीरता-गम्भीरता आदि गुणों से सभी को संतुष्ट किया।

एक बार महेश्वरदत्त के सद्‌गुणों से अभिभूत हुई सुंदरी ने उससे कहा, ``तूने मेरे दिल को हर लिया है, अतः तेरी जो भी इच्छा हो, मुझ से माँग ले।''

महेश्वरदत्त ने कहा, ``मुझे और कुछ नहीं चाहिए, मुझे तो सिर्फ नर्मदासुंदरी चाहिए।''

सुंदरी ने कहा, ``तुम्हारी कामना उचित है, परंतु तुम मिथ्यात्व से वासित हो, अतः तुम्हें अपनी पुत्री कैसे दूँ ?''

महेश्वरदत्त ने कहा, ``कुल की चर्चा करने से क्या फायदा है ? मुझे तो जिनधर्म पसंद है और मैं जिनधर्म का परम उपासक हूँ। यदि तुम्हें विश्वास नहीं हो तो तुम मेरी अच्छी तरह से परीक्षा कर सकते हो ?''

महेश्वरदत्त की इन बातों को सुनकर सहदेव और सुंदरी को विश्वास आ गया कि वह जिनधर्म का परम उपासक है ।

आखिर एक शुभ दिन महेश्वरदत्त के साथ नर्मदासुंदरी का पाणिग्रहण हो गया ।

नर्मदासुंदरी जैन धर्म के तत्त्वज्ञान के विषय में खूब होशियार थी । जैन धर्म में कुशल ऐसे पति को प्राप्तकर वह खुश हो गई ।

कुछ समय तक वहाँ स्थिरता कर श्वसुर आदि की अनुज्ञा प्राप्तकर महेश्वरदत्त अपने नगर में आ गया ।

श्वसुरगृह आने के बाद नर्मदासुंदरी ने अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों के द्वारा ऋषिदत्ता को भी मिथ्यात्व से मुक्त कराया । इतना ही नहीं, आगे चलकर उसने अपने पूरे परिवार को जिनधर्म से वासित कर दिया ।

नर्मदासुंदरी जिनधर्म की अच्छी तरह से आराधना-साधना करने लगी । इस प्रकार जिनधर्म की आराधना करते हुए काफी समय बीत गया । वह अपने पवित्र आचरण द्वारा श्वसुर आदि समस्त परिवार को खुश रखती थी ।

एक बार गवाक्ष में बैठी हुई वह तांबूल का आस्वाद लेती हुई दर्पण में अपना मुँह देख रही थी । अचानक उसने ऊपर से नीचे थूका ! उसी समय वहाँ से एक साधु-महात्मा निकल रहे थे, वह थूक उन महात्मा के सिर पर गिरा । वे महात्मा नाराज हो गए ।

उन्होंने गवाक्ष की ओर नजर की । वहाँ पर नर्मदासुंदरी खड़ी थी । रोष में आकर महात्मा ने नर्मदासुंदरी को कहा, ``साधु की आशातना के कारण तुम्हें तुम्हारे पति का वियोग होगा ।''

महात्मा के इन शब्दों को सुनकर नर्मदासुंदरी एकदम घबरा गई । वह तत्क्षण गवाक्ष से नीचे आ गई । महात्मा के चरणों में गिरकर बोली ।

``हे महात्मन् ! आप क्षमा के महासागर हो ! मैं भोली हूँ, दुर्भागी हूँ ! जैन धर्म की उपासिका होने पर भी मुझ से यह घोर अविनय हो गया है । आप

तो प्राणी मात्र पर वात्सल्य भाव धारण करनेवाले हो । करुणा के महासागर हो, अतः आप मेरे अपराध को क्षमा कर दें !''

''साधु महात्मा तो समदृष्टिवाले होते हैं । वे शत्रु पर भी गुस्सा नहीं करते हैं और स्वजनों पर भी मोहित नहीं होते हैं । अपनी वस्तु के नष्ट होने पर भी वे किसी को शाप नहीं देते हैं ।

''हे महात्मन् ! आप मुझे क्षमा कर दें । आपने मुझे जो शाप प्रदान किया है, उससे मुझे मुक्त कर दें ।''

नर्मदासुंदरी के इन नम्रतापूर्ण वचनों को सुनकर महात्मा का रोष शांत हो गया । उन्होंने कहा, ''हे वत्से ! तू खेद मत कर । कभी भी जैन मुनि किसी को शाप नहीं देते हैं ।

''वंदन द्वारा मान-सम्मान देने पर भी जैन मुनि कभी भी अभिमानी नहीं बनते हैं और न ही किसी की हीलना को देखकर कोपायमान होते हैं । वे तो हर परिस्थिति में राग-द्वेष से रहित होकर शांत चित्तवाले ही होते हैं ।

''मैंने तुम्हें शाप नहीं दिया है, परंतु भावी में जो घटना होनेवाली है, अचानक मेरे मुँह से उसका जिक्र निकल गया है ।''

''किसी के कहने मात्र से किसी को दुःख नहीं हो जाता है । अपने दुष्कर्म के उदय से ही जीव प्रिय व्यक्ति के वियोग के दुःख को प्राप्त करता है ।''

अंत में नर्मदासुंदरी को हितशिक्षा देते हुए उन महात्मा ने इतना ही कहा, ''अपने ही किये हुए कर्मों को भोगते हुए कौन समझदार व्यक्ति दुःखी होता है ? जब हँसते-हँसते कर्म बाँधे हैं तो उन कर्मों की सजा भी हँसते-हँसते ही सहन करना चाहिए ?'' इस प्रकार प्रतिबोध देकर वे महात्मा अन्यत्र चले गए ।

2.

जिनधर्म की आराधना करती हुई नर्मदासुंदरी अपने पति के साथ सुखपूर्वक दिन व्यतीत कर रही थी ।

एक दिन महेश्वरदत्त ने कहा, ''प्रिये ! मैं धनार्जन के लिए विदेश जाना चाहता हूँ ।''

''स्वामिन् ! आप भले जाएँ, परंतु मैं भी आपके साथ चलूंगी ।''

पत्नी के अति आग्रह को देखकर महेश्वरदत्त ने नर्मदासुंदरी को अपने साथ चलने के लिए अपनी सहमति दे दी ।

एक शुभ दिन वाहनों में माल भर दिया गया । नर्मदासुंदरी भी अपने पति के साथ वाहन में आरूढ़ हो गई ।

एक शुभ घड़ी में प्रयाण की भंभा बज उठी । तीव्र गति से सभी वाहन आगे बढ़ने लगे ।

समुद्र मार्ग से आगे बढ़ते महेश्वरदत्त के वाहन किसी द्वीप पर पहुँचे । उस द्वीप पर अचानक थोड़ी दूरी पर रहे हुए एक नवयुवक का मधुर संगीत सुनाई दिया ।

युवक के संगीत के इन मधुर शब्दों को सुनकर नर्मदासुंदरी ने अत्यंत ही सरल स्वभाव से अपने पति को कहा, ``हे स्वामिन् ! हमें जो यह मधुर संगीत सुनाई दे रहा है उस संगीत को गानेवाला पुरुष श्याम वर्ण का है । उसके हाथ-पैर मोटे हैं और बाल अत्यंत ही सुकोमल हैं । उसके गुह्य भाग में लाल मसा है । उसकी दाहिनी जंघा पर लांछन है । उसकी छाती चौड़ी है, वह बत्तीस वर्ष का सत्त्वशाली युवा है ।''

कहा भी है-**``आँखों में स्निग्धता हो तो पुरुष सौभाग्यशाली होता है । दाँतों में स्निग्धता हो तो उस पुरुष को भोजन की प्राप्ति आसानी से होती है । त्वचा में स्निग्धता हो तो व्यक्ति धनवान होता है और पाँवों में स्निग्धता हो तो व्यक्ति को सरलता से वाहन की प्राप्ति होती है ।''**

एक अज्ञात पुरुष के संदर्भ में अपनी पत्नी के मुख से यह सारी जानकारी प्राप्तकर महेश्वरदत्त के दिल में अपनी पत्नी के चरित्र के विषय में शंका पैदा हुई ।

इससे लगता है कि मेरी पत्नी का उस युवक के साथ घनिष्ट संबंध है । वह उस पुरुष में लुब्ध लगती है, अतः ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री के साथ रहकर मुझे अपना जीवन बिगाड़ना उचित नहीं है, अतः ऐसी दुराचारिणी स्त्री का तो त्याग करना ही उचित है ।

इतने समय तक मैं यह मानता था कि यह तो महासती है, परंतु आज मुझे पता चला है कि इसका चरित्र बराबर नहीं है । तो क्या इसे समुद्र में गिरा दूँ अथवा तलवार से इसकी गर्दन उड़ा दूँ । इस प्रकार महेश्वरदत्त अपने मन में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प करने लगा ।

महेश्वरदत्त अपनी प्रिया का कुछ भी अनिष्ट करने की सोच ही रहा था, तभी वाहन के नियामक ने घोषणा की कि यह राक्षस द्वीप आ गया है अतः जल-ईंधन आदि सामग्री की जरूरत हो तो उसे ग्रहण कर सकोगे ।

इस घोषणा को सुनकर कई लोग वाहन में से नीचे उतर गए । उसी समय महेश्वरदत्त भी अपनी पत्नी के साथ समुद्रतट पर नीचे उतर गया ।

माया पूर्वक महेश्वरदत्त अपनी पत्नी को थोड़ी दूर जंगल में ले गया । थोड़ी देर किसी नदी के तट पर रहकर आमोद प्रमोद करने लगा । इसी बीच नर्मदासुंदरी को नींद आ गई ।

महेश्वरदत्त ने सोचा, ``यदि मैं इसे मार देता हूँ तो स्त्री-हत्या का मुझे पाप लगेगा तो क्यों न इसे सोई हुई छोड़कर मैं यहाँ से चला जाऊँ ?'' इस प्रकार विचार कर अपनी पत्नी को वहीं पर सोई हुई अवस्था में छोड़कर महेश्वरदत्त अपने जहाज के पास आ गया उसने अपने साथियों को कहा, ``किसी बाघ ने मेरी प्रिया को खत्म कर दिया है । उसके बिना मैं कैसे रह पाऊँगा ?'' इस प्रकार बोलकर महेश्वरदत्त ने रोने का नाटक किया ।

महेश्वरदत्त को रोते हुए देखकर उसके साथियों ने कहा, ``एक स्त्री के लिए तुम क्यों रोते हो ? वह मर गई है तो दूसरी स्त्री के साथ शादी करा देंगे ! व्यर्थ ही चिंता क्यों करते हो ?''

महेश्वरदत्त ने कहा, ``वह बाघ पास में ही है अतः क्यों न यहाँ से जल्दी रवाना हो जाएँ ।''

बस, महेश्वरदत्त की सूचना होने से तुरंत ही वाहन रवाना किये गये ।

महेश्वरदत्त ने सोचा- उस पापिनी को वहां छोड़ दिया, यह बहुत अच्छा हुआ ।

वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ यवन द्वीप में पहुँचा । वहाँ बहुतसा धन कमाकर वापस अपने नगर में लौट आया ।

अपने घर लौटकर महेश्वरदत्त ने अपने माता-पिता को कहा, ``किसी राक्षस ने नर्मदासुंदरी का भक्षण कर लिया है ।''

महेश्वरदत्त के माता-पिता ने नर्मदासुंदरी का प्रेत कार्य कर लिया और किसी अन्य श्रेष्ठी कन्या के साथ उसकी शादी करा दी ।

इधर कुछ समय के बाद जैसे ही नर्मदासुंदरी जागृत हुई, उसने पंच परमेष्ठी नमस्कार महामंत्र का स्मरण किया । उसके बाद उसने अपने पति को ढूंढने की कोशिश की, परंतु चारों ओर नजर करने पर भी उसे कहीं भी अपना पति दिखाई नहीं दिया । वह अत्यंत ही दुःखी हो गई । वह करुण स्वर से जोर से रुदन करने लगी । ``हे स्वामिन् ! आप आओ । मुझे उत्तर दो ! आप कहाँ चले गए ? आप आकर मुझे खुश करें, आपका वियोग मेरे लिए असह्य हो रहा है ।'' इस प्रकार अत्यंत ही दुःखी बनी हुई नर्मदा समुद्र के तट पर चारों ओर अपने पति की शोध करने लगी । परंतु कहीं से भी उसे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं मिला । वह तीव्र रुदन करने लगी, अपने रुदन के द्वारा वह वृक्षों को भी रुलाने लगी ।

उस वन के हर वृक्षपर उसने अपने पति की शोध की परंतु कहीं से भी उसे कुछ भी जवाब प्राप्त नहीं हुआ ।

येन केन प्रकारेण उसने एक दिन पूरा किया । रात्रि में चंद्रमा का उदय हुआ । चंद्रमा के उदय में वह और अधिक दुःखी हो गई । उसे एक रात भी सौ वर्ष समान लगी ।

प्रातःकाल होने पर पुनः उसका रुदन चालू हो गया । ``हे स्वामिन् ! आप मुझे अकेली छोड़कर कहाँ चले गए ? आप एक बार पधारो और मुझे दर्शन दो ।''

इस प्रकार करुण विलाप करती हुई नर्मदासुंदरी ने पाँच वर्ष समान पाँच दिन जैसे तैसे प्रसार किये । आखिर वह उस स्थान पर आ गई जहाँ पर वह जहाज से नीचे उतरी थी ।

आखिर निराश बनी हुई उस महासती ने जिनवाणी को याद कर शोक का परित्याग किया ।

वह अपनी आत्मा को समझाने लगी- ``हे आत्मन् ! पूर्व जन्मों में इन पापों का उपार्जन किया है तो उन पापों की सजा तुम्हें भुगतनी ही चाहिए । अतः हे मन ! तू विषाद छोड़ दे ।''

सरोवर में स्नान करके वह नदीतट पर स्थित जिनेश्वर भगवंत की पुष्प आदि से पूजा करने लगी । वह नर्मदासुंदरी शोक रहित होकर व्रत ग्रहण करने के लिए तैयार हो गई ।

इधर नर्मदा सुंदरी का चाचा वीरदास, व्यापार के उद्देश्य से नर्मदासुंदरी से अलंकृत उसी बर्बरदेश में आ गया । अपने चाचा को प्रत्यक्ष देखकर नर्मदासुंदरी करुण स्वर से रुदन करने लगी ।

वीरदास ने पूछा, ``बेटी ! तू यहाँ अकेली कैसे ?'' नर्मदासुंदरी ने अपनी सारी आपबीती वीरदास को सुना दी ।

वीरदास ने उसे आश्वासन दिया और उसके दुःख के भार को हल्का कर दिया । वीरदास, नर्मदासुंदरी को लेकर अपने आवास पर आ गया । नर्मदासुंदरी को अपने मंडप में स्थापित कर वह भेंट सामग्री लेकर राजा के पास गया ।

खुश होकर राजा ने वीरदास को शुल्क से मुक्त कर दिया । वीरदास उत्साहपूर्वक नगर में मालसामग्री का क्रय-विक्रय करने लगा ।

इधर उसी नगर में हरिणी नाम की अत्यंत ही प्रसिद्ध वेश्या रहती थी । राजा की उसके ऊपर बहुत बड़ी कृपा थी ।

एक दिन उस वेश्या ने वीरदास को अपने पास बुलाने के लिए किसी दासी को भेजा । वीरदास ने अपने जीवन में स्वदारासंतोष व्रत ग्रहण किया था, अतः उसने वेश्या के आमंत्रण को स्वीकार नहीं किया ।

राजा की ओर से सामुद्रिक यात्रिकों को आदेश था कि वे प्रतिवर्ष एक सौ आठ दीनार उस वेश्या को दें ।

वीरदास ने 108 दीनारें दे दीं, परंतु उस वेश्या ने अपनी दासी को कहा, ``इस धन से कोई प्रयोजन नहीं है, तुम वीरदास को लेकर आओ ।''

वह दासी माया-कपट करके वीरदास को लेकर आ गई ।

वेश्या ने अपने हावभाव आदि द्वारा वीरदास को मोहित करने की कोशिश की । उस वेश्या ने किसी भी उपाय से वीरदास की अंगुली में रही अँगूठी ले ली ।

वेश्या ने अपनी दासी को कहा, ``तुम यह अँगूठी लेकर वीरदास के तंबू में जाओ । वहाँ रही स्त्री को यह अँगूठी बताकर यहाँ ले आओ ।''

वेश्या की दासी ने जाकर नर्मदासुंदरी को कहा, ``वीरदास सेठ हमारे घर पर बैठे हुए हैं, वे तुम्हें बुला रहे हैं । तुम्हारे विश्वास के लिए उन्होंने यह अँगूठी भेजी है ।''

वीरदास के नाम से अंकित मुद्रिका को देखकर नर्मदासुंदरी को विश्वास आ गया और वह उस दासी के साथ वेश्या के घर आ गई ।

घर में प्रवेश के बाद वेश्या ने नर्मदासुंदरी को अपने गर्भगृह में छिपा दिया ।

अखंडित व्रतवाला श्रेष्ठी अपने स्थान में आ गया । उसने चारों ओर नर्मदासुंदरी की शोध की, परंतु कहीं भी उसे नर्मदासुंदरी दिखाई नहीं दी ।

वीरदास ने सोचा, ``जिस व्यक्ति ने मायापूर्वक उस सती नर्मदासुंदरी का अपहरण किया है, वह मेरे यहाँ रहते हुए कैसे प्रकट करेगा ?''

इस प्रकार सोचकर वीरदास ने अपने नगर की ओर प्रयाण कर दिया ।

वीरदास क्रमशः आगे बढ़ता हुआ भृगुपुर नगर में पहुँच गया ।

कुछ समय बाद नर्मदासुंदरी की शोध के लिए जिनदास चला, परंतु उसे भी कहीं से भी नर्मदासुंदरी का पता नहीं चला ।

इधर वीरदास के जाने के बाद वेश्या ने नर्मदासुंदरी को कहा- ``पुरुषों को प्रसन्न कर तुम धन कमाओ ।''

``हे भद्रे ! वेश्यापने का स्वीकार कर तुम अपने जन्म को सफल बनाओ । इन्द्र की इंद्राणी की भाँति तुम राजाओं को मान्य बनो ।''

वेश्या की इन बातों को सुनकर अत्यंत ही दुःखी बनी नर्मदासुंदरी ने कहा, ``जब तक मुझ में प्राण हैं तब तक मेरे शीलरत्न को हरने में कौन समर्थ है ?''

वेश्या ने कहा, ``इस पृथ्वीतल पर हमारा जन्म सफल है, क्योंकि हम यहाँ रहकर भी स्वर्ग-सुखों का अनुभव करती हैं ।''

नर्मदासुंदरी ने कहा, ``अज्ञानी बालक ही चने के बदले में अपने माणिक्य को देने के लिए तैयार होता है । शीलधर्म की आराधना साधना तो मोक्ष सुख को देनेवाली है ।''

नर्मदासुंदरी के इन वचनों को सुनकर वह वेश्या कोपातुर हो गई । अपने इष्ट की सिद्धि के लिए वह उसकी मारपीट करने लगी । वेश्या की मार को सहन करती हुई नर्मदा मन में नवकार महामंत्र का स्मरण करने लगी ।

नर्मदा के शील के प्रभाव से उस वेश्या की ही अकालमृत्यु हो गई ।

मंत्री ने राजा की आज्ञा से वेश्या की मृत्यु के बाद उसके पद पर स्थापित करने के लिए नर्मदासुंदरी से विनती की ।

नर्मदासुंदरी ने सोचा, ``मेरे रूप से मोहित बना राजा यदि मुझे अंत:पुर में डाल देगा तो मैं प्राणों का त्याग करके भी शील का रक्षण करूंगी ।''

एक बार राजसेवक पालकी में उठाकर नर्मदासुंदरी को राजदरबार ले जा रहे थे, उस समय वह बीच में ही नगर की गटर में कूद पडी । उसका सारा शरीर कीचड़ से लिप्त हो गया । गटर में से बाहर निकालने पर वह जानबूझकर अपने वस्त्र फाड़ने लगी और अपने मस्तक पर धूल उछालने लगी ।

व्यंतरी से ग्रस्त की तरह वह इधर-उधर दौड़ने लगी और जोर-जोर से चीत्कार करने लगी । वह अपने विकृत रूप द्वारा लोगों को डराने लगी ।

भयभीत बने लोग बातें करने लगे, ``यह कन्या व्यंतरी से ग्रस्त बन गई है ।''

मंत्री ने राजा से बात की, ``हे राजन् ! वह कन्या पागल हो गई है । व्यंतरी की तरह दिखाई देती है ।''

राजा ने मांत्रिकों को बुलाकर उसकी पिटाई कराई । वह पागल होकर कुछ रास गाने लगी ।

व्यंतरी की तरह पागल बनी हुई नर्मदासुंदरी को जिनदास ने देखा । उसने कहा, ``तू कौन है ? जिनभक्त या व्यंतर-अधिष्ठित ?''

नर्मदासुंदरी ने कहा, ``यदि तुम जैन हो तो मुझसे एकांत में बात करना ।''

जिनदास उसके पीछे पीछे गया । जिनदास ने हाथ जोड़कर कहा, ``तू कौन है ?'' उसे श्रावक समझकर उसने भी सारा वृत्तांत सुना दिया ।

उसकी सारी परिस्थिति जानकर जिनदास ने कहा, ``अच्छा हुआ, तुम मुझे मिल गई हो, मैं तुम्हारी शोध में ही यहाँ आया हूँ ।''

``हे वत्से ! वीरदास ने ही मुझे तुम्हारी शोध के लिए यहाँ भेजा है । अत: तुम लेश भी खेद मत करना । सब अच्छा होगा । कभी अच्छा करने के लिए माया का भी आश्रय करना पड़ता है । अब तुम घड़े आदि को फोड़ने की चेष्टा करना, जिसके फलस्वरूप राजा तुम्हें नगर से बाहर निकाल देगा ।''

जिनदास की बात को स्वीकार कर नर्मदासुंदरी ने वो ही तोड़फोड़ चालू कर दी, जिसके फलस्वरूप वह नगर से बाहर निकाल दी गई ।

वहाँ से जिनदास, नर्मदासुंदरी को लेकर चल पड़ा । क्रमशः वह आगे बढ़ने लगा । नर्मदासुंदरी को स्नान कराकर सुंदर वस्त्र प्रदान किये । क्रमशः जिनदास नर्मदापुर में आ गया । वहाँ उसके माता-पिता स्वजन आदि के साथ उसका मिलन हुआ ।

ऋषभसेन आदि भी खुश हो गए । नर्मदासुंदरी को जीवंत देखकर सभी ने जन्मोत्सव की तरह उसका महोत्सव मनाया ।

वहाँ कुछ दिन रहकर जिनदास भृगुपुर नगर में आया ।

सद्भाग्य से आर्य सुहस्तिसूरिजी म. का वहाँ आगमन हुआ । अपने पिता के साथ नर्मदासुंदरी भी देशना सुनने के लिए आचार्य भगवंत के पास आई ।

आचार्य भगवंत की देशना सुनकर नर्मदासुंदरी की धर्म भावना में वेग आया ।

आचार्य भगवंत की धर्मदेशना के अंत में वीरदास ने विज्ञप्ति करते हुए कहा, ``भगवंत ! नर्मदासुंदरी ने गत भव में ऐसा कौनसा दुष्कर्म किया था, जिसके फलस्वरूप निष्कलंक होने पर भी वह दुःख का भाजन बनी ?''

ज्ञानी गुरुदेव ने कहा, **``इस जगत् में कर्म का नियम अटल है । राजा हो या रंक हो, गरीब हो या अमीर हो, किये हुए कर्म की सजा जीवात्मा को अवश्य भुगतनी ही पड़ती है । नर्मदासुंदरी ने भी गत भव में जो पाप किया, उसी की सजा उसे भुगतनी पड़ी है ।''**

विंध्याचल पर्वत के ऊपर नर्मदा नाम की नदी है, उस नदी की अधिष्ठायिका नर्मदा देवी थी, वह मिथ्यात्व से वासित होने के कारण मिथ्या-दृष्टि थी । एक बार नर्मदा नदी के तट पर एक महात्मा कायोत्सर्ग ध्यान की साधना कर रहे थे, तभी उस मिथ्यादृष्टि देवी ने उन महात्मा पर भयंकर उपसर्ग किया था ।

उन महात्मा ने देवी के उपसर्ग को भी समतापूर्वक सहन किया था । महात्मा ने उस देवी के ऊपर लेश भी दुर्भाव नहीं किया ।

वो ही देवी वहाँ से च्यवकर नर्मदासुंदरी बनी है । पूर्वभव के अभ्यास

के कारण ही वह जब गर्भ में थी, तब माता को नर्मदा नदी में जलस्नान व क्रीड़ा का दोहद पैदा हुआ था ।

साधु पर उपसर्ग करने के कारण ही इस जीवन में वह कलंकित बनी । ज्ञानी गुरु भगवंत की धर्मदेशना के श्रवण से उसी समय नर्मदा सुंदरी को भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । उसे अपना पूर्व भव प्रत्यक्ष दिखाई दिया । उसे अपने पाप का तीव्र पश्चात्ताप हुआ ।

मोहमाया के बंधनों को तोड़कर नर्मदासुंदरी ने भागवती-दीक्षा अंगीकार की । निर्मल संयम धर्म की आराधना के फलस्वरूप उसे अवधिज्ञान पैदा हुआ । क्रमशः उन्हें प्रवर्तिनी पद प्रदान किया गया ।

नर्मदासुंदरी साध्वी पृथ्वीतल पर विहार करती हुई रूपचंद्रपुर में आई । वहाँ पर महेश्वरदत्त और ऋषिदत्ता भी धर्मश्रवण के लिए आये ।

धर्म सुनकर महेश्वरदत्त ने कहा, ``कलंकित जानकर मैंने अपनी प्रिया का त्याग किया था ।''

साध्वीजी ने कहा, ``वह तो निष्कलंक और सती शिरोमणि थी ।''

महेश्वरदत्त ने अपनी भूल का पश्चात्ताप करते हुए कहा, ``मुझे धिक्कार हो । मैंने व्यर्थ ही उसका त्याग कर दिया ।''

उसे दुःखी देखकर साध्वीजी ने कहा, ``वह मैं स्वयं ही तुम्हारी प्रिया थी ।''

इस बात को सुनकर महेश्वरदत्त को खूब पश्चात्ताप हुआ । उसने आत्म निंदा करते हुए कहा, ``पापी ऐसे मुझे धिक्कार हो ! मैंने व्यर्थ ही उसे जंगल में छोड़ दी थी । मुझसे बड़ा पापी और कौन होगा ?''

नर्मदासुंदरी ने कहा, ``खेद मत करो । सभी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । अतः कोई किसी को सुख या दुःख देता नहीं है ।''

महेश्वरदत्त ने अपनी भूल की क्षमायाचना की और गुरू भगवंत के पास जाकर भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

ऋषिदत्ता ने भी चारित्र जीवन स्वीकार किया । महेश्वरदत्त और ऋषिदत्ता ने नर्मदा के तट पर ही संपूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद प्राप्त किया । वहाँ आकर देवताओं ने महोत्सव किया, अतः लोक में नर्मदा तीर्थ प्रसिद्ध हो गया । अंत में नर्मदासुंदरी भी मोक्ष गई ।

❑ ❑ ❑

8. महासती सीता

पूर्व भव में एक निर्दोष व पवित्र
महात्मा पर दुराचार का कलंक
लगाने के फलस्वरूप
महासती सीता के भव में कलंक आया ।

- अभ्याख्यान-झूठे आरोप का पाप बहुत ही भयंकर है ।
- जो निर्दोष को कलंकित करता है, वह स्वयं कलंकित हुए बिना नहीं रहता है ।
- भारत देश में राम के नाम के साथ ही जिस महासती सीता का नाम बड़े आदर-सम्मान से लिया जाता है, उसी महासती को कलंकित होना पड़ा, कर्म को शर्म नहीं है ।

  किए हुए कर्मों की सजा जीवात्मा को भुगतनी ही पड़ती है ।
- अभी महासती सीता अच्युतेन्द्र के रूप में है और रामचंद्रजी मोक्ष में चले गए हैं ।

(9) महासती नंदा का चरित्र, अभयकुमार (3) के चरित्र में तथा (10) महासती भद्रा का चरित्र, (शालिभद्र के चरित्र में समाविष्ट है ।)

8. महासती सीता

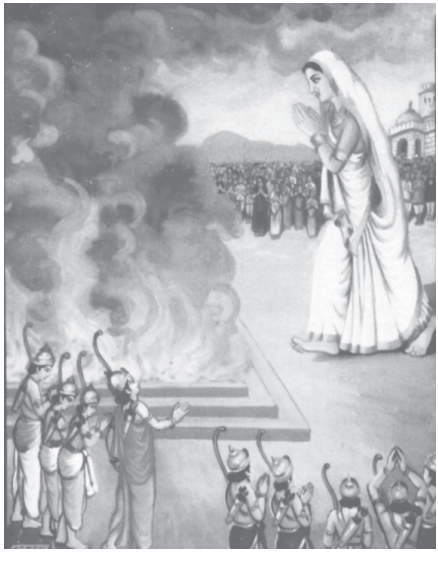

सीता-भामण्डल का जन्म

मिथिला में महाराजा जनक न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का पालन कर रहे थे । जनक वास्तव में प्रजाजन के लिए जनक (पिता) तुल्य थे । वे सबके सुख-दुःख का पूरा ध्यान रखते थे । कालक्रम से जनक राजा की रानी विदेहा गर्भवती हुई । गर्भकाल व्यतीत होने के बाद उसने पुत्र और पुत्री युगल को जन्म दिया । दासी ने पुत्र-पुत्री के जन्म के समाचार महाराजा जनक को दिये । शुभ समाचार सुनकर जनक के आनन्द का पार न रहा । जनक ने दासी को बहुमूल्य हार प्रदान कर उसके दारिद्र्य को सदा के लिए मिटा दिया ।

दूसरे दिन महाराजा जनक ने पुत्र-पुत्री को देखा । जनक के हर्ष का पार न रहा ।

पुत्र का अपहरण

कई बार हम देखते हैं कि मानव कुछ और ही सोचता है और प्रकृति को कुछ और ही मंजूर होता है। पुत्ररत्न को प्राप्त कर राजा-रानी के आनन्द की सीमा न रही, परन्तु उनका यह आनन्द क्षणजीवी ही रहा।

रात्रि के समय महारानी जब अपनी युगल सन्तानों के साथ शय्या पर सोई हुई थी, उसी समय किसी दुष्ट देव ने जनक के पुत्र का अपहरण कर लिया। उस पुत्र को लेकर वह देव किसी पर्वत पर जा पहुँचा और अपने गत भव के वैरभाव को याद कर उसे शिला पर पछाड़ने के लिए तैयार हो गया।

एक ओर पुत्ररत्न को प्राप्त कर जनक और विदेहा के आनन्द का पार नहीं था, तो दूसरी ओर उसी पुत्र को देखकर एक देव रोषायमान हो रहा था और उसे मारने के लिए तैयार हो गया।

पुनः भाग्योदय

दुष्ट देव ने जनक के पुत्र का अपहरण कर लिया और वह उसे मारने के लिए तैयार हो चुका था, परन्तु उस पुत्र के पुण्योदय के कारण उस दुष्ट देव की कुबुद्धि, सुबुद्धि में बदल गई, उसने सोचा-``अरे ! इस सुन्दर बालक की हत्या कर अपना भव-भ्रमण क्यों बढ़ाऊँ ? इस बालहत्या के पाप से मैं कैसे छूटूंगा ?'' इस प्रकार की शुभ विचारधारा के परिणामस्वरूप उस देव ने जनक के पुत्र की हत्या का विचार छोड़ दिया।

उसने शिशु के कानों में कुण्डल व गले में हार आदि पहना दिये और उस बालक को वैताढ्य पर्वत के रथनूपुर नगर के बाह्य उद्यान में फूलों के बीच छोड़कर अदृश्य हो गया।

विदेहा का रुदन

रात्रि के अन्तिम प्रहर की अन्तिम घटिका का समय था। विदेहा की नींद खुल गई। नींद खुलते ही उसने अपनी सन्तान की संभाल ली, पुत्री तो शान्ति से सो रही थी, परन्तु पुत्ररत्न दिखाई नहीं दिया। पुत्र के दिखाई न देने पर विदेहा के दिल पर मानों वज्राघात हुआ हो, ऐसी उसकी स्थिति हो गई।

शयनखण्ड में चारों ओर उसने पुत्र की शोध की, परन्तु कहीं से भी उसे अपना पुत्र प्राप्त नहीं हुआ ।

विदेहा के दुःख का पार नहीं रहा । ``हाय विधाता ! पुत्र-लक्ष्मी देकर भी वापस छीन ली ?''

थोड़ी ही देर में महाराजा जनक को भी पुत्र अपहरण के समाचार मिले । समाचार सुनते ही महाराजा अवाक् हो गये ।

महाराजा ने चारों ओर छानबीन की । प्रतिहारी द्वारपाल व अन्तः पुर के रक्षकों को भी पूछा-``क्या यहाँ से कोई अन्तःपुर में गया था ?''

सभी ने कहा-``स्वामिन् ! निरन्तर जागृतिपूर्वक हम चौकी कर रहे हैं, परन्तु यहाँ से अन्तःपुर में प्रवेश करते हुए हमने किसी को नहीं देखा ।''

चारों ओर कुमार की शोध हुई, किन्तु सबको निराशा ही हाथ लगी ।

संसार अर्थात् सुख-दुःख का चक्र

संसार में सुख और दुःख दोनों परिवर्तनशील हैं । दुःख के बाद थोड़ा-सा सुख मिलता है और उस सुख को अभी तक भोगा भी न हो कि पुनः दुःख खड़ा हो जाता है ।

पुत्रजन्म से विदेहा के सुख का पार नहीं था तो पुत्र-अपहरण से आज विदेहा के दुःख का पार नहीं था ।

संयोगजन्य सुख दुःखदायी ही है ।

संसार में संयोगजन्य जितने भी सुख हैं, उन सब का अन्तिम परिणाम अत्यन्त कटु ही है ।

ठीक कहा है-

संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुःखपरम्परा ।

क्योंकि प्रत्येक संयोग के पीछे वियोग खड़ा है ।

जनक-पुत्र का रक्षण

उस देव ने जनक-पुत्र को उद्यान में सुला दिया था ।

बालक के भाग्योदय से थोड़ी ही देर में रथनूपुर नगर के महाराजा चन्द्रगति ने उस उद्यान में प्रवेश किया ।

उद्यान में परिभ्रमण करते हुए चन्द्रगति की दृष्टि उस बालक पर पड़ी ।

रूप, लावण्य और तेज की साक्षात् मूर्ति समान उस बालक को सुप्तावस्था में देखकर चन्द्रगति के आश्चर्य का पार न रहा ।

महाराजा चन्द्रगति अभी तक निःसन्तान थे, अतः ज्योंही उन्होंने उस बालक को देखा, वे सोचने लगे ``भाग्य ने मेरे अपूर्ण सुख को पूर्ण कर दिया है, धन-वैभव व राज्य-सुख में आज तक किसी प्रकार की कमी न थी, कमी थी तो एक मात्र सन्तान-सुख की, जो आज भाग्य ने पूर्ण की है ।''

उन्होंने अत्यन्त ही उत्साह और स्नेह के साथ उस बालक को उठाया और उसे वस्त्र से आच्छादित कर वे राजभवन की ओर चल पड़े ।

राजभवन में प्रवेश कर वे सीधे महारानी पुष्पावती के खण्ड़ में जा पहुँचे । वहाँ पहुँच कर महारानी की गोद में उन्होंने वह शिशु रख दिया ।

अचानक तेजस्वी नवजात शिशु को प्राप्त कर महारानी के आश्चर्य का पार न रहा ।

महारानी ने सहर्ष शिशु को स्वीकार किया । वह महाराजा का आभार जताने लगी ।

महाराजा ने सम्पूर्ण नगर में पुत्र-जन्म के महोत्सव की घोषणा की । प्रजाजन ने अत्यन्त धूम-धामपूर्वक राजपुत्र का जन्म-महोत्सव मनाया और अन्त में पुत्र का नामकरण किया **``भामण्डल ।''**

इधर महाराजा जनक ने अपनी पुत्री का नामकरण किया **``सीता ।''**

नारदजी का अपमान

सीता के अद्‌भुत रूप और लावण्य की कीर्ति सुनकर नारदजी के मन में सीता के प्रत्यक्ष दर्शन की इच्छा पैदा हुई । नारदजी शीलव्रतधारी होते हैं और शील के प्रभाव से ही वे मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं । उनके चरित्र में किसी को भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता है और इसी कारण वे कहीं भी गमनागमन कर सकते हैं ।

सीता के दर्शन की इच्छा होने से नारदजी मिथिलानगरी आए और सीता के आवासगृह में चले गये ।

पीले केश और पीली आँखें, बड़ा पेट और कृश काया तथा हाथ में वाद्ययंत्र लिये खड़े हो गये ।

सीता ने नारदजी की भीषण आकृति देखी और उसका हृदय भय के

मारे काँप उठा, तुरन्त वह अपने आसन से खड़ी हो गई और डर के मारे चिल्ला उठी, सीता की आवाज सुनकर चारों ओर से सखियाँ दौड़ी आईं और वे नारदजी पर हस्तप्रहार तथा दंडप्रहार करने लगीं । उसी समय प्रतिहारी आदि भी दौड़ कर आ गये और वे सब नारदजी पर प्रहार करने लगे, नारदजी सोच में पड़ गये ``यह क्या हो गया ?''

बड़ी मुश्किल से नारदजी ने अपना पिंड छुड़ाया और वे वहाँ से भाग कर वैताढ्य पर्वत पर आ गये ।

नारदजी के जीवन में यह पहला ही अपमान था । आज तक नारदजी कहीं भी गये उन्हें सर्वत्र सम्मान ही मिला था ।

इस अपमानजनक घटना से नारदजी अत्यन्त क्रोधातुर हो गये । उनके मन में भयंकर रोष पैदा हो गया और उन्होंने मन-ही-मन सीता से बदला लेने का निश्चय कर लिया ।

भामण्डल कामातुर हो उठा

मिथिला से प्रयाण कर नारदजी वैताढ्य पर्वत के रथनूपुर नगर में आ पहुँचे । उन्होंने नगर-बाह्य उद्यान में प्रवेश किया ।

उद्यानपाल ने नारदजी का आदर-सत्कार किया और आदेश फरमाने के लिए निवेदन किया ।

नारदजी ने कहा-``जा ! मेरे लिए एक काष्ठफलक और सभी प्रकार के रंग व पींछी ले आ ।''

नारदजी की आज्ञा शिरोधार्य कर उद्यानपाल ने थोड़ी ही देर में सभी वस्तुएँ उपस्थित कर दीं ।

नारदजी ने उद्यानपाल को आशीर्वाद दिया और स्वयं उद्यान के एक कोने में बैठ गये ।

नारदजी ने सीता का मानसिक स्मरण किया और उस स्मृतिचित्र को काष्ठफलक पर अंकित करने लगे । चित्रकला में निपुण नारदजी ने कुछ ही घंटों में सीता की भव्य आकृति की प्रतिकृति तैयार कर दी और एक कोने में बैठ गये ।

इसी बीच नगर के महाराजा चन्द्रगति के पुत्र भामण्डल ने उद्यान में प्रवेश किया ।

भामण्डल यौवनवय में प्रवेश कर चुका था । सब कलाओं में उसने निपुणता प्राप्त कर ली थी ।

उद्यान में प्रवेश कर भामण्डल ने नारदजी के दर्शन किये । भामण्डल ने अत्यन्त नम्रता से नारदजी को प्रणाम किया । अचानक उसकी दृष्टि काष्ठफलक पर पड़ी ।

काष्ठफलक में चित्रित स्त्री के अद्भुत रूप को देखकर भामण्डल कामातुर हो उठा । भामण्डल उस चित्रित रूप पर मोहित हो गया । उसने पूछा- ``नारदजी ! यह चित्र किसका है ? यह किसी देवी का चित्र है अथवा मानवकन्या का ? यदि आपको पता हो तो कुछ जानकारी देने की कृपा करें ।''

नारदजी ने देखा-``भामण्डल का मन सीता के रूप पर मोहित हो गया है ।''

उन्होंने कहा-``राजकुमार ! यह किसी देवी का चित्र नहीं है, यह तो मानवकन्या का ही चित्र है । मिथिला के अधिपति महाराजा जनक की पुत्री सीता का चित्र है । उसके अद्भुत रूप को पूर्णतया चित्रांकित करना, मेरे वश की बात नहीं है, फिर भी मैंने कुछ अल्प प्रयास किया है ।''

नारदजी ने कुमार के मनोभावों को जानने का प्रयास किया और अन्त में वह चित्र राजकुमार भामण्डल को भेंट कर दिया ।

राजकुमार ने नगर की ओर प्रयाण किया और नारदजी अन्य दिशा की ओर चल पड़े । नारदजी ने सोचा-``अब जरूर यह सीता का अपहरण करेगा और इस प्रकार मुझे अपने वैर का बदला मिल जाएगा ।''

सीता के चित्रदर्शन के बाद धीरे-धीरे भामण्डल कृश होने लगा । वह किसी भी प्रकार से सीता को पाना चाहता था, परन्तु वह अपना निवेदन पिता के समक्ष कैसे प्रस्तुत करे ? अतः दिन-प्रतिदिन भामण्डल की देहलता कृश होने लगी । उसके जीवन का आनन्द समाप्त हो गया । वह अन्य-अन्य उपाय की शोध करने लगा ।

कामवासना का स्वरूप अत्यन्त ही भयंकर होता है । इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ होने पर भी सूखने लगता है । काम से विह्वल व्यक्ति के विवेकचक्षु पर आवरण आ जाता है और वह महाअनर्थकारी कार्य करने के लिए भी तैयार हो जाता है ।

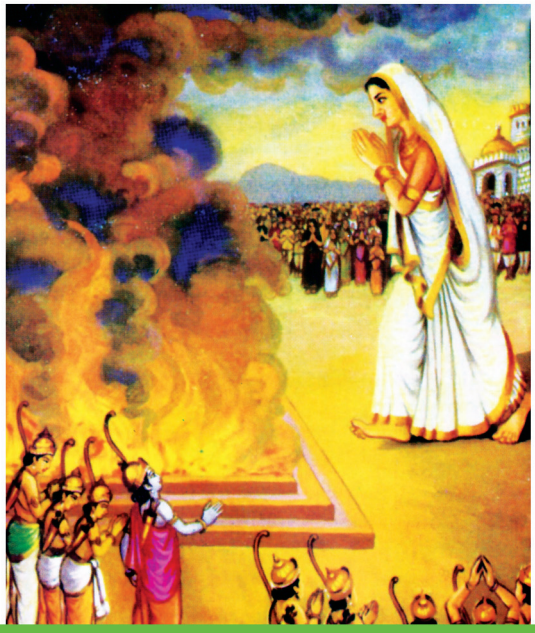

8. महासती सीता
पृष्ठ नं. 100

महासती सीता सती की सज्झाय

जनक सुता हुं नाम धरावुं, राम छे अंतर जामी,
पालव मारो मेलोने पापी, कुळने लागे छे खामी. अडसो मांजो०

मांजो मांजो मांजो मांजो अडशो मांजो,
म्हारो नावलीयो दुहवाय, अमने संग केनो न सुहाय.
म्हारुं मन मांहेथी अकळाय. अ०१

मेरु महीधर ठाम तजे जो, पत्थर पंकज उगे,
जो जळधि मर्यादा मूके, पांगळो अंबर पूगे. अ० २

तो पण तुं सांभळ रे रावण, निश्चय शील न खंडुं,
प्राण हमारा परलोक जाए, तो पण सत्य न छंडुं. अ० ३

कुण मणिधरनी मणि लेवाने, हैडे घाले हाम,
सती संगाथे स्नेह करीने, कहो कुण साधे काम. अ० ४

परदारानो संग करीने आखर कोण उगरियो,
ऊंडुं तो तुं जोने आलोची, सही तुज दहाडो फरियो. अ० ५

जनक सुता हुं जग सहु जाणे, भामंडळ छे भाई,
दशरथ नंदन शिर छे स्वामी, लक्ष्मण करशे लडाइ. अ० ६

हुं धणीयाती पियुगुण राती, माहरे हाथ छे छाती,
रहे अळगो तुज वयणे न चळु, कां कुळे वाहे छे काती. अ० ७

उदयरत्न कहे धन्य ए अबळा, सीता जेहनुं नाम,
सतीयोमांहे शिरोमणि कहीये, नित्य नित्य होज्यो प्रणाम. अ० ८

कहा भी है-''कामात् क्रोधो प्रजायते'' काम से क्रोध पैदा होता है । कामान्ध व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति के लिए क्रोधान्ध भी बन जाता है ।

जनक की पुत्री सीता यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर चुकी थी ।

महाराजा जनक ने राम और लक्ष्मण के अद्भुत युद्ध-कौशल को देखा ही था । उन्होंने अपनी पुत्री सीता राम को देने का निश्चय कर लिया ।

जनक का अपहरण

भामण्डल सीता को पाने की चिन्ता में दिन-प्रतिदिन कृश बनता जा रहा था ।

चिन्ता यदि चिन्तन का रूप ले ले तो वह उत्थान का कारण बन सकती है, अन्यथा वह महाअनर्थ का ही सर्जन करती है । कहा भी है-

चिन्ता चिता से बढ़कर है, घुन समान लग जाती है ।
चिता मुर्दे को जलाती है, चिन्ता जीते जी खाती है ।।

भामण्डल के देह की दुर्दशा देखकर चन्द्रगति चिन्तातुर हो उठे । उन्होंने भामण्डल को इसका कारण पूछा, परन्तु भामण्डल ने लज्जा के कारण सत्य बात प्रकट नहीं की । अन्त में उसके मित्रों के माध्यम से चन्द्रगति ने यह बात जान ली कि भामण्डल किसी भी प्रकार से सीता को पाना चाहता है ।

चन्द्रगति ने अपने गुप्तचर चपलगति को आदेश दिया कि तुम जाकर जल्दी ही मिथिला के अधिपति जनक का अपहरण कर, उन्हें यहाँ ले आओ ।

बस ! दूसरे ही दिन चपलगति मिथिला पहुँच गया । उसने अपनी विद्या के प्रयोग से जनक को गाढ़ निद्रा में सुला दिया और उसे उठाकर रथनूपुर नगर में ले आया ।

ज्योंही जनक ने आँखें खोलीं, उनके आश्चर्य का पार न रहा । वे सोचने लगे-``इस उद्यान में मैं कैसे आ गया ?'' थोड़ी ही देर में महाराजा चन्द्रगति वहाँ उपस्थित हो गये । उन्होंने जनक का हार्दिक स्वागत किया और अपहरण आदि की बात स्पष्ट कर दी ।

चन्द्रगति ने कहा-``मैं आपके साथ पारिवारिक सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ । आपकी पुत्री को अद्भुत रूप सम्पदा प्राप्त हुई है, वह मेरे पुत्र भामण्डल के लिए सुयोग्य है ।'' राजकुमार और राजाओं को स्वयंवर में पधारने के लिए आमंत्रण भेज दिया गया ।

समाचार मिलते ही चारों ओर से अनेक युद्धवीर राजकुमार मिथिला की ओर आने लगे ।

महाराजा जनक ने भव्य स्वयंवर-मण्डप की रचना करवाई । कुशल कलाकारों ने मण्डप की शोभा में चार चांद लगा दिये । आज स्वयंवर का दिन था...प्रातःकाल से ही अनेक राजकुमार सजधज कर स्वयंवर-मंडप की ओर आगे बढ़ रहे थे ।

महाराज जनक ने आमन्त्रित राजकुमारों के बैठने के लिए भव्य कलात्मक सिंहासन सजा दिये थे । सभी राजकुमार अपने अपने सिंहासन पर आसीन हो गये !

थोड़ी ही देर में स्वयंवर-मण्डप खचाखच भर गया ।

महाराजा चन्द्रगति भी अपने पुत्र भामण्डल के साथ वहाँ उपस्थित हो गये थे ।

भामण्डल ने भी अपना आसन ग्रहण किया ।

शुभ मुहूर्त के प्रारम्भ के साथ ही महामंत्री ने घोषणा की-``हे वीर राजकुमारो ! आज मिथिलापति जनक महाराजा ने अपनी इकलौती राजकुमारी सीता के स्वयंवर के लिए आप सबको आमंत्रित किया है । महाराजा की आज्ञा है कि जो कोई राजकुमार इस वज्रावर्त धनुष को उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ाकर टंकार करेगा, उसके साथ उनकी पुत्री सीता का पाणिग्रहण होगा ।''

जनक ने कहा-``आपकी बात ठीक है, किन्तु आपके प्रस्ताव में अब कुछ देरी हो गई है, मैं अपनी पुत्री दशरथपुत्र रामचन्द्रजी को देने का निर्णय कर चुका हूँ ।''

अन्त में चन्द्रगति ने कहा-``मेरे पास देवता अधिष्ठित वज्रावर्त और अर्णवावर्त धनुष हैं । यदि उन दोनों में से किसी भी धनुष को राम उठा ले और उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दे तो आप सीता, राम को दे सकते हैं ।''

चन्द्रगति के इस प्रस्ताव को सुनकर जनक महाराजा चिन्तातुर हो उठे । वे दुविधा में पड़ गये, परन्तु आखिर उन्हें चन्द्रगति का प्रस्ताव स्वीकार करना ही पड़ा ।

सीता का स्वयंवर

अपना प्रस्ताव स्वीकार किए जाने के बाद, चन्द्रगति ने जनक का भव्य स्वागत किया और पुनः विमान में बिठाकर उसने जनक को मिथिला पहुँचा दिया ।

जनक ने महारानी विदेहा को रात्रि की सब घटना सुना दी ।

यह घटना सुनकर महारानी को अत्यन्त खेद हुआ । ``कदाचित् राम उस धनुष को न उठा सके तो...?''

परन्तु जनक ने कहा-``प्रिये ! मुझे राम के पराक्रम पर पूर्ण विश्वास है, तू निश्चिन्त रह ।''

और एक शुभ दिन देखकर महाराजा जनक ने सीता के स्वयंवर की चारों ओर घोषणा कर दी ।

दूर-सुदूर देशों के राजकुमार और राजाओं को स्वयंवर में पधारने के लिए आमंत्रण भेज दिया गया ।

समाचार मिलते ही चारों ओर से अनेक युद्धवीर राजकुमार मिथिला की ओर आने लगे ।

महाराजा जनक ने भव्य स्वयंवर-मण्डप की रचना करवाई । कुशल कलाकारों ने मण्डप की शोभा में चार चाँद लगा दिये । आज स्वयंवर का दिन था...प्रातःकाल से ही अनेक राजकुमार सजधज कर स्वयंवर-मंडप की ओर आगे बढ़ रहे थे ।

महाराजा जनक ने आमन्त्रित राजकुमारों के बैठने के लिए भव्य कलात्मक सिंहासन सजा दिये थे । सभी राजकुमार अपने लिए नियत सिंहासन पर आसीन हो गये !

थोड़ी ही देर में स्वयंवर-मण्डप खचाखच भर गया ।

महाराजा चन्द्रगति भी अपने पुत्र भामण्डल के साथ वहाँ उपस्थित हो गये थे ।

भामण्डल ने भी आसन ग्रहण किया ।

शुभ मुहूर्त के प्रारम्भ के साथ ही महामंत्री ने घोषणा की-``हे वीर राजकुमारो ! आज मिथिलापति जनक महाराजा ने अपनी इकलौती राजकुमारी

सीता के स्वयंवर के लिए आप सबको आमंत्रित किया है । महाराजा की आज्ञा है कि जो कोई राजकुमार इस वज्रावर्त धनुष को उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ाकर टंकार करेगा, उसके साथ मेरी पुत्री सीता का पाणिग्रहण होगा ।''

महामंत्री की उद्घोषणा के बाद सीता ने भी स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया । दिव्य देह पर सजे हुए अलंकार सीता के अद्भुत रूप में और वृद्धि कर रहे थे ।

सीता के साक्षात् रूप का दर्शन कर भामण्डल भी मोहित हो गया ।

सीता को पाने की लालसा से एक राजकुमार अपने सिंहासन से खड़ा हुआ । वह वज्रावर्त धनुष की ओर बढ़ा और धनुष को उठाने का प्रयास करने लगा । धनुष को ऊँचा उठाना तो दूर रहा, वह स्वयं ही नीचे गिर गया । चारों ओर सभा में हँसी की लहर फैल गई ।

तत्पश्चात् दूसरा राजकुमार उठा, उसे भी शर्मिन्दा होना पड़ा ।

कुछ राजकुमारों के बाद भामण्डल भी अपने सिंहासन से खड़ा हो गया । चन्द्रगति को भामण्डल के पराक्रम पर पूर्ण विश्वास था, परन्तु वह विश्वास भी धोखा ही रहा ।

भामण्डल उस धनुष को उठा न सका और इस हार से उसका फूल सा चेहरा अत्यन्त मुरझा गया, वह उदासीन हो गया ।

क्रमशः एक के बाद एक राजकुमार उस वज्रावर्त धनुष के पास आते गये, परन्तु कोई भी उस धनुष को उठा न सका ।

अन्त में, लक्ष्मणजी के इशारे से रामचन्द्रजी खड़े हुए । अत्यंत शान्त और सौम्य आकृति ।

रामचन्द्रजी आगे बढ़े । उन्होंने मन ही मन परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण किया और वे उस धनुष को उठाने लगे ।

रामचन्द्रजी ने सहज भाव से उस देवताधिष्ठित धनुष को अपने हाथों में उठा लिया और उस पर प्रत्यंचा चढ़ाकर टंकार कर दिया ।

अपनी शर्त को पूर्ण हुए देखकर हाथ में वरमाला लिये सीताजी भी आगे बढ़ी और उन्होंने रामचन्द्रजी के गले में वरमाला डाल दी ।

चारों ओर जय-जय ध्वनि से वातावरण गूंज उठा ।

सीता के आनन्द का पार नहीं रहा । भामण्डल के विषाद की सीमा नहीं रही ।

भामण्डल ने अपने पिता के साथ वहाँ से विदाई ली ।

जनक ने तत्काल दशरथ को आमन्त्रण देने के लिए अपने महामंत्री को भेजा ।

कुछ ही दिनों में महाराजा दशरथ वहाँ उपस्थित हो गये । जनक महाराजा ने उनका हार्दिक स्वागत किया और शुभ मुहूर्त्त में अत्यन्त ही धूमधाम के साथ राम और सीता का पाणिग्रहण कर दिया गया ।

इधर लक्ष्मणजी ने अर्णावावर्त धनुष उठाकर जो पराक्रम दिखाया, था, उससे प्रसन्न होकर अन्य विद्याधरों ने अपनी (अठारह) कन्याओं का विवाह लक्ष्मणजी के साथ किया ।

धर्म के पिपासु बने महाराजा दशरथ के लिए इससे अधिक आनन्द की बात और क्या हो सकती थी ।

उद्यानपाल के मुख से महामुनि के समाचार सुनकर महाराजा दशरथ अत्यन्त ही प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने कीमती अलंकारों की भेंट देकर उद्यानपाल को विदाई दी ।

महाराजा दशरथ ने सभी महारानियों तथा पुत्रों को मुनिवन्दनार्थ-गमन की तैयारियाँ प्रारम्भ करने का आदेश दिया ।

कुछ ही समय में रथ सजा दिया गया । हजारों नर-नारियों के साथ महाराजा दशरथ ने उद्यान की ओर गमन किया ।

उद्यान में पहुँचने के बाद महाराजा दशरथ ने महामुनि को भावपूर्वक वन्दना की और वे महामुनि के चरणों में बैठ गये ।

चन्द्रगति-भामण्डल का आगमन

सीता का पाणिग्रहण रामचन्द्रजी के साथ हो जाने के बाद भामण्डल का मन अत्यन्त ही व्यथित बन चुका था । उसके जीवन का आनन्द समाप्त हो चुका था, वह अत्यन्त ही दुःखी रहता था । चन्द्रगति ने भामण्डल को समझाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु वे सब प्रयत्न निष्फल गये । चन्द्रगति ने अन्य राजकुमारियों के साथ भामण्डल के विवाह का प्रस्ताव रखा, परन्तु भामण्डल ने यह बात स्वीकार नहीं की ।

अन्त में चन्द्रगति ने सोचा-``भामण्डल को किसी तीर्थयात्रा के लिए ले जाना चाहिए, ताकि तीर्थों के पवित्र वातावरण से उसका मन प्रसन्न हो

जाय'' इस प्रकार का निर्णय कर चन्द्रगति ने विमान तैयार करवाया और वे भामण्डल को साथ लेकर तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े ।

अन्य अनेक तीर्थों की यात्रा कर उनका विमान अयोध्या के ऊपर से निकलने लगा ।

नगर बाहर उद्यान में हजारों नर-नारियों के समूह को एकत्र देखकर चन्द्रगति को भी कुछ कौतूहल हुआ और उसने अपना विमान नीचे उतारा ।

थोड़ी ही दूरी पर महामुनि को धर्मदेशना देते हुए देखकर चन्द्रगति भी भामण्डल के साथ वहाँ पहुँच गए ।

चन्द्रगति और भामण्डल के वहाँ आने पर महामुनि ने भामण्ड़ल की मनोदशा का अपने ज्ञानबल से साक्षात् निरीक्षण किया, **''अहो ! अज्ञानता के कारण एक भाई अपनी बहिन के साथ ही लग्न की सोच रहा है !!! संसार की अज्ञानता कितनी भयंकर है ?''**

महामुनि ने धर्म के सत्य स्वरूप की देशना प्रारम्भ की । वे महात्मा संसार के सुखों की अनित्यता और क्षणभंगुरता का इस प्रकार हृदयस्पर्शी वर्णन करने लगे कि अनेक श्रोताओं के हृदय में संसार के सुखों के प्रति रही आसक्ति धीरे-धीरे दूर हो गई ।

सांसारिक सुखों की नश्वरता के साथ ही महामुनि ने चन्द्रगति-भामण्डल और सीता के पूर्वभवों का भी वर्णन प्रारम्भ किया । भामण्डल ज्यों-ज्यों अपने पूर्वभवों का वर्णन सुनता जा रहा था, त्यों-त्यों उसके ज्ञाननेत्रों पर रहा पर्दा हटने लगा ।

महामुनि ने भामण्डल के गत जन्म और इस जन्म के सीता के सम्बन्ध का वर्णन सुनाया...तो सुनते ही भामण्डल मूर्च्छित हो गया...जाति-स्मरण ज्ञान के बल से वह अपने गत जन्मों को साक्षात् देखने लगा ।

थोड़ी ही देर में भामण्डल होश में आ गया जब उसे पता लगा कि सीता तो उसकी सगी बहिन है, तो सीता के प्रति उसके हृदय में रही हुई वासना की भावना दूर हो गई और वह अपने स्थान से खड़ा होकर सीता की ओर आगे बढ़ा । उसने सीता के चरणों में झुककर प्रणाम किया ।

सीता अपने खोये हुए भाई को अनिमेष दृष्टि से देखती रही । भ्रातृमिलन के आनन्द से उसका हृदय पुलकित हो उठा । सीता ने भामण्डल को आशिष दी ।

भामण्डल ने श्रीराम के चरणों में भी प्रणाम किया । सभी का हृदय आनन्द से भर आया ।

तत्काल चन्द्रगति ने अपने साथी विद्याधर को मिथिला जाकर जनक और विदेहा को तत्काल लाने की आज्ञा की ।

चन्द्रगति की आज्ञा से वह विद्याधर तुरन्त मिथिला पहुँच गया और जनक और विदेहा को वहाँ ले आया ।

भामण्डल ने वर्षों बाद अपने जन्मदाता माता-पिता के दर्शन किये, उसके आनन्द का पार न रहा ।

जनक और विदेहा भी अपने खोये हुए पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित हुए । सभी के आनन्द का पार न था ।

चन्द्रगति की दीक्षा

अपने पूर्व भवों का रोमांचक वर्णन सुनकर तथा भामण्डल सीता के अद्‌भुत जीवन-चरित्र को सुनकर चन्द्रगति का मन वैराग्य के रंग से रंजित हो उठा और उसने तत्काल ही दीक्षा ग्रहण करने का निर्णय ले लिया ।

अपने राज्य का सम्पूर्ण कार्यभार भामण्डल को सौंपकर महाराजा चन्द्रगति और रानी पुष्पावती ने सत्यभूति महामुनि के पास चारित्र अंगीकार किया ।

दशरथ-वैराग्य

महाराजा दशरथ के मन में अपने पूर्व भवों को जानने की इच्छा पैदा हुई । इस हेतु महाराजा ने महामुनि से विनती की ।

महाज्ञानी मुनीश्वर ने अपने ज्ञानबल से महाराजा दशरथ के पूर्व भवों का साक्षात् दर्शन किया और फिर सभी के बीच ही दशरथ के पूर्व भव सुनाये । अपने गत जन्मों के अद्‌भुत जीवन-प्रसंगों को सुनकर महाराजा दशरथ का मन भी वैराग्य से रंजित हो उठा ।

महामुनि को पुनःवन्दन कर महाराजा दशरथ अपने महल में आ गये ।

भरत का मन संसार से विरक्त बन चुका था, परन्तु जब कैकेयी ने भरत के लिए राज्य की याचना की तो अब महाराजा दशरथ भरत को राज्य देकर अपनी चिन्ता से मुक्त बनना चाहते थे । किन्तु जब भरत ने राज्य लेने

से इन्कार कर दिया, तो पुनः उनके लिए समस्या खड़ी हो गई । उन्होंने भरत को कहा-**``हे भरत ! राज्य को ग्रहण कर मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करो ।''**

रामचन्द्रजी को जब पता चला कि भरत राज्य लेने के लिए तैयार नहीं है, तब स्वयं उन्होंने भरत को समझाया-``हे भरत ! तू इस राज्य को स्वीकार कर और पिता को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने दे ।''

रामचन्द्रजी के वनगमन का निर्णय

रामचन्द्रजी के सामने समस्या खड़ी हो गई, जब तक भरत राज्य स्वीकार नहीं करेगा, तब तक पिताजी दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकेंगे । इस प्रकार भरत के राज्य-अस्वीकार में पिताजी की दीक्षा में रुकावट आ रही है, अतः मुझे ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जिससे भरत राज्य स्वीकार कर ले और पिताजी की दीक्षा में कोई बाधा न आए ।

इस प्रकार सोचते-सोचते राम को एक विचार सूझ गया-``ओहो ! छोटा भाई भरत मुझे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखता है, अतः मेरी उपस्थिति में वह राज्य स्वीकार कैसे कर सकता है ? अतः मुझे राज्य छोड़कर वन में चले जाना चाहिए ।''

``यदि मैं वन में जाऊंगा, तो भरत भी राज्य स्वीकार कर लेगा और पिताजी की दीक्षा में किसी प्रकार की बाधा नहीं आएगी ।''

कैकेयी भी महाराजा दशरथ की सन्नारी थी । उसके हृदय में भी राम के प्रति अपार स्नेह था । राम को वनवास भेजने के लिए उसने भरत के राज्य की मांग नहीं की थी ।

**``पति और पुत्र दोनों दीक्षा स्वीकार कर लेंगे तो मेरा कौन ?''** इस विचार से मोहित बनी हुई कैकेयी ने सोचा-``ऐसा कोई उपाय किया जाय, जिससे मैं भरत को दीक्षा लेने से रोक सकूँ'' इसी भावना को ध्यान में रखकर कैकेयी ने भरत के लिए राज्य की मांग की थी, न कि रामचन्द्रजी को वन भेजने के लिए ।

वनप्रयाण

वनप्रयाण का निर्णय कर रामचन्द्रजी दशरथ के पास पहुँच गये और बोले-``पिताजी ! जब तक भरत राज्य स्वीकार नहीं करेगा, तब तक आप दीक्षा स्वीकार नहीं कर सकोगे । पिताजी ! आप ही सोचिए, मेरे यहाँ रहते

भरत राज्य कैसे स्वीकारेगा ? अतः मैं वनगमन स्वीकार करता हूँ । आप इस हेतु मुझे आशीर्वाद प्रदान कीजिए ।''

राम के वनगमन की बात सुनकर कौशल्या रो पड़ी । उसे इस बात का गहरा आघात लगा ।

राम ने समझाया-``माताजी !आप इतनी कायर न बनो । क्या सिंह के बच्चे को वन-भ्रमण में भय लगता है ?''

``माताजी ! पिताजी को ऋणमुक्त करने के लिए इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं है । अपने कुल का यह गौरव है कि प्राणों की बलि देकर भी वचन का पालन किया जाता है ।''

राम ने पुनः माँ के चरणों में प्रणाम किया और आशीर्वाद की प्रार्थना की ।

राम की इस प्रकार की दृढ़ता देखकर अपराजिता / कौशल्या ने हृदय से राम को आशीर्वाद दिये ।

वहाँ से राम सुमित्रा के पास पहुँचे और सुमित्रा के चरणों में प्रणाम कर वनगमन के लिए आशिष मांगने लगे ।

राम के वनगमन की बात सुनकर सुमित्रा को भी बड़ा दुःख हुआ, परन्तु परिस्थिति का सूक्ष्म अवलोकन कर उसने राम को आशीर्वाद दिये ।

पिता की आज्ञा को मात्र उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि उनकी भावना की पूर्ति के लिए स्वयं ने वनवास-जीवन भी स्वीकार किया ।

सीता का निर्णय

सीता को ज्योंही पता चला कि रामचन्द्रजी ने वन की ओर प्रयाण कर दिया है, त्योंही वह अपने श्वसुर को प्रणाम कर सास अपराजिता / कौशल्या के पास पहुँच गई । सास के चरणों में प्रणाम कर बोली-``माँ ! मुझे आज्ञा प्रदान करो । मैं भी आर्यपुत्र के साथ वन में जाऊंगी...।''

अपराजिता / कौशल्या के हृदय में सीता के प्रति अपार प्रेम और वात्सल्य का भाव था । अतः सीता की यह प्रार्थना सुनकर उसका हृदय दुःख से भर आया ।

आँखों से अश्रु बहाती हुई वह बोली-``बेटी ! तू यह क्या कह रही है ? तू अपनी परिस्थिति का तो जरा विचार कर ।''

``मेरा बेटा राम तो पितृ-आज्ञा से वन में जा रहा है, वह तो पुरुषों में सिंह समान है । उसके लिए वन के कष्ट सहन करना कठिन काम नहीं है, परन्तु तू तो कोमलांगी है । जन्म से ही तू राजमहलों के अपार सुखों में पली है । तेरी काया अत्यन्त सुकोमल है । आज तक तूने भूमि पर पैर नहीं रखा है । तू वन की कठोर व कँटीली भूमि पर पाद-विहार कैसे कर सकेगी ?

कमल की भाँति सुकोमल देहलता वाली तू वन की भयंकर उष्णता व शीतलता को कैसे सहन कर सकेगी ? राम तो पुरुष है । पुरुष का देह सहज ही कठोर होता है । तू राजपुत्री है, वन के कष्टों को सहन करना तेरे वश की बात नहीं है ।

बेटी ! जरा विचार कर और वन में जाने का विचार छोड़ दे ।''

सास अपराजिता की वात्सल्य भरपूर बातों को सुनकर सीता ने कहा- ``माँ ! आपके प्रति रही हुई भक्ति ही मेरे मार्ग को कल्याणकर बनायेगी । हे पूज्ये ! क्या छाया वृक्ष को छोड़ कर रह सकती है ? यदि मेरे स्वामी वन के कष्टों को सहन करेंगे तो मैं महलों के सुखों में कैसे रहूँ ? पति के सुख में सुखी और पति के दुःख में दुःखी होना क्या यह पतिव्रता स्त्री का कर्त्तव्य नहीं है ?''

``माताजी ! आपने कहा कि मैं सुखों में पली हूँ, अतः वन के कष्टों को कैसे सहन कर पाऊंगी, इस हेतु मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं कभी महलों के सुखों को याद नहीं करूंगी और वन के कष्टों / दुःखों की फरियाद नहीं करूंगी ।''

अशान्ति का मूल-सुख की याद-दुःख की फरियाद

``भूतकाल के सुखों को याद कर और वर्तमान के दुःखों की फरियाद कर व्यक्ति अपनी शान्ति को खो देता है । व्यक्ति सुख व सुख के प्रसंग को तो सहर्ष स्वीकार कर लेता है और दुःख के प्रसंग को अस्वीकार कर देता है । वास्तव में तो दुःख का सहर्ष स्वीकार होना चाहिए, क्योंकि दुःख भी स्वकृत कर्म के उदय का ही फल है ।''

सीता के इस प्रकार के आग्रह के आगे माँ कौशल्या कुछ बोल न सकी और उसने सीता के मस्तक पर हाथ धर दिया । सास के चरणों में पुनः प्रणाम कर सीता रामचन्द्रजी के पीछे वन की ओर चली गई ।

रामचन्द्रजी के पीछे-पीछे सीता को भी वन की ओर जाते हुए देखकर

नगर की स्त्रियाँ गद्‌गद हो गईं और परस्पर कहने लगीं-``अहो ! धन्य है इस पतिव्रता सीता को, यह अपने पातिव्रत्य धर्म के पालन के लिए वन के भयंकर कष्टों को भी सहन करने के लिए तैयार हो गई । वास्तव में, इस प्रकार की पतिभक्ति का यह पहला ही उदाहरण देखने को मिल रहा है । इसने अपने शील और सतीत्व से उभयकुलों को उज्ज्वल बनाया है ।

कोपायमान लक्ष्मण

राम और सीता के वनगमन के समाचार द्रुतगति से नगर में चारों ओर फैल गये । लक्ष्मण जी अपने खण्ड में बैठे हुए थे । इस घटना से राजभवन में भी हाहाकार मच गया था ।

ज्यों ही लक्ष्मणजी को राम और सीता के वनगमन के समाचार मिले, वे अत्यन्त ही कोपायमान हो गये और सोचने लगे-``पिताजी तो स्वभाव से अत्यन्त सरल हैं...परन्तु स्त्रियाँ स्वभाव से अत्यन्त वक्र और कुटिल होती हैं । अन्यथा कैकेयी ने इतने समय तक वरदान को न्यास के रूप में रखकर आज ही भरत के लिए राज्य क्यों मांगा ? ओहो ! इन स्त्रियों के गूढ़ हृदय को कौन पहचान सकता है ?''

``अरे ! यह भरत भी कैसा कुलांगार पैदा हुआ है ? कहीं इसी ने तो राज्य पाने के लिए यह जाल नहीं रचा है ? माँ को आगे कर सच ही उसने अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लिया है ।

``ओहो ! इधर बड़े भैया के राज्याभिषेक की तैयारी ! और इसी शुभ प्रसंग में ``रंग में भंग'' करने वाली यह कैकेयी कितनी दुष्टा है ! इस प्रकार वरदान की याचना कर उसने अपने कुल को कलंकित बना दिया है ।''

``कोई बात नहीं । पिताजी ने तो वचन दे दिया और भरत को राज्य भी सौंप देंगे । इससे पिताजी की प्रतिज्ञा तो पूर्ण हो गई, परन्तु मैं भी देखता हूँ-कि `भरत कैसे राज्य चलाता है ?' उसके साथ लड़कर मैं राज्य प्राप्त कर लूंगा और पुनः राम को वन से लाकर उन्हें राज्यसिंहासन पर आरूढ़ करूंगा ।'

राम के वन-गमन के प्रसंग से लक्ष्मणजी अत्यन्त कोपातुर बन गये थे, परन्तु दूसरे ही क्षण वे सोचने लगे-``अहो ! रामचन्द्रजी तो स्वयं ही महासत्त्वशाली हैं । इतने विशाल साम्राज्य को वे तृण की भाँति छोड़कर चले

गये । अतः क्या वे भरत को हराकर प्राप्त किये हुए साम्राज्य को स्वीकार करेंगे ? नहीं ! नहीं ! तो फिर भरत से राज्य लेने से भी क्या फायदा ? भरत से राज्य पाने के लिए यदि मैंने कोई कदम उठाया तो इससे पिताजी को अवश्य दुःख होगा ।''

इस प्रकार क्रोधातुर बन जाने के बावजूद भी शुभ विचारों के परिणामस्वरूप लक्ष्मणजी ने अपने आवेश को शान्त किया और उन्होंने उसी क्षण राम की सेवा में जाने का निर्णय कर लिया ।

माँ से आशीर्वाद

राम की सेवा में जाने का दृढ़ निश्चय कर आशीर्वाद पाने के लिए वे सीधे ही माँ के चरणों में पहुँच गये । माँ सुमित्रा के चरणों में प्रणाम कर बोले-

''माँ ! मुझे आज्ञा प्रदान करो, पिता की आज्ञापालन के लिए राम वन को जा रहे हैं मैं भी उनके पीछे-पीछे जाऊंगा । जिस प्रकार समुद्र मर्यादा को छोड़कर नहीं रहता है, उसी प्रकार बड़े भाई राम को छोड़कर मैं नहीं रह सकता हूँ ।''

लक्ष्मण की ऐसी प्रार्थना सुनकर माँ सुमित्रा को अत्यन्त आघात लगा, परन्तु अत्यन्त धैर्य धारण कर उसने कहा-

'साधु वत्सासि मे वत्सो, ज्येष्ठं यदनुगच्छसि ।'

''हे बेटा ! वास्तव में, तू मेरा सच्चा पुत्र है । राम के इस प्रकार वनगमन के बाद तू भी उनका अनुकरण करेगा । बेटा ! राम को गये काफी देर हो गई है, अतः तू जल्दी कर; अन्यथा वे बहुत दूर चले जायेंगे ।''

माँ ने हृदय से अपने पुत्र को आशिष दी ।

रामायण के आदर्शों को जीवन में उतारें

महान् आदर्शों से भरपूर रामायण हमें उच्चतम जीवन के लिए महान् प्रेरणा देती है ।

रामायण के इन प्रसंगों में हमें अनेक आदर्श देखने को मिलते हैं-

(1) दृढ़प्रतिज्ञ दशरथ : दशरथ ने कैकेयी को जो वर दिया था, उस वरदान का उन्होंने विकट परिस्थिति में भी पूर्ण पालन किया । कैकेयी को दिये गये वरदान को उन्होंने भंग नहीं किया ।

(2) आज्ञापालक राम : राम का राज्याभिषेक होने वाला था, परन्तु पिता ने वह राज्य भरत को सौंप दिया, फिर भी रामचन्द्रजी ने दशरथ या कैकेयी से किसी प्रकार का विरोध नहीं किया, बल्कि स्वयं ने वनवास भी स्वीकार लिया ।

नगर में हाहाकार

राम, सीता और लक्ष्मण इन तीनों के वनगमन के समाचार से प्रजा में हाहाकार मच गया ।

राम और लक्ष्मण तो सभी के प्यारे और दुलारे थे । सीता के प्रति सभी के हृदय में अपार श्रद्धा और सद्‌भाव था ।

सभी प्रजाजन क्रन्दन करने लगे और अपने-अपने काम-धन्धे छोड़कर राम-लक्ष्मण के पीछे हो गये ।

ज्यों ही महाराजा दशरथ को इस बात के समाचार मिले कि राम, लक्ष्मण और सीता ने अयोध्या का त्याग कर दिया है और वे वन की ओर चल पड़े हैं, त्यों ही वे मोहाधीन होकर कैकेयी को छोड़ अपने अन्तः पुर के साथ राम को वापस लाने के लिए वन की ओर चल पड़े ।

दृढ़प्रतिज्ञ राम

ज्योंही राम को पता चला कि पिताजी आदि आ रहे हैं, त्योंही वे एक वृक्ष के नीचे रुक गये ।

पिता के आगमन के साथ ही रामचन्द्रजी ने उनके चरणों में प्रणाम किया ।

महाराजा दशरथ ने कहा-``बेटा ! वापस अयोध्या चलो ।''

राम ने कहा-``पिताजी ! आप महान् हो । आपको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए । इक्ष्वाकुवंश की यह परम्परा रही है कि अपनी प्रतिज्ञा के पालन के खातिर यदि प्राणों का भी त्याग करना पड़े तो कर देना अच्छा है, परन्तु अपने वचन का कभी भंग नहीं करना चाहिए ।

``पिताजी ! मैं तो आपकी प्रतिज्ञा के रक्षार्थ ही वन-गमन कर रहा हूँ । अयोध्या में मेरे रहते भरत राज्य नहीं स्वीकारेगा और भरत राज्य न स्वीकारे तब तक आपकी भी दीक्षा न हो सकेगी, अतः आपकी दीक्षा में विलम्ब न हो, इसीलिए मैंने राज्य का त्याग किया है ।''

महाराजा दशरथ अपने अन्त:पुर के साथ अयोध्या लौट आये ।

राम, लक्ष्मण और सीता अब तीव्र गति से वन की ओर बढ़ने लगे ।

प्रजाजन आदि सभी के हृदय में अशान्ति की आग थी ।

राम-सीता के विरह को सहन न कर सकने वाली स्त्रियाँ कैकेयी पर आक्रोश करने लगीं । सभी लोग कैकेयी को धिक्कारने लगे ।

दशरथ के राजभवन में आगमन के बाद सामन्त आदि भी रामचन्द्रजी के पास गये और अयोध्या वापस लौटने के लिए विनती करने लगे, परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ रामचन्द्रजी ने उनको भी समझाकर लौटा दिया ।

भरत का कैकेयी पर आक्रोश

फिर महाराजा दशरथ ने भरत को बुलाया और राज्य ग्रहण करने का आदेश दिया, परन्तु भरत ने राज्य लेने से इन्कार कर दिया । भरत अपनी माँ के पास पहुँचा और अत्यन्त आक्रोशयुक्त वाणी में बोला-``माँ ! तूने मेरे लिए राज्य की प्रार्थना कर कितना भयंकर कृत्य किया है ? सम्पूर्ण अयोध्या के आनन्द को तूने लूट लिया है ।''

अयोध्या की वर्तमान स्थिति से कैकेयी को घोर पश्चात्ताप हो रहा था । उसका कोमल हृदय टूट रहा था ।

उसने भरत को कहा-``मैंने मोहाधीन होकर यह कृत्य कर लिया है, अब हम दोनों राम के पास चलें । मैं उनसे अपने अपराध की क्षमा याचना करूंगी और अयोध्या लौटने का आग्रह करूंगी ।''

भरत ने माँ की बात में सहमति दे दी । महाराजा दशरथ से अनुज्ञा लेकर दोनों रथ में आरूढ़ हो गये और राम की ओर आगे बढ़े ।

राम, सीता और लक्ष्मण द्रुत गति से आगे बढ़े जा रहे थे ।

दो दिन की यात्रा के बाद दूर से वन-गमन करते हुए रामचन्द्रजी आदि दिखाई दिये ।

ज्यों ही भरत ने रामचन्द्रजी को देखा, उसकी आँखें आँसुओं से भर उठीं । भरत रथ से नीचे उतर गया, कैकेयी भी रथ से नीचे उतरी ।

दूर से कैकेयी और भरत को आते देखकर रामचन्द्रजी रुक गये और ज्यों ही वे निकट आये...रामचन्द्रजी ने अपनी माँ के चरणों में प्रणाम किया ।

कैकेयी ने राम के सिर पर हाथ रखा और स्वयं फूट-फूटकर रोने लगी ।

भरत ने रामचन्द्रजी के चरणों में प्रणाम किया और वह भी जोर-जोर से रोने लगा । फिर बोला-``बड़े भैया ! आप शीघ्र ही वापस अयोध्या चलो, आप मुझे छोड़कर यहाँ क्यों चले आये ? मेरी स्थिति का तो थोड़ा सा विचार करो । लोक में मेरी निन्दा हो रही है । सभी मुझे राज्यलोलुप कह रहे हैं । भूल तो माँ ने की और दोषारोपण मुझ पर हो रहा है । आप कृपा करके मुझे इस दोष से मुक्त करो ।'' बोलते-बोलते भरत का हृदय भर आया । उसका हृदय अकथ्य वेदना से भरा हुआ था । वह आगे बोलने में असमर्थता का अनुभव कर रहा था ।

रामचन्द्रजी मौन खड़े थे ।

भरत की प्रार्थना के स्वर में स्वर मिलाती हुई कैकेयी बोली-**``बेटा राम ! तेरे हृदय में भरत के प्रति प्रेम है, माँ के प्रति वात्सल्य है । जो कुछ भी घटना बनी है, उसमें भरत का कोई दोष नहीं है । दोष तो मुझ पापिनी का है, मैं अनेक दोषों से भरी हुई हूँ । मेरे अपराध को तुम क्षमा करो ।''** इतना कहते-कहते कैकेयी जोर से रो पड़ी ।

पुनः बोली-``बेटा ! मैं पापिनी हूँ...मैं स्वामी के संयम-मार्ग में बाधक बनी हूँ...मुझे क्षमा करो ।''

कैकेयी का करुण रुदन सुनकर सभी की आँखों में आँसू आ गये, परन्तु रामचन्द्रजी धैर्य धारण कर वैसे ही खड़े थे ।

फिर भरत और माँ को आश्वस्त करते हुए वे बोले-``माताजी ! मैं महाराजा दशरथ का पुत्र हूँ । की हुई प्रतिज्ञा का भंग करना यह अपने कुल की शान नहीं है । पिताजी ने वरदान स्वीकार कर भरत को राज्य दिया है और उसमें मैंने भी अपनी सहमति दी है । माँ ! जो वनवास स्वीकारा है, उसमें आपका लेश भी दोष नहीं है । वनवास तो मैंने स्वेच्छा से स्वीकारा है । माँ ! मैं पिताजी की वाणी को अन्यथा करने में असमर्थ हूँ ।''

``हे भरत ! तेरे लिए तो पिताजी की तथा मेरी आज्ञा अनुसरणीय है, अतः तुझे राज्य स्वीकार करना ही चाहिए ।''

भरत का राज्याभिषेक

आज्ञा की बात कर रामचन्द्रजी ने कैकेयी व भरत को चुप कर दिया। अब भरत भी आगे कुछ न बोल सका। उसी समय सीताजी पास के सरोवर से कमलपत्र में जल ले आई और रामचन्द्रजी ने जल छिड़क कर भरत का राज्याभिषेक कर दिया।

अन्य सामन्तादि जनों को सम्बोधित करते हुए राम बोले-``प्रिय प्रजाजनो ! आज से अयोध्या की सत्ता भरत को सौंपी जाती है। भरत अयोध्या के राजा हैं। उनकी आज्ञा का पूर्ण पालन करना।''

राम ने भरत से कहा-``भाई ! अब तू प्रजा का न्याय और नीति से पालन करना। पिताजी को मेरा प्रणाम कहना। तेरा मार्ग कुशल हो।''

राम ने कैकेयी के चरणों में भी प्रणाम किया। लक्ष्मण व सीता ने भी कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया और स्नेहार्द्र आँसुओं को बहाते हुए सभी ने वहाँ से विदाई ली।

कैकेयी और भरत का पुनः अयोध्या में आगमन हो गया।

तत्क्षण महाराजा दशरथ ने पूछा-``बेटा ! राम आ गया ?''

कैकेयी ने कहा-``वे तो दक्षिण दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। राम ने भरत का राज्याभिषेक कर दिया है।''

राम के नहीं आने से महाराजा दशरथ खिन्न हुए और भरत का राज्याभिषेक हो जाने से प्रसन्न भी हुए।

दशरथ-दीक्षा

नगर के बाहर उद्यान में सत्यभूति महामुनि का आगमन हो चुका था। महाराजा दशरथ अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर चुके थे। अतः उन्होंने अपनी दीक्षा की घोषणा कर दी। मुख्य जिनालय में अष्टाह्निका महोत्सव का मंगल प्रारम्भ हो गया। दीन-दुःखियों को दान दिया जाने लगा। बन्दीजनों को कारावास से मुक्त कर दिया गया।

महाराजा दशरथ का भव्य वरघोड़ा निकला। महाराजा दशरथ नगर बाहर उद्यान में पधारे।

महाराजा दशरथ के साथ अनेक विरक्त आत्माओं ने भी सत्यभूति मुनि के पास भागवती प्रव्रज्या अंगीकार की।

महाराजा दशरथ महामुनि बन गये । आगार मिटकर अनगार बन गये और पृथ्वीतल पर विचरते हुए स्व-पर का कल्याण करने लगे ।

भरत ने राज्य अंगीकार किया । महाराजा दशरथ की दीक्षा से मोहाधीन प्रजाजन शोकसागर में डूब गये ।

रामचन्द्रजी वन-मार्गों पर प्रतिदिन आगे बढ़ते जा रहे थे । मार्ग में अनेक लोग उन्हें ठहरने के लिए विशेष आग्रह करते, परन्तु वे तो निरन्तर दक्षिण पथ की ओर आगे बढ़ते ही गये ।

अवन्ती में प्रवेश

अयोध्या से प्रयाण कर रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी दिन-प्रतिदिन वन की ओर आगे बढ़ते जा रहे थे । इस प्रकार निरन्तर बढ़ते-बढ़ते उन्होंने अवन्ती देश में प्रवेश किया । दिन भर चलने से सीताजी अत्यन्त थक चुकी थीं । सामने ही एक वटवृक्ष दिखाई दिया ।

सीता ने कहा-``हे आर्यपुत्र ! सामने वटवृक्ष दिखाई दे रहा है, जरा आराम कर लें तो...।''

राम ने तुरन्त सहमति दे दी । लक्ष्मणजी कुछ आगे बढ़े और भूमि को साफ-सुथरी कर पृथ्वीतल पर वटवृक्ष की छाया में तीनों बैठ गये ।

राम ने नगर की ओर देखा । नगर के बाह्य खण्ड में अनेक ऊँची-ऊँची इमारतें थीं । आसपास के बगीचे वृक्षों से हरे-भरे थे । वृक्षों पर विविध फल लदे हुए थे । समृद्धि सभर होते हुए भी आसपास का वातावरण शून्य सा प्रतीत हो रहा था । कहीं पर कोई मनुष्य नजर नहीं आ रहा था ।

राम ने कहा-``लक्ष्मण ! वातावरण सूनासा प्रतीत हो रहा है, कहीं किसी मनुष्य की पद-चाप सुनाई नहीं दे रही है ।''

रामचन्द्रजी इस प्रकार की बातचीत कर ही रहे थे कि उन्होंने दूर से किसी मनुष्य को आते हुए देखा ।

राम ने स्नेह से उसे अपने पास बुलाया । पथिक ने राम को नमस्कार किया । राम ने पूछा-``भाग्यशाली ! वातावरण में शून्यता क्यों दिखाई दे रही है ? सम्पूर्ण नगर उजाड़ सा प्रतीत हो रहा है ।''

आगन्तुक ने कहा-``आपकी जिज्ञासा है तो मैं आदि से अन्त तक की घटना सुनाता हूँ ।''

इस अवन्ती में जो दशांगपुर नगर है, उसके सामन्त राजा हैं- वज्रकर्ण। वज्रकर्ण को शिकार का भारी शौक था। एक दिन वे शिकार के लिए वन में पहुँचे। वन में चारों ओर बहुत घूमे किन्तु उन्हें कोई शिकार नहीं मिला।

महाराजा ने दूर से वृक्ष के नीचे खड़े ध्यानस्थ मुनि को देखा। मुनि को देखकर महाराजा उनके निकट पहुँचे।

मुनि के अद्‌भुत रूप और तेजस्वी चेहरे को देख राजा ने मुनि को प्रणाम कर कहा-``हे तपस्वी ! इस यौवनवय में आप इस प्रकार की कठोर साधना कर इस शरीर को क्यों नष्ट कर रहे हो ?''

मुनि ने महाराजा को धर्मलाभ की आशिष दी और कहा-``महानुभाव ! देह के नाश के लिए मैं तप नहीं कर रहा हूँ, बल्कि आत्मा के स्वभाव को पाने के लिए तप कर रहा हूँ।''

भोग से अतृप्ति, त्याग से तृप्ति

संसार में प्रत्येक जीवात्मा की इच्छा सुख पाने और दुःख से मुक्त बनने की है। जीवात्मा की इच्छा शाश्वत और निराबाध सुख पाने की है। यह शाश्वत सुख शाश्वत आत्मा से ही मिल सकता है।

जो स्वयं क्षणिक है, नाशवन्त है और अस्थिर है, वह शाश्वत सुख कैसे दे सकता है ?

जो स्वयं परिवर्तनशील है, जो स्वयं निरन्तर अपने अस्तित्व को खो रहा है, वह हमें शरण कैसे दे सकता है ? शाश्वत सुख शाश्वत पदार्थ से ही मिल सकता है, क्षणिक से नहीं।

क्षणिक पदार्थ से क्षणिक सुख मिल सकता है-शाश्वत नहीं।

इस दुनिया में आत्मा शाश्वत तत्त्व है, अतः आत्मा से ही शाश्वत सुख पाया जा सकता है, क्षणिक सांसारिक पदार्थों से नहीं।

भोग से कभी तृप्ति होना सम्भव नहीं है क्योंकि इच्छाओं का यह स्वभाव है कि एक इच्छा के पूर्ण होने से पहले ही, दूसरी प्रबल इच्छा जन्म ले लेती है। अतः भोग से तृप्ति नहीं, बल्कि तृष्णा ही बढ़ती है।

आत्मा तृप्त बनती है त्याग से। वासनाओं पर विजय पाने से आत्मा तृप्त बनती है।

जिस प्रकार जल से दाह का शमन, तृषा का निवारण और मैल का अपगमन होता है, उसी प्रकार धर्म से कषायों के दाह का शमन, तृष्णा की प्यास का निवारण और कर्ममैल का अपगमन होता है। आग को जल से शान्त किया जा सकता है, पैट्रोल से नहीं।

उसी प्रकार आत्मा में जो कषायों की आग रही हुई है, उस आग को बुझाने के लिए धर्म, जल का काम करता है।

आत्मा में भोग की जो तृष्णा रही हुई है, उसका निवारण भी धर्म से ही होता है। आत्मा जब अपने स्वभाव धर्म को प्राप्त करती है, तब उसकी तृष्णाओं का निवारण हो जाता है।

आत्मा पर अनादिकाल से जो कर्ममल लगा हुआ है, उस मल का अपगमन भी धर्म से ही होता है। आत्मा ज्यों-ज्यों जिनाज्ञागर्भित धर्म का आचरण करती है, त्यों-त्यों आत्मा पर लगा हुआ कर्ममल दूर होता जाता है और आत्मा पवित्र बनती जाती है।

महामुनि ने कहा-``हे राजन् ! जिनाज्ञागर्भित धर्म ही आत्मा को शाश्वत सुख प्रदान करने में समर्थ है, अतः यदि तुम शाश्वत सुख पाने के इच्छुक हो तो तुम्हें जिनाज्ञा का पालन करना चाहिए।''

राजा ने धर्म का स्वरूप पूछा। गुरुदेव ने वीतरागदेव और निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप समझाकर जिनेश्वर प्ररूपित सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप धर्म समझाया।

गुरुदेव की अमृतवाणी का पान कर महाराजा अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने सम्यक्त्व सहित श्रावक धर्म स्वीकार किया। राजा ने प्रतिज्ञा की-``वीतरागदेव और निर्ग्रन्थ गुरु को छोड़कर अन्य किसी को प्रणाम नहीं करूंगा।''

व्रत की कसौटी

वज्रकर्ण राजा ने सम्यक्त्व आदि व्रत स्वीकार किया था, अतः वह वीतरागदेव को छोड़कर अन्य किसी को प्रणाम नहीं करता था।

वज्रकर्ण राजा सामन्त राजा था, उसके स्वामी अवन्ती के महाराजा सिंहोदर थे। एक बार महाराजा को सिंहोदर की ओर से बुलावा आया।

``सिंहोदर के पास जाये तो उन्हें प्रणाम करना पड़े और उन्हें प्रणाम करे तो प्रतिज्ञा भंग हो जाय ।'' अतः महाराजा कुछ उपाय सोचने लगे, अन्त में उन्हें एक उपाय मिल गया ।

राजा ने अपनी अंगूठी में मुनिसुव्रत स्वामी की हीरे की प्रतिमा स्थापित कर दी और सिंहोदर के समक्ष राजा को प्रणाम न कर प्रतिमा को प्रणाम कर वे अपनी प्रतिज्ञा के भंग से बच गये ।

कुछ दिनों के बाद किसी शत्रु राजा ने सिंहोदर को कहा-``यह वज्रकर्ण आपको प्रणाम नहीं करता है, यह तो अपने भगवान को प्रणाम करता है ।''

यह बात सुनकर महाराजा क्रोधातुर बन गया । इस बात का पता एक व्यक्ति को लग गया और उसने जाकर वज्रकर्ण को सब बातें कह दीं ।

वज्रकर्ण ने कहा-``तुझे इस बात का कैसे पता चला ?''

उसने कहा-``मैं कुन्दपुर का निवासी हूँ, मेरे पिता श्रद्धा सम्पन्न श्रावक हैं । मेरा नाम विद्युत्वेग है । व्यापार के काम से मैं उज्जयिनी गया था और वहाँ कामलता वेश्या के फन्दे में फँस गया । वेश्या के संग में मैंने अपना सर्वस्व लुटा दिया ।''

अन्त में वेश्या ने सिंहोदर राजा की रानी श्रीधरा के कुण्डल जैसे कुण्डलों की माँग की । मेरे पास धन तो था नहीं, अतः महारानी के कुण्डल चुराने के लिए मैं राजभवन में पहुँच गया ।

महाराजा महारानी से वार्तालाप कर रहे थे । अत्यन्त क्रोधातुर राजा ने कहा-``प्रिये ! कल प्रातः मुझे दशांगपुर जाकर वज्रकर्ण को समाप्त करना है...।''

``महाराजा की यह बात सुनकर साधर्मिक की आपत्ति-निवारण के लिए चोरी के कार्य को अधूरा छोड़कर मैं आपके पास चला आया हूँ ।''

वज्रकर्ण ने उसका आभार माना और उसने नगर में अनाज आदि भरवा कर किले के सभी द्वार बन्द करवा दिये ।

दूसरे ही दिन सिंहोदर अपने विशाल सैन्य के साथ दशांगपुर आ पहुँचा । उसने नगर को घेर लिया ।

इस प्रकार नगर की परिस्थिति का वर्णन करते हुए आगन्तुक ने

रामादि को कहा-अभी तक वह सिंहोदर नगरी को घेरे हुए है, मृत्यु के भय के कारण सभी प्रजाजन किले में छिपे हुए हैं ।

उस आगन्तुक ने अपनी बात समाप्त की और रामचन्द्रजी ने दशांगपुर की ओर प्रयाण किया । राम ने वज्रकर्ण को भय-मुक्त करने का संकल्प किया ।

लक्ष्मणजी का पराक्रम

राम की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने सारी परिस्थिति का निरीक्षण किया । वज्रकर्ण से भी उन्होंने मुलाकात की और अन्त में लक्ष्मणजी ने सिंहोदर की छावनी में प्रवेश किया ।

वे राजा सिंहोदर के पास जाकर बोले-``राजन् ! अयोध्यापति भरत की आज्ञा है कि आप वज्रकर्ण का किसी प्रकार भी विरोध न करें ।''

सिंहोदर ने कहा-``क्या भरत अपने आज्ञांकित सामंत की अवहेलना को सहन करता है ?''

लक्ष्मणजी ने सिंहोदर को प्रेम से समझाने की कोशिश की कि वह अपना सैन्य वहाँ से हटा दे, परन्तु सिंहोदर ने लक्ष्मणजी की अवज्ञा करते हुए कहा-``मैं धर्म में विश्वास नहीं करता हूँ, वज्रकर्ण का यह कर्त्तव्य है कि वह मुझे प्रणाम करे ।''

उत्तर सुनकर लक्ष्मणजी कुपित हुए । पृथ्वीतल पर पैर पछाड़ते हुए वे बोले-``नराधम ! तुझे अब काल पुकार रहा है । तू खड़ा हो जा ।''

सिंहोदर भी आवेश में आ गया, उसने सैनिकों को आज्ञा दी कि इस पुरुष को पकड़ लिया जाय ।

परन्तु किसकी हिम्मत थी कि लक्ष्मणजी को पकड़ने के लिए सामने आए । जिसने भी हिम्मत की, उसे लक्ष्मणजी ने धराशायी कर दिया और अपने प्रहार से अनेक को समाप्त कर दिया । सिंहोदर की सेना में हा-हाकार मच गया ।

सिंहोदर भी हाथी पर आरूढ़ होकर युद्धभूमि में आ गया, परन्तु पराक्रमी लक्ष्मणजी ने अपने बल-प्रयोग से उसे भी थका दिया और अन्त में लक्ष्मणजी हाथी पर चढ़ गये । उन्होंने सिंहोदर को भूमि पर नीचे पटक दिया और घसीट कर राम के पास ले आये ।

ज्यों ही सिंहोदर ने राम को देखा, पश्चात्ताप से उसका हृदय भर आया। ``ओहो ! ये तो दशरथनन्दन हैं।'' यह जानकर उसने राम के चरणों में प्रणाम किया और अपनी भूल के लिए वह खेद व्यक्त करने लगा।

राम ने कहा-``सिंहोदर ! वज्रकर्ण के साथ समाधान कर लो।''

सिंहोदर ने रामाज्ञा शिरोधार्य की।

रामचन्द्रजी ने वज्रकर्ण को भी बुला लिया। वज्रकर्ण की प्रार्थना से सिंहोदर को बन्धनमुक्त कर दिया गया। सिंहोदर ने अपनी भूल की माफी मांगी।

वज्रकर्ण सबको अपने राजभवन में ले गया। उसने सभी का यथोचित सत्कार किया।

वज्रकर्ण के अति आग्रह से रामचन्द्रजी कुछ दिन वहाँ ठहरे, तत्पश्चात् उन्होंने वहाँ से आगे के लिए प्रस्थान किया।

इस वनवास-काल में उनके जीवन में अनेकविध अजनबी घटनाएँ भी बनती हैं।

आत्महत्या का प्रयास

रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी आगे बढ़ते जा रहे थे। निरन्तर चलने के बाद एक संध्या समय वे विजयपुर नगर के बाह्य उद्यान में पहुँचे। रात्रि निकट थी। अतः पास ही के एक वटवृक्ष के नीचे उन्होंने विश्राम लिया।

रामचन्द्रजी और सीताजी निद्राधीन थे, लक्ष्मणजी रात्रि में चौकसी कर रहे थे।

उसी समय महाराजा महीधर के राजमहल में से राजकुमारी वनमाला बाहर निकल गई। यौवन के प्रांगण में उसने प्रवेश किया था। साथ ही उसने अपने मन में यह संकल्प कर लिया था कि **'दशरथपुत्र लक्ष्मणजी मेरे पति हों।' परन्तु जब महीधर को पता चला कि 'महाराजा दशरथ ने तो दीक्षा ले ली है और राम-लक्ष्मण ने वनवास स्वीकार कर लिया है, अतः अब तो वनमाला का विवाह लक्ष्मणजी के साथ अशक्य है',** ऐसा विचार कर महाराजा ने वनमाला का लग्न दूसरे राजकुमार के साथ करने का निश्चय कर लिया, परन्तु वनमाला को ज्यों ही इस बात का पता चला तो उसके दुःख का पार

न रहा । उसने संकल्प किया कि ``इस भव में तो मैं लक्ष्मणजी का ही वरण करूंगी, यदि उनका योग नहीं हो पाया तो अपना जीवन समाप्त कर दूंगी, किन्तु अन्य के साथ तो लग्न नहीं करूंगी ।''

...इस प्रकार का निर्णय कर राजकुमारी वनमाला आत्मविलोपन के लिए राजभवन को छोड़कर निकल चुकी थी ।

वनमाला यक्ष के मन्दिर में पहुँची । यक्ष की पूजा के बाद उसने प्रार्थना की-

'हे वनदेवता ! मैं अपने मन से लक्ष्मणजी को वर चुकी हूँ । इस भव में वे ही मेरे पति हों, यदि इस भव में वे न मिलें तो जन्मान्तर में वे ही मेरे पति हों' इतना बोलकर वह पास ही के वृक्ष पर चढ़ गई और गले में फाँसा डालकर आत्महत्या का प्रयास करने लगी ।

लक्ष्मणजी ने वनमाला की प्रार्थना सुन ली, अतः वे तुरन्त दौड़े और उन्होंने हिम्मत कर वनमाला को आत्म-हत्या से बचा लिया ।

लक्ष्मण ने कहा-``भद्रे ! ऐसा साहस न करो । मैं ही लक्ष्मण हूँ ।''

लक्ष्मण का नाम सुनकर वनमाला के आश्चर्य की सीमा न रही ।

वनमाला ने लज्जा से अपना मुख नीचा कर लिया । अन्त में वनमाला को साथ लेकर लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के पास आये ।

रामचन्द्रजी की निद्रा भंग हो चुकी थी । एक राजकन्या को लक्ष्मण के साथ देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । वनमाला ने समस्त घटना राम-सीता को सुना दी ।

लक्ष्मणजी का लग्न

रात्रि व्यतीत हो चुकी थी । पूर्व दिशा में प्रकाश की लालिमा फैली हुई थी ।

महाराजा महीधर निद्रामुक्त हो चुके थे । वे अपने बैठक खण्ड में आ चुके थे, तभी राजभवन में कोलाहल मच गया `वनमाला नहीं है...।' सुनते ही महाराजा महीधर को बड़ा आघात लगा ।

प्रातःकाल तो वनमाला भवन को छोड़कर कहीं भी बाहर नहीं जाती है । आखिर कहाँ चली गई ? चारों ओर वनमाला की शोध होने लगी ।

नगर में भी समाचार फैल गये कि वनमाला का अपहरण हो गया है ।

राजा अत्यन्त चिन्तातुर हो गये ।

किसी नगरवासी ने राम-लक्ष्मण-सीता के साथ वनमाला को वट-वृक्ष के नीचे बैठे देखा था । अतः उसने जाकर महाराजा को समाचार दे दिये ।

राजा ने जब दो पुरुषों व एक स्त्री के साथ वनमाला के होने की खबर सुनी तो उसने सोचा `जरूर इन्होंने वनमाला का अपहरण किया है, अतः इनको अवश्य सजा देनी होगी ।' इतना सोचकर राजा ने सैनिकों को आदेश दिया कि `वटवृक्ष के नीचे रहे उन दोनों पुरुषों को बन्दी बना लिया जाय ।'

सैनिक राम-लक्ष्मण की ओर भागे । यह दृश्य देख लक्ष्मणजी की क्रोधाग्नि भड़क उठी और उन्होंने धनुष को उठाकर जोर से टंकार किया ।

टंकार की इस ध्वनि से सैनिक काँपने लगे । राजा ने सोचा-``अवश्य ही यह कोई वीर पुरुष लगता है ।''

महाराज कुछ निकट आये तो उन्होंने रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को तुरन्त पहचान लिया । सैनिकों को युद्धविराम का आदेश दे दिया गया ।

महाराजा महीधर स्वयं रामचन्द्रजी के पास पहुँचे और बोले-``ओहो ! आप तो दशरथनन्दन हो मैंने आपको पहचाना नहीं । मेरे भाग्योदय से आप स्वयं यहाँ पधार गये हो । लक्ष्मणजी ! मेरी कन्या के साथ आप पाणि-ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करो ।''

रामचन्द्रजी की आज्ञा से लक्ष्मणजी ने अपनी सहमति दे दी ।

तभी राजा की आज्ञा से रामचन्द्रजी का भव्य नगर-प्रवेश महोत्सव मनाया गया । वनमाला के आनन्द का पार नहीं रहा । उसकी मनोकामना पूर्ण हो चुकी थी । परन्तु रामचन्द्रजी को तो आगे बढ़ना था, अतः उन्होंने कहा-``अब हमें आगे जाना है ।''

महीधर राजा ने सहमति दी । वनमाला भी लक्ष्मणजी के साथ आने के लिए आग्रह करने लगी, तब लक्ष्मणजी ने उसे समझाया-**``प्रिये ! मैं तो बड़े भाई की सेवा के लिए साथ में हूँ, अतः मेरे मार्ग में बाधक न बनो ।''**

``आपके बिना मैं कैसे जीवित रह सकूंगी ?'' वनमाला ने कहा ।

लक्ष्मणजी ने कहा-``प्रिये ! वन से वापस लौटते समय तेरे साथ अवश्य लग्न करूंगा ।'' कहकर लक्ष्मणजी ने वनमाला को सन्तोष दिया ।

दण्डकारण्य में प्रवेश

वन-मार्गों पर क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी ने दण्डकारण्य में प्रवेश किया ।

दण्डकारण्य का दृश्य अत्यन्त ही भयानक था, अनेक जंगली पशुओं की चीत्कारों से वन का वातावरण अत्यन्त ही डरावना प्रतीत हो रहा था ।

रामचन्द्रजी आदि क्रमशः आगे बढ़ने लगे । थोड़ी ही दूर पर उन्होंने एक महात्मा को कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े देखा ।

रामचन्द्रजी ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया । मुनि ने धर्मलाभ की आशिष दी ।

उस समय वृक्ष पर एक पक्षी बैठा हुआ था, उसकी काया अनेकविध रोगों से ग्रस्त थी । मुनि के दर्शन के साथ ही उसका मन-मयूर आनन्द से नाच उठा और विचार करते-करते उसे मूर्च्छा आ गई । सीता ने पक्षी पर जल का छंटकाव किया । पक्षी को जातिस्मरण ज्ञान हुआ और उसने अपने ज्ञान से अपना पूर्वभव देखा । उसने आकर मुनि के चरणों का स्पर्श किया । मुनि के चरण-स्पर्श के साथ ही उसकी काया रूपान्तरित हो गई । उसकी देह के सारे रोग नष्ट हो गये । उसके मुख पर प्रसन्नता छा गई । उसकी जटा रत्नसदृश हो जाने से वह पक्षी **'जटायु'** कहलाया ।

अपनी आँखों से राम ने साक्षात् यह दृश्य देखा और उनके आश्चर्य का पार न रहा ।

राम ने कहा-``भगवन्त ! पक्षी की देह में यह आश्चर्यकारी परिवर्तन कैसे हुआ ?''

महर्षि ने रामचन्द्रजी के सन्देह के निवारण के लिए उसके पूर्व भव की घटना का वर्णन करते हुए कहा-

``इस वनभूमि पर पहले कुम्भकारकट नाम का भव्य नगर था । उस नगर के महाराजा का नाम था दण्डक । उस समय श्रावस्ती में जितशत्रु राजा राज्य करता था । उसकी पत्नी का नाम धारिणी था, उसकी कुक्षि से स्कन्दककुमार और पुरन्दरयशा का जन्म हुआ था ।

एक बार दण्डक राजा ने अपने मंत्री पालक को श्रावस्ती भेजा । पालक के हृदय में जैनधर्म प्रति अत्यन्त द्वेष था । वह श्रावस्ती की राजसभा में गया । स्कन्दककुमार ने जैनधर्म का विशद अध्ययन किया था ।

स्कन्दककुमार और पालक के बीच दार्शनिक विवाद छिड़ गया । स्कन्दककुमार ने अनेकान्तवाद के द्वारा पालक को हरा दिया ।

विवाद में पालक की हार हो जाने से पालक अत्यन्त लज्जित हुआ । उसके हृदय में स्कन्दककुमार के प्रति भयंकर द्वेष की भावना पैदा हो गई ।

क्रोध अग्नि से भी भयंकर है ।

क्रोध कषाय अग्नि से भी भयंकर है । अग्नि की लपटें तो बाहर दिखाई देती हैं, अतः उसे पहचान सकते हैं, परन्तु क्रोध की लपटें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती हैं, व्यक्ति भीतर ही भीतर जलता है ।

अग्नि तो अपने उत्पत्तिस्थल को ही जलाती है, जबकि क्रोधाग्नि आसपास के वातावरण को भी संतप्त कर देती है ।

जिस प्रकार शरीर में उत्पन्न हुए छोटे से घाव की उपेक्षा करने से वह घाव बड़ा होकर पूरे शरीर को बिगाड़ देता है और वन के एक भाग में उत्पन्न अग्नि की एक भी चिनगारी जैसे समस्त वन को जलाकर भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार क्रोध की आग भी आत्मा के गुणरूपी बाग को जलाकर समाप्त कर देती है ।

क्रोधान्ध व्यक्ति के विवेकचक्षु पर आवरण आ जाता है । उसकी दीर्घदर्शिता लुप्त हो जाती है । उसकी हिताहित की विचारशक्ति समाप्त हो जाती है और वह अनर्थकारी काम कर डालता है ।

क्रोधी व्यक्ति अपने दिल को तो जलाता ही है, अन्य के दिल को भी जला देता है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

लगा सको तो बाग लगाना, आग लगाना मत सीखो ।
जला सको तो दीप जलाना, दिल जलाना मत सीखो ।।

क्रोधी व्यक्ति स्व-पर उभय को संताप देता है ।

स्कन्दककुमार मुनि बन गये

एक बार श्रावस्ती नगरी में भगवान मुनिसुव्रत स्वामी का आगमन हुआ । उनकी वैराग्यरंजित देशना का अमीपान कर स्कन्दककुमार संसार से विरक्त बन गया और उसने प्रभु के चरणों में समर्पण कर दिया, भागवती प्रव्रज्या अंगीकार कर ली ।

जितशत्रु ने अपनी पुत्री पुरन्दरयशा का लग्न दण्डक राजा के साथ करा दिया ।

समय बीतने लगा ।

स्कन्दक मुनि सर्वशास्त्रों के पारगामी बने । अनेक राजकुमारों ने उनके पास दीक्षा अंगीकार की । वे 500 शिष्यों के गुरु बने । कालान्तर में उन्हें आचार्यपद से विभूषित किया गया ।

एक बार स्कन्दकाचार्य के मन में कुंभकारकट नगर में रही अपनी बहिन को प्रतिबोध देने की इच्छा हुई ।

उन्होंने मुनिसुव्रत स्वामी भगवान को अपनी भावना व्यक्त की ।

भगवान ने कहा-``स्कन्दक ! वहाँ मारणान्तिक उपसर्ग होगा । समस्त परिवार पर यह उपसर्ग आएगा ।''

``हे प्रभो ! हम सब आराधक बनेंगे या विराधक ?''

``तुम्हारे सिवाय सब आराधक बनेंगे ।''

भगवान की वाणी सुनकर स्कन्दकाचार्य ने कुंभकारकट नगर की ओर प्रयाण प्रारम्भ किया ।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए स्कन्दकाचार्य कुंभकारकट नगर के निकट पहुँच गये ।

बदले की भावना

ज्योंही महाराजा दण्डक को आचार्य भगवन्त के आगमन के समाचार मिले, उनकी प्रसन्नता का पार न रहा । मुनिदर्शन के लिए उनका मन लालायित हो उठा । मुनि के आगमन की वे प्रतीक्षा करने लगे ।

मुनि के आगमन पर महाराजा अत्यन्त प्रसन्न थे । परन्तु पालक मंत्री के हृदय में तो वैर की भयंकर गाँठ बँधी हुई होने से उसका मन प्रसन्न नहीं हुआ । वह किसी भी प्रकार से अपने वैर का बदला लेना चाहता था ।

आचार्य भगवन्त के नगर-आगमन में मात्र एक ही रात्रि शेष थी और पालक मंत्री ने अपने षड्यन्त्र का विस्तृत जाल बिछा दिया ।

पालक शस्त्रागार भंडारी के पास पहुँचा । उसने वहाँ से सैकड़ों हथियार निकलवा लिये । हथियार मिल जाने के बाद तत्क्षण पालक ने उस शस्त्रागार भंडारी की हत्या कर दी ।

स्वार्थ का कोई सगा नहीं

व्यक्ति जब स्वार्थ के वशीभूत होकर क्रोधान्ध बन जाता है, तब उसका कोई सगा नहीं रहता है ।

स्वार्थ के वशीभूत हुआ व्यक्ति नीचतम कार्य करने के लिए भी तैयार हो जाता है ।

शस्त्रों को लेकर वह मंत्री उद्यान में जा पहुँचा, जहाँ आचार्य भगवन्त का प्रातः पदार्पण होने वाला था ।

उसने जमीन खुदवाकर उसमें चारों ओर वे शस्त्र छिपा दिये और पुनः भूमि व्यवस्थित करवा दी ।

मरणान्त उपसर्ग

प्रातःकाल होते ही स्कन्दकाचार्य ने नगरी में प्रवेश किया । महाराजा मुनि की वन्दना कर ज्योंही राजभवन में आये, तभी पालक मंत्री महाराजा के पास पहुँच गया और बोला-``एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण समाचार प्राप्त हुआ है । जीवन-मरण का प्रश्न है ।''

``कहो ! क्या समाचार है ?''

``महाराज ! अपना गुप्तचर विभाग इतना सजग है कि कोई भेदी दुश्मन अपने घर में घुस जाये तो भी वे उसका पता लगा देते हैं । एक भयंकर शत्रु के षड्यन्त्र की गन्ध आ गई है ।''

``मंत्रीश्वर ! बात को जरा स्पष्ट करो ।'' ।

``राजन् ! बात तो स्पष्ट करूंगा, परन्तु क्या आप मुझ पर विश्वास करोगे ?''

``क्यों नहीं ?''

``तो सुनिए महाराज ! इस नगरी में जो स्कन्दकाचार्य आये हैं, वे साधु नहीं बल्कि अपने दुश्मन हैं । साधु के वेष में शैतानियत करने के लिए वे सज्ज बने हैं ।''

``मंत्रीश्वर ! तुम यह क्या बात करते हो ? यह बिल्कुल असम्भव बात है ।''

``राजन् ! मैंने तो पहले ही आपको कह दिया था कि आप मेरी बात का विश्वास नहीं करेंगे, परन्तु आपको इस बात का पूर्ण प्रमाण बता दूँ तो...।''

``तो मैं जरूर विश्वास करूंगा ।'' राजा ने जवाब दिया ।

``राजन् ! तो आप पधारिये मेरे साथ उद्यान में । उद्यान में जहाँ वे मुनि ठहरे हैं, वहाँ उन्होंने शस्त्र छिपाये हैं और वे अवसर पाकर नगर पर आक्रमण करना चाहते हैं ।''

महाराजा की आँखें क्रोध से लाल हो गईं ।

``महाराज ! अपने शस्त्रागार के भण्डारी की हत्या के भी समाचार मिले हैं ।''

महाराजा दण्डक तत्काल उद्यान में जाने के लिए तैयार हो गये । गुप्तचर भी साथ में थे । थोड़ी देर में राजा उद्यान के निकट पहुँच गये । गुप्तचर कुछ आगे बढ़े । उन्होंने उद्यान की जमीन खोदी और कुछ शस्त्र उन्हें मिल गये ।

शस्त्र पाते ही उनमें से एक महाराजा के पास पहुँचा । उसने वास्तविक घटना सुना दी ।

समाचार सुनते ही महाराजा आगबबूला हो उठे । उन्होंने पालक को धन्यवाद दिया, फिर बोले-``पालक ! तुमने सत्य को प्रकट कर मेरे राज्य को बचा लिया है । अब तू जा, तुझे योग्य लगे, वह शिक्षा कर ।''

``बस ! महाराजा की आज्ञा पाते ही पापी पालक उद्यान में पहुँच गया । आचार्य भगवन्त पर दोषारोपण का प्रहार करते हुए वह बोला-``हे दम्भी राजकुमार ! तुम्हारा कपट खुल गया है, तुमने जो हथियार उद्यान में छिपाये हैं, उससे राजा ने तुम्हें अपराधी घोषित किया है, अतः अब सजा के लिए तैयार हो जाओ ।''

आचार्यश्री ने कहा-``पालक ! तू यह क्या बोल रहा है ? शस्त्र से हमें क्या लेना-देना है ?''

पालक ने कहा-``अब बचाव का उपाय क्या करते हो ? मौत के लिए तैयार हो जाओ ।''

स्कन्दक मुनि को प्रभु की वाणी याद आ गई-``वहाँ मारणान्तिक उपसर्ग होगा'' अतः उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया और दारुण उपसर्ग में भी धैर्य और समाधि रखने का उपदेश दिया ।

स्कन्दकाचार्य की देशना, मानों अमृत का प्रवाह था, जिसे पीकर सभी ऐसे सज्ज हो गये, मानों उन्हें मौत का कोई भय ही नहीं था ।

पालक मंत्री ने तत्काल नौकरों को आदेश कर उस उद्यान के पास ही घाणी तैयार करा दी और आचार्य भगवन्त को सम्बोधित करते हुए वह बोला-``तैयार हो जाओ, तुम्हें अपने अपराध के बदले इस घाणी में पेला जाएगा।''

स्कन्दकाचार्य ने मुनियों की अन्तश्चेतना को पुनः जाग्रत करते हुए कहा-**``सिंह की भाँति हमने चारित्र अंगीकार किया है, अतः मृत्यु के कष्टों से हमें भयभीत नहीं होना है। ध्यान रखो ! आत्मा अजर है, अमर है। आग उसे जला नहीं सकती है, पानी उसे गला नहीं सकता है और घाणी उसे पेल नहीं सकती है। अपने ही अशुभोदय से मरणान्त उपसर्ग आ रहा है, अतः इसमें अन्य किसी का दोष नहीं है। जीव ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है, अन्य जीव तो निमित्त मात्र हैं। अत्यन्त धैर्य व मैत्री को धारण कर अपनी आत्मा को शुभ व शुद्ध ध्यान में लगाये रखना...।''**

स्कन्दकाचार्य की वाणी ने शिष्यों पर जादू-सा असर किया।

सभी उपसर्ग सहन करने के लिए तैयार हो गये। किसी ने आनाकानी नहीं की।

...और पालक ने सब तैयारी कर दी। पालक ने घाणी में कूदने के लिए आदेश दिया। मुनि ने अरिहंतादि की शरणागति स्वीकार की और घाणी में कूद पड़े। घाणी घूमने लगी और मुनि का देह चूर-चूर होने लगा, शरीर में से रक्त की धारा बहने लगी...परन्तु आश्चर्य ! घाणी ने उनके औदारिक देह का विनाश किया और मुनि ने अपने कार्मण बन्धन तोड़ दिये...वे सर्वथा मुक्त हो गये।

देहपिंजर नष्ट हो गया, किन्तु आतमपंखी ने तो मोक्ष की और उड़ान भर दी और वे सदा के लिए बन्धनमुक्त हो गये...।

तभी दूसरे मुनि भी घाणी में कूदने के लिए तैयार हो गये।

आदेश होते ही वे भी कूद पड़े। शरीर चूर-चूर होने लगा-गुरुदेव ने निर्यामणा कराई और वे भी सदा के लिए बन्धनमुक्त हो गये। देखते-ही-देखते 499 साधुओं को पेल दिया गया और वे सभी कर्ममुक्त हो गये।

अन्त में रह गये-एक बालमुनि ! अल्पवय और अत्यन्त सुकोमल काया।

बालमुनि के देहनाश की कल्पना मात्र से स्कन्दकाचार्य का मन काँप उठा। उन्होंने सोचा-``बालमुनि की इस वेदना को मैं देख न सकूंगा।'' अतः

उन्होंने पालक को कहा-``पालक ! बस, मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कर ले । इस बालमुनि की वेदना को मैं देख नहीं सकूंगा, अतः इसके पूर्व मुझे पेल दो ।''

पालक ने आचार्यदेव की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया । उसे तो वही मंजूर था, जिससे स्कन्दकाचार्य को अधिक वेदना हो ।

...और स्कन्दकाचार्य ने बालमुनि को प्रेरणा से प्रोत्साहित करते हुए कहा-**``बालमुनि ! तू उम्र से छोटा है, तेरी काया छोटी है, परन्तु तेरी आत्मा छोटी नहीं है, तेरी आत्मा अजर है, अमर है और अनन्त है । तू इस कष्ट को सहर्ष स्वीकार करेगा न ?''**

बालमुनि ने कहा-**``चिन्ता न करें, भगवन् ! आपकी अमृतवाणी का अमीपान किया है, अतः देह-दुःख की कोई परवाह नहीं है ।''**

स्कन्दकाचार्य ने बालमुनि को निर्यामणा कराई ।

बालमुनि ने समताभाव बनाये रखा और समस्त घाति अघाति कर्मों के बन्धनों को तोड़कर वे सदा के लिए बन्धनमुक्त हो गये ।

अब बारी आई स्कन्दकाचार्य की ।

परन्तु उनके चेहरे पर प्रसन्नता नहीं थी । बालमुनि के देहनाश को वे सहन न कर सके । उनकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं । उनका हृदय धमधमा उठा । उन्होंने निदान किया-

``मेरे तप का मुझे कोई फल मिले तो मैं दण्डक, पालक व इस राष्ट्र का संहारक बनूँ ।''

``क्रोध क्रोड पूरवतणुं समय फल जाय'' कितनी सुन्दर बात कही है । करोड़ों वर्ष की तप-साधना भी क्रोध से नष्ट हो जाती है ।

सबको समत्व का दान देने वाले स्कन्दकाचार्य स्वयं संयम का फल हार गये । गम्भीर भूल का गम्भीर परिणाम आया ।

घाणी में वे पेल दिये गये...मर कर वे अग्निकुमार देव बने । उन्होंने ज्ञान का उपयोग लगाया और तत्काल उन्हें वैरी पालक दिखाई दे गया ।

उसी समय उनके रक्तरंजित रजोहरण को किसी पक्षी ने उठा लिया और उसे वस्त्र मानकर पुनः छोड़ दिया । रजोहरण पुरन्दरयशा के महल में गिरा ।

रक्तरंजित रजोहरण देखते ही पुरन्दरयशा का कोमल हृदय काँप उठा । ``ओहो ! मेरे राज्य में मुनिहत्या ! किसने की ? क्यों की ? ऐसा भयंकर अपराध ? कौन है वह महापापी ?''

महारानी तत्काल दौड़ती हुई महाराजा के पास आई और जोर-जोर से करुण रुदन करने लगी । ``हाय ! मेरे भाई मुनि की हत्या...।''

उसी समय शासनदेवता ने पुरन्दरयशा को वहाँ से उठाकर मुनिसुव्रत स्वामी भगवान के पास पहुँचा दिया ।

भगवान की वाणी का श्रवण कर पुरन्दरयशा शान्त हुई और उसने प्रभु के पास चारित्र स्वीकार कर लिया ।

इधर कोपायमान बने अग्निकुमार देव ने `कुंभकारकट' नगर को जलाकर भस्मीभूत कर दिया ।

इस प्रकार क्रोधावेश में आकर पालक और स्कन्दकाचार्य ने एक-दूसरे से वैर का बदला लिया और दोनों ने अपना संसार बढ़ा लिया ।

इस प्रकार पूर्व इतिहास को बतलाते हुए महर्षि ने कहा-``हे महानुभावो ! तब से इस वन का नाम `दण्डकारण्य' पड़ा । दण्डक राजा भी इस संसार में भटका और अन्त में कर्मसंयोग से इस गिद्ध पक्षी के रूप में अवतरित हुआ है और मेरे दर्शन से इसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और चरण-स्पर्श से इसका रोग दूर हो गया ।''

मुनि के मुख से अपने पूर्व भव की सत्य घटना सुनकर जटायु को आश्चर्य भी हुआ और प्रसन्नता भी । उसने मुनि के समक्ष तीन प्रतिज्ञाएँ कीं -

- किसी जीव की हिंसा नहीं करूंगा ।
- मांसाहार नहीं करूंगा ।
- रात्रि में भोजन नहीं करूंगा ।

राम ने उसे साधर्मिक मानकर अपने पास रखा ।

कुछ समय बाद विद्याधर मुनि आकाशमार्ग से प्रयाण कर गये ।

शम्बूक की विद्यासाधना

लंकापति रावण की बहिन चन्द्रणखा का लग्न खर नामक विद्याधर के साथ हुआ था । खर विद्याधर के दो पुत्र पैदा हुए- (1) शम्बूक और (2) सुन्द ।

शम्बूक अत्यन्त पराक्रमी राजकुमार था । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद उसके हृदय में **'सूर्यहास खड्ग'** की साधना करने की इच्छा पैदा हुई ।

शम्बूक ने अपने माता-पिता के समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त की और इस हेतु दण्डकारण्य में जाने के लिए आज्ञा मांगी । परन्तु उसके माता-पिता ने उसे दण्डकारण्य में जाने से मना कर दिया । पिता खर ने कहा- ``दण्डकारण्य अत्यन्त भयंकर वन है, अतः साधना के लिए वहाँ जाना योग्य नहीं है ।''

परन्तु राजकुमार शम्बूक ने अपने पिता की बात नहीं मानी और आखिर दण्डकारण्य में जाने के लिए वह तैयार हो गया ।

सूर्यहास खड्ग की सिद्धि के लिए बारह वर्ष और सात दिन तक साधना करनी पड़ती है । नियमित एक बार भोजन, ब्रह्मचर्य का पालन और इसके साथ अधोमुख लटक कर विद्या का जाप करना होता है ।

शम्बूक ने पातालंका से प्रयाण किया और वह दण्डकारण्य में आ पहुँचा । दण्डकारण्य में बाँस की झाड़ियों के बीच में साधना करने का उसने तप किया और एक शुभ मुहूर्त्त में उसने विद्या-साधना प्रारम्भ कर दी ।

अपने मन, वचन और काया को एकाग्र कर वह निरन्तर जापसाधना में आगे बढ़ता गया ।

सुख का रागी जीव सुख को पाने के लिए अथवा सुख की आशा से कितने भयंकर कष्टों और उपसर्गों को सहन कर लेता है । सुख का तीव्र अनुराग होने से उसे वे कष्ट, कष्ट रूप नहीं लगते हैं ।

एक धनार्जन के लिए आप कितने कष्ट सहते हो ?

सर्दी, गर्मी, अनुकूलता, प्रतिकूलता, मान-अपमान सब सहन करते हो ? परन्तु मात्र सुख या धन की आशा से !

यदि इतने ही कष्ट आत्म-साधना के लिए सहर्ष सहन किये जायें तो आत्मा इस संसार से अवश्य मुक्त बन जाय ।

धर्म में ही कष्ट से कतराते हो । धर्म के लिए त्याग की बात आती है तो त्याग नहीं होता है ।

मधुमेह (डाइबीटीज) की बीमारी हो जाय और डॉक्टर शक्कर के

त्याग की बात करे तो आप तुरन्त त्याग दोगे । अन्य बीमारी ब्लडप्रेशर आदि में घी और नमक भी छोड़ दोगे, परन्तु इच्छापूर्वक आयंबिल का तप स्वीकार नहीं है ।

एक संसार-सुख की आशा से ही यह शम्बूक कितना कष्ट सहन कर रहा है ? फिर भी इसका परिणाम ?

अनजान में शम्बूक का शिरोच्छेद

शम्बूक की साधना के 12 वर्ष और चार दिन व्यतीत हो चुके थे । इस उत्कट साधना के प्रभाव से आकाश में चमकती हुई सूर्यहास तलवार लटक रही थी ।

दृढ़संकल्पी व्यक्ति के लिए साधना और सिद्धि दूर नहीं है ।

अब मात्र तीन ही दिन बाकी थे । इसी समय लक्ष्मणजी भी कौतूहल-वश दण्डकारण्य में घूमते हुए वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने आकाश में सूर्यहास खड्ग को लटकते हुए देखा । इस चमकती हुई तलवार को देखकर लक्ष्मणजी के हृदय में कौतूहल पैदा हो गया । कहा भी गया है-

'अपूर्वशस्त्रलोके हि क्षत्रियाणां कुतूहलम्'

अपूर्व शस्त्र को देखने पर क्षत्रियों को कौतूहल होना सहज है ।

लक्ष्मणजी ने तलवार पकड़ने के लिए हाथ ऊँचा किया और वह तलवार अपने हाथ में उठा ली ।

सूर्यहास खड्ग को पाने के लिए शम्बूक को 12 वर्ष की कठोर साधना करनी पड़ी, जबकि वही तलवार लक्ष्मणजी को बिना किसी साधना के प्राप्त हो गई ।

पुण्यशाली जहाँ कदम रखता है, उसे निधान की प्राप्ति होती है । उसे फल पाने के लिए अधिक साधना की आवश्यकता नहीं रहती है ।

तलवार को उठाने के बाद लक्ष्मणजी के मन में उस तलवार की तीक्ष्णता को पहचानने का कौतूहल पैदा हुआ और उन्होंने उस तलवार से बाँस की झाड़ी पर तीक्ष्ण प्रहार किया । परन्तु यह क्या ? बाँस के छेद के साथ ही शम्बूक का भी सिर धड़ से अलग हो गया ।

लक्ष्मणजी ने तलवार को ज्योंही खून से रंगा देखा और पास में ही

कटे हुए सिर को देखा तो वे चौंके-``अहो...यह क्या ? मेरे हाथ से एक निर्दोष व्यक्ति की हत्या हो गई ?''

लक्ष्मणजी का मन पश्चात्ताप से भर आया। वे सोचने लगे-``एक निर्दोष और शस्त्ररहित व्यक्ति की हत्या कर मैंने एक भयंकर कुकर्म कर दिया।''

अत्यन्त पश्चात्तापपूर्ण हृदय से लक्ष्मणजी उस तलवार को लेकर वहाँ से चल पड़े और रामचन्द्रजी के पास आ गये।

बड़े भाई के पास आकर उन्होंने अपना समस्त वृत्तान्त उन्हें सुना दिया।

रामचन्द्रजी ने कहा-``अवश्य ही एक साधक की हत्या हो गई है, पास में ही उसका उत्तरसाधक भी होना चाहिए।''

चन्द्रणखा का करुण रुदन

अपने पुत्र शम्बूक की विद्यासाधना की समाप्ति अल्प दिनों में ही जानकर चन्द्रणखा भी दण्डकारण्य में जाने के लिए तैयार हो गई। वह एक थाल में पूजन की सब सामग्री, अनेकविध नैवेद्य और फल लेकर दण्डकारण्य में आ पहुँची।

चन्द्रणखा के मुख पर प्रसन्नता थी, वर्षों बाद अब उसका पुत्र साधना के शिखर को पार करने जा रहा था।

परन्तु उसे यह कहाँ कल्पना थी कि उसका पुत्र तो मौत का शिकार बन चुका है।

थोड़ी ही देर में चन्द्रणखा अपने पुत्र की साधना-भूमि के निकट आ पहुँची, वहाँ पर ज्योंही अपने पुत्र के मस्तक को धड़ से अलग पड़ा देखा तो उसके दुःख का पार न रहा। वह करुण कल्पान्त विलाप व रुदन करने लगी। ``हाय ! शम्बूक ! किसने तेरी हत्या कर डाली ? अरे दुष्ट भाग्य ! तूने मेरा सर्वस्व लूट लिया।''

थोड़ी देर के बाद वह कुछ शान्त बनी और सोचने लगी ``इस भयंकर वन में किसने मेरे पुत्र का वध किया होगा ? वह कौन दुष्ट हत्यारा है ?'' इस प्रकार विचार करते-करते उसे पास में ही पद-चिह्न दिखाई दिये। उसने सोचा, जरूर किसी हत्यारे ने मेरे पुत्र का वध किया है और वह यहाँ से गया है..।

पदचिह्नों को देखकर चन्द्रणखा भी उस मार्ग में आगे बढ़ी।

चन्द्रणखा ने दूर से ही एक वृक्ष के नीचे राम, सीता और लक्ष्मण को बैठे हुए देखा ।

अद्भुत परिवर्तन

संसारी जीवों की स्थिति कितनी विषम है ? क्षण में वह सुखी तो दूसरे ही क्षण में वह दुःखी हो जाता है ।

चन्द्रणखा ने जब दण्डकारण्य में प्रवेश किया, तब उसके हृदय में व मुख पर प्रसन्नता थी, परन्तु ज्योंही उसने अपने पुत्र का वध देखा, उसके शोक का पार न रहा, उसका हृदय विषाद से भर आया । परन्तु आश्चर्य ! वह ज्योंही राम की ओर आगे बढ़ी, उसने राम का अद्भुत रूप देखा-वह कामातुर हो गई, उसके हृदय में वासना प्रबल हो उठी, वह अपने पुत्र-विरह की व्यथा को भी भूल गई और उसके हृदय में राम को पाने की इच्छा प्रबल हो उठी ।

अपात्र को शुभ निमित्त भी हानिकर

सामान्यतः यह नियम है कि शुभ निमित्त का मानव मन पर शुभ असर होता है और अशुभ निमित्त का अशुभ असर । परन्तु अयोग्य आत्मा के लिए तो शुभ-निमित्त भी हानिकर बन जाते हैं ।

राम को देखते ही चन्द्रणखा के हृदय में काम पैदा हो गया ।

राम को पाने के लिए उसने रूपपरावर्तिनी विद्या से अपना रूप बदल लिया और वह एक नवयौवना रूपवती कन्या बन गई और राम के निकट पहुँच गई ।

भीषण वन में इस कन्या को देखकर राम ने पूछा-``भद्रे ! तू कौन है ?''

उसने कहा-``मैं अवन्ती के राजा की कन्या हूँ । मैं महल के ऊपरी भाग में घूम रही थी, उसी समय आकाशमार्ग से एक विद्याधर आया और उसने मेरा अपहरण कर लिया, वह मुझे उठाकर दण्डकारण्य में आ पहुँचा, उसी समय एक-दूसरे विद्याधर ने मुझे देख लिया । उस विद्याधर ने मेरे अपहर्ता विद्याधर से युद्ध किया और उस युद्ध में दोनों विद्याधर मारे गये और मैं अब अकेली रह गई । अतः मेरे भाग्योदय से आप मिल गये हो, अतः मेरे साथ पाणिग्रहण कर मुझे कृतार्थ करो ।''

राम-लक्ष्मण का प्रत्युत्तर

चन्द्रणखा ने राम से लग्न के लिए प्रार्थना की, तब राम ने कहा-``हे भद्रे ! मेरा तो लग्न हो चुका है और मेरी पत्नी भी साथ में है, अतः तू लक्ष्मण के पास जा ।''

राम का निराशाजनक उत्तर सुनकर वह लक्ष्मण के पास आई, तब लक्ष्मण ने कहा-``भद्रे ! तुम मन से राम को वर चुकी हो, अतः मैं तुम्हें कैसे स्वीकार करूँ ?''

जब राम और लक्ष्मण दोनों ने लग्न से इन्कार कर दिया तो चन्द्रणखा क्रोधातुर बन गई । उसके हृदय में पुनः वैर की भावना प्रबल हो उठी और वह किसी भी प्रकार से अपने पुत्र के हत्यारों से बदला लेने की सोचने लगी ।

चन्द्रणखा ने दण्डकारण्य से प्रयाण कर दिया और वह पाताल लंका में जा पहुँची ।

लक्ष्मण का खर से युद्ध

अपने राजभवन में पहुँचकर चन्द्रणखा ने भयंकर करुण रुदन प्रारम्भ किया । उसके इस रुदन को सुनकर महाराजा खर दौड़ते हुए उसके पास आये । उससे रुदन का कारण पूछा ।

उसने कहा-``क्या कहूँ ? शंबूक का वध हो गया है ।''

शंबूक की मृत्यु के समाचार से खर को भी वज्राघात लगा । फिर भी धैर्य रखकर उसने पूछा-``किस दुष्ट ने हमारे पुत्र का वध किया है ?''

चन्द्रणखा ने कहा-``शंबूक दण्डकारण्य में सूर्यहास खड्ग की साधना कर रहा था, उसकी साधना पूरी होने को थी । उस दण्डकारण्य में रहे राम-लक्ष्मण के हाथों वह मारा गया ।''

``...प्रिये ! मैं अभी जाता हूँ और उन दुष्टों को खत्म करके अभी आता हूँ ।''

``स्वामिन् ! वे बहुत बलवान हैं, अतः आप अकेले मत जाओ, अपने सैन्य को साथ ले जाओ ।''

बस ! खर ने अपनी सेना को तैयार होने का आदेश दिया । थोड़ी ही देर में सब सैनिक तैयार हो गये ।

खर ने 14000 सैनिकों के साथ दण्डकारण्य की ओर प्रयाण किया ।

वायुमार्ग से विमान द्वारा आगे बढ़ते हुए वे सब सैनिक दण्डकारण्य में आ पहुँचे ।

युद्ध के वातावरण को देखकर तत्काल रामचन्द्रजी भी युद्ध के लिए तैयार होने लगे ।

रामचन्द्रजी को युद्ध के लिए तैयार होते देख लक्ष्मणजी ने कहा- ``मेरे होते हुए आपका युद्ध में जाना उचित नहीं है, आप यहीं रहिए, मैं अभी थोड़ी ही देर में शत्रुओं का संहार कर लौटता हूँ ।''

राम ने कहा-``ये तो हजारों की तादाद में हैं और तुम अकेले...।''

लक्ष्मण ने कहा-``सिंह तो अकेला ही बहुत है । उसे किसी सहाय की अपेक्षा नहीं रहती है । अतः आप मेरी चिन्ता न करें ।''

लक्ष्मण को अकेले ही युद्धभूमि की ओर प्रयाण करते देखकर रामचन्द्रजी ने कहा-``मुझे तुम्हारे पराक्रम पर पूर्ण विश्वास है । तुम युद्ध में विजयी बनकर ही लौटोगे, परन्तु फिर भी युद्ध में कोई आपत्ति या संकट आ जाय तो तुम ``सिंहनाद'' करना ताकि उसे सुनकर मैं तुम्हारी सहायता के लिए आ सकूँ ।''

लक्ष्मणजी ने अपने भाई की बात स्वीकार की और वे युद्धभूमि की ओर चल दिये ।

खर ने लक्ष्मणजी को युद्ध के लिए ललकारा । लक्ष्मणजी तो इस आमन्त्रण के लिए सज्ज ही थे, अतः तत्क्षण युद्ध प्रारम्भ हो गया ।

लक्ष्मणजी ने धनुष उठाया और जोर से टंकार किया । वे घास की तरह खर के सैन्य को काटने लगे । लक्ष्मणजी के अद्‌भुत पराक्रम को देख खर-सैन्य में हाहाकार मच गया । सैकड़ों की संख्या में सैनिक भूमि पर गिरने लगे और यमराज के कवल बनने लगे ।

चन्द्रणखा ने अपनी आँखों से यह वातावरण देखा । उसने सोचा- ``अहो ! मेरे पति का सैन्य तो चींटियों की भाँति मर रहा है, अब क्या होगा...?''

इस प्रकार सोचकर चन्द्रणखा ने लंका का मार्ग लिया और अल्प समय में ही वह लंका पहुँच गई ।

चन्द्रणखा ने रावण को उत्तेजित किया

चन्द्रणखा रावण के महल में पहुँच गई और जोर से रुदन करने लगी। रावण ने अपनी बहिन का रुदन सुना। सुनते ही उसे बड़ा आघात लगा-``बहिन को क्या तकलीफ है ?'' चन्द्रणखा को शान्त करते हुए उसने कहा-``बहिन ! चुप हो जाओ। इतना करुण विलाप क्यों कर रही हो ? क्या तकलीफ है, मुझे कहो। मैं तुम्हारी पीड़ा सहन नहीं कर सकता हूँ।''

चन्द्रणखा ने कहा-``मैं मेरी पीड़ा का क्या वर्णन करूँ ? तेरा भाणेज शम्बूक सूर्यहास खड्ग की साधना के लिए दण्डकारण्य में गया था, उसकी साधना समाप्ति पर ही थी, तभी दण्डकारण्य में रहे राम और लक्ष्मण ने मेरे पुत्र शम्बूक का वध कर दिया।''

``पुत्रवध के समाचार सुनकर तुम्हारे बहनोई युद्ध के लिए दण्डकारण्य में गये हैं और वे लक्ष्मण के साथ युद्ध कर रहे हैं।

``राम अपनी पत्नी सीता के साथ विलास करता हुआ थोड़ी दूरी पर बैठा है। मैंने सीता के अद्भुत रूप को देखा...सोचा ``वह कोई नागकन्या है अथवा कामदेव की पत्नी रति है ? कितना सुन्दर व भव्य रूप है ! इतनी सुन्दर स्त्री पर भी तुम्हारा अधिकार नहीं ? समुद्र पर्यन्त तुम्हारा साम्राज्य है तो फिर वह स्त्रीरत्न तुम्हारे अन्तःपुर में क्यों नहीं ? तुम जाओ और उस स्त्रीरत्न को ग्रहण करो।''

चन्द्रणखाः विषय और कषायाधीन

मोहाधीन आत्माओं की दशा बड़ी विचित्र होती है, चन्द्रणखा विषय और कषाय के अधीन बनी हुई थी।

जब राम और लक्ष्मण ने उसकी वैषयिक इच्छा पूर्ण नहीं की तो वह क्रोधान्ध बन गई और किसी भी प्रकार से राम, लक्ष्मण से बदला लेने की सोचने लगी।

लक्ष्मण को तो खर के साथ युद्ध में लगा दिया, अब राम को भी परेशान करना चाहती है, अतः उसने इस हेतु रावण के सामने सीता के अद्भुत रूप का वर्णन कर, रावण को उत्तेजित किया। वह रावण की कमजोरी को अच्छी तरह से जानती है। रावण में अन्य अनेक गुण थे परन्तु इसके साथ

ही वह अत्यन्त कामुक भी था, अतः राम से बदला लेने के लिए उसने रावण को उत्तेजित किया ।

रावण का प्रयाण

सीता के अद्भुत रूप का वर्णन सुनकर रावण उसे पाने के लिए लालायित हो उठा । उसने तत्क्षण पुष्पक विमान तैयार किया और दण्डकारण्य की ओर प्रयाण कर दिया । पवन की गति से उड़ता हुआ वह विमान दण्डकारण्य में आ पहुँचा ।

विमान को वृक्ष के नीचे स्थिर कर रावण विमान से बाहर निकला । थोड़ी ही दूरी पर उसने राम को सीता के साथ बैठे हुए देखा ।

सीता के अद्भुत रूप और लावण्य को देख उसके नेत्र स्थिर हो गये, वह अनिमेष दृष्टि से सीता की ओर देखता ही रहा...परन्तु ज्योंही उसने सीता के साथ राम को देखा, वह वहीं स्थिर हो गया । राम के दिव्य तेज को वह सहन न कर सका और वहीं रुक गया ।

रावण सोचने लगा-``राम के होते हुए सीता का अपहरण करना मेरे लिए अत्यन्त दुष्कर है अतः अब क्या करूँ ? यदि ऐसे ही लौटूंगा तो चन्द्रणखा क्या समझेगी ?...?''

इस प्रकार मन-ही-मन विचार-विमर्श करने के बाद उसने विद्याशक्ति का आश्रय लिया । उसने **``अवलोकिनी''** विद्या का स्मरण किया । स्मरण के साथ ही वह देवी रावण के सामने उपस्थित हो गई ।

देवी ने पूछा-``मेरे योग्य सेवा...?'' रावण ने सीताहरण की चर्चा की ।

देवी ने कहा-``नागराज के मस्तक पर रहे रत्न को ग्रहण करना सरल है, परन्तु राम के रहते हुए सीता का अपहरण करना देवों के लिए भी दुष्कर है, अतः यह कार्य तो मेरे लिए अशक्य है ।''

देवी की यह बात सुन कर रावण ने कहा-``राम को सीता से दूर करने का कोई उपाय नहीं है ?''

देवी ने कहा-``हाँ ! उपाय जरूर है, जिससे राम को सीता से दूर किया जा सकता है ।''

``तो बताओ वह उपाय ?''

देवी ने कहा-``राम के भाई लक्ष्मणजी जब युद्ध में गये तब राम ने

संकेत किया कि ``यदि तुझ पर कोई आपत्ति आ जाय तो तू सिंहनाद करना'' यदि इस प्रकार सिंहनाद किया जाय तो राम यहाँ से अवश्य हट सकते हैं ।''

रावण ने कहा-``तो ऐसा ही करो ताकि मेरा कार्य आसान हो जाय ।''

बस ! रावण की आज्ञा पाकर अवलोकिनी विद्या कुछ दूरी पर चली गई और उसने लक्ष्मण की आवाज के सामान जोर से सिंहनाद किया ।

भाई की सहायतार्थ राम का गमन

सिंहनाद को सुनकर रामचन्द्रजी सोचने लगे-``मेरा भाई तो इस जगत् में अद्वितीय पराक्रमी है, उस पर संकट कहाँ से आवे...परन्तु फिर भी संकट के संकेत रूप सिंहनाद तो सुनाई दे रहा है ।''

सिंहनाद सुनकर सीता ने कहा-

``आर्यपुत्र ! लक्ष्मणजी संकट में हैं, अतः आप बिना किसी प्रकार का विचार किये भाई की सहायता के लिए शीघ्र पधारो ।''

सीता की बात सुनकर रामचन्द्रजी तत्काल युद्धभूमि की ओर जाने के लिए सज्ज हो गए...हाथ में धनुषबाण उठाया और उन्होंने युद्ध-भूमि की ओर प्रयाण कर दिया ।

राम के हृदय में लक्ष्मणजी के प्रति कितना अपूर्व स्नेह होगा कि वे सिंहनाद को सुनकर तुरन्त ही भाई की सहायता के लिए चल पड़े ।

सीता का अपहरण

रावण ने जब राम को जाते हुए देखा तब उसका हृदय आनन्द से नाच उठा । बस ! अब सीता का अपहरण मैं आसानी से कर सकूंगा...यह सोचकर वह विमान में आरूढ़ हुआ और सीता के निकट आ पहुँचा...सीता कुछ समझ ही न पाई । रावण ने तत्काल सीता को उठाकर विमान में डाल लिया और विमान रवाना कर दिया ।

सीता ने अपना अपहरण होते जानकर भयंकर और करुण रुदन किया ।

जटायु पर प्रहार

सीता का करुण रुदन सुनकर पास ही के वृक्ष पर स्थित जटायु पक्षी सीता के पास आ पहुँचा । वह बोला-``हे स्वामिनि ! आप चिन्ता न करें, मैं

आ गया हूँ ।'' इतना कहकर उस पक्षी ने रावण पर तीक्ष्ण प्रहार किये । अपनी चोंच और नाखूनों से उसने रावण पर जोर से प्रहार किये ।

परन्तु रावण इस प्रहार को कैसे सहन करे ? उसने म्यान से तलवार निकाली और जटायु पक्षी पर प्रहार किया, जटायु पक्षी की पाँखें छेद दी गई और वह भूमि पर गिर पड़ा ।

उन्मार्ग का प्रतिकार करो

जटायु पक्षी ने अपने सामर्थ्य का विचार किये बिना भी रावण का प्रतिकार किया था ।

अन्याय, अनीति और उन्मार्ग का प्रतिकार करना सज्जनों का कर्त्तव्य है । धर्म के ध्वंस को रोकने के लिए, तीर्थ की रक्षा के लिए और शील की रक्षा के लिए व्यक्ति को प्रतिकार करना ही चाहिए, उस समय कायर बनकर शान्त बैठने में महानता नहीं है ।

जटायु भले ही मारा गया हो, परन्तु उसने अन्याय का प्रतिकार किया था ।

...रावण का विमान तेजी से आगे बढ़ता जा रहा था...और सीताजी जोर-जोर से क्रन्दन कर रही थी...चिल्ला रही थी ।

विद्याधर रत्नजटी ने सीता का रुदन सुना और सोचा, ``अवश्य ही कोई सीता का अपहरण कर रहा है और वह भयंकर रुदन कर रही है, अतः मुझे उस दुष्ट का अवश्य प्रतिकार करना चाहिए और सीता को बन्धन से मुक्त करना चाहिए ।'' अतः वह भी आकाशमार्ग से पुष्पक विमान के सामने आ खड़ा हुआ और अपनी तलवार घुमाते हुए उसने रावण को ललकारा । परन्तु सहस्त्रविद्यापति रावण के आगे उसकी क्या ताकत थी ! रावण ने क्षणभर में उसकी सब विद्याओं का अपहरण कर लिया और वह बिचारा असहाय होकर कंबूद्वीप की भूमि पर गिर पड़ा ।

रत्नजटी ने रावण की दुर्नीति का प्रतिकार तो किया, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली ।

पुष्पक विमान तेजी से आकाशमार्ग से आगे बढ़ता जा रहा था । रावण के हृदय में सीता को पाने का आनन्द था ।...लंका अब बहुत ही समीप थी, उसने विमान की गति मन्द की और सीता से बोला...

``हे सीते ! तू इतना करुण विलाप क्यों कर रही है ? हर्ष के प्रसंग

में इतना शोक क्यों ? तुझे पता है मैं कौन हूँ ? समस्त विद्याधरों का मैं सम्राट् हूँ और तू मेरी महारानी बनेगी...।''

``देवी ! मन्दभागी राम के साथ तेरा सम्बन्ध कराकर विधाता ने यह योग्य कार्य नहीं किया है, लेकिन अब मैंने उचित ही किया है ।

``हे देवी ! तू तुझे पति के रूप में स्वीकार कर । इस हेतु मैं तेरा दासत्व स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ ।''

रावण के इस प्रकार के वचनों को सुनकर पहले तो सीता ने कोई जवाब नहीं दिया और ``राम'' के नाम का ही जप करने लगी, परन्तु अन्त में कामातुर रावण ने सीता के चरणों में अपना मस्तक झुकाया और प्रणाम किया, तब अत्यन्त आक्रोश में आकर सीता ने कहा-

``हे निर्लज्ज ! हे निर्दय ! परस्त्री की कामना करके तूने अपनी मृत्यु को आमन्त्रण दिया है ।''

सीता ने रावण का जोर से प्रतिकार किया ।

रावण ने सोचा-``इस सीता ने मेरी समृद्धि के दर्शन नहीं किये हैं, इसीलिए यह राम-नाम का जाप कर रही है, परन्तु लंका में प्रवेश के बाद ज्यों-ज्यों मेरी समृद्धि के दर्शन करेगी...त्यों-त्यों यह राम को भूलती जाएगी और अन्त में मुझे स्वीकार कर लेगी ।''

पुष्पक विमान ने लंका में प्रवेश किया । अनेक सामन्तों ने रावण का हार्दिक स्वागत किया ।

उसी समय सीता ने उच्च स्वर से प्रतिज्ञा की-**``जब तक मुझे श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की कुशलता के समाचार नहीं मिलेंगे, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी ।''**

सीता के निवास के लिए रावण ने `देवरमण' उद्यान की पसन्दगी की थी, अतः तुरन्त सीता को `देवरमण' उद्यान में लाया गया । `देवरमण' उद्यान का सौन्दर्य अतुलनीय था । हर प्रकार के वैभव-विलास के साधन वहाँ उपलब्ध थे । बगीचे में चारों ओर घटादार विशालकाय वृक्ष थे । अनेकविध सुगन्धित पुष्पों से बगीचे का वातावरण अत्यन्त सुगन्धमय बना हुआ था । सीता की सेवा के लिए दासियाँ नियुक्त कर दी गई थीं ।

सीता की याद में रावण की नींद हराम हो चुकी थी । उसके हृदय की शान्ति लुप्त हो चुकी थी । कामवासना से वह अत्यन्त सन्तप्त बन चुका था ।

सीता को अपनी रानी बनाने के लिए उसने भरसक प्रयत्न किये, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली...अतः वह अत्यन्त उदास था । उसके चेहरे की प्रसन्नता लुप्त हो चुकी थी ।

'काम' आत्मा का एक भयंकर अन्तरंग शत्रु है । इस शत्रु से परास्त आत्मा भयंकर दुर्दशा की शिकार बनती है । कामवासना की अन्तरंग आग मानव को अत्यन्त सन्तप्त बना देती है ।

काम का गुलामः रावण

रावण कामवासना से सन्तप्त था । वह किसी भी प्रकार से सीता का संग पाना चाहता था ।

ओहो ! कितने आश्चर्य की बात है ! युद्ध में हजारों को परास्त करने वाला, भयंकर उपसर्गों को सहन करने वाला रावण सीता के चरणों में नतमस्तक था । तीन खण्ड का अधिपति एक स्त्री के रूप-सौन्दर्य के आगे मात खा गया ।

मैंने सिंहनाद नहीं किया !!!

सीता को अकेली छोड़कर रामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण की सहायता के लिए युद्धभूमि में पहुँचे । लक्ष्मणजी ने ज्योंही रामचन्द्रजी को निकट आते हुए देखा, वे सहसा बोल उठे-``भैय्या ! आप यहाँ क्यों पधारे ? सीताजी कहाँ हैं ?''

रामचन्द्रजी ने कहा-``मैं तो तेरे सिंहनाद को सुनकर आया हूँ-अपन ने पहले संकेत किया था न !''

लक्ष्मणजी ने कहा-``पर मैंने तो सिंहनाद नहीं किया, जरूर किसी ने कोई मायाजाल रचा है ।''

``क्या तूने सिंहनाद नहीं किया था ?''

``नहीं । मैंने तो कोई सिंहनाद नहीं किया ।''

``ओहो ! तब तो अवश्य कोई षड्यंत्र होना चाहिए ।'' राम ने कहा ।

लक्ष्मणजी ने कहा-``भैय्या ! आप क्षण भर का भी विलम्ब किये बिना सीताजी के पास पहुँचिए, मुझे तो इस नकली सिंहनाद से किसी आपत्ति का संकेत लग रहा है ।''

``लक्ष्मण ! युद्धभूमि में मेरी जरूरत तो...।''

``नहीं ! भैय्या ! आप जल्दी सीताजी के पास जाओ । अकेली भाभी पर कोई आपत्ति आ सकती है ।''

``अच्छा ! तो मैं जाता हूँ ।'' कहकर रामचन्द्रजी चल पड़े ।

सीता नहीं मिली

तेजी से चलते हुए रामचन्द्रजी अपनी गुफा के पास आए, जहाँ वे सीताजी को छोड़कर गये थे । रामचन्द्रजी ने वहाँ सीता को नहीं देखा...वे मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े । बहुत देर तक रामचन्द्रजी मूर्च्छित अवस्था में पड़े रहे ।

जब उन्हें कुछ होश आया, वे पुनः सीता को ढूंढने लगे...थोड़ी दूरी पर उन्होंने मरणासन्न जटायु पक्षी को देखा । वे जटायु के निकट पहुँचे । जटायु की इस हालत को देखकर उन्हें अत्यन्त खेद हुआ । अवश्य ही किसी दुष्ट ने मेरी पत्नी का अपहरण किया होगा और इस जटायु ने उसका प्रतिकार किया होगा, उस दुष्ट ने जटायु पर प्रहार किया होगा...इसी कारण इसकी यह दुर्दशा हुई है । रामचन्द्रजी ने उसकी मरणासन्न अवस्था देखकर उसे नमस्कार-महामंत्र का पाठ सुनाया और वह जटायु मरकर `महेन्द्र' कल्प में देव बना ।

नमस्कार मंत्र का अद्‌भुत प्रभाव

नमस्कार महामंत्र में पंच परमेष्ठि-भगवन्तों को प्रणाम किया गया है, वे इस जगत् में सर्वोच्च पद पर विराजमान हैं । मंत्र से मन और आत्मा का रक्षण होता है । पंचपरमेष्ठी के नमस्कार में अदभुत पुण्यसर्जन की ताकत रही हुई है । भावपूर्वक अरिहन्त आदि परमेष्ठि-भगवन्तों को किया गया प्रणाम मुक्तिपद का कारण बनता है ।

जटायु की मृत्यु से रामचन्द्रजी को अत्यन्त आघात लगा । राम के हृदय में जटायु के प्रति अपार स्नेह था । वे उसे अपने परिवार का ही अंग समझते थे ।

राम सोचने लगे-``अहो ! मेरे बिना सीता की क्या दशा हो रही होगी ?''

``उसके हृदय में मेरे प्रति कितना अपार स्नेह है...मेरे विरह को वह कैसे सहन कर पायेगी ? मुझे खिलाये बिना तो वह भोजन भी नहीं करती थी...तो क्या अब वह भूखी ही रहेगी ? अहो ! दुष्कर्म का यह कैसा भयंकर उदय ? सीता उन कष्टों को कैसे सहन कर सकेगी ?''

इत्यादि सोचकर रामचन्द्रजी चारों ओर सीता की शोध करने लगे, परन्तु कहीं पर भी उन्हें सीता नहीं मिली ।

युद्ध में लक्ष्मण की विजय

लक्ष्मणजी अत्यन्त पराक्रम के साथ खर के सैनिकों से लड़ते जा रहे थे । एकाकी लक्ष्मण ने हजारों सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया । राक्षसों की सेना में हाहाकार मचा हुआ था । उसी समय खर का छोटा भाई त्रिशिर विद्याधर युद्ध के मैदान में आया और अपने भाई से बोला-``आप थोड़ा विश्राम करो और लक्ष्मण से मुझे लड़ने दो ।''

त्रिशिर रथ में आरूढ़ हो गया और तेजी से लक्ष्मण की ओर बाण फेंकने लगा, परन्तु पराक्रमी लक्ष्मण ने उसके सभी बाण निष्फल कर दिये और अन्त में उसका भी गला उड़ा दिया । त्रिशिर का शव भूमि पर गिर पड़ा ।

पुत्र शम्बूक और भाई की मृत्यु से खर अत्यन्त क्रुद्ध हो गया । अब वह स्वयं रथारूढ़ होकर लक्ष्मण से मुकाबला करने लगा ।

उसी समय पातालंका के स्वामी चन्द्रोदर का पुत्र विराध, अपने सैन्य के साथ दण्डकारण्य में आया । वह लक्ष्मण के पास पहुँचा और बोला-``यद्यपि आप अत्यन्त पराक्रमी हो, आपको किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है, फिर भी आप मुझे सेवक समझकर आज्ञा प्रदान करें...मैं अभी अपने पिता के शत्रु खर को समाप्त कर देता हूँ ।''

लक्ष्मण ने कहा-``मुझे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है ।'' फिर भी विराध ने अपने सैनिकों को खर के सैनिकों से लड़ने का आदेश दिया । घमासान युद्ध चला । हजारों मस्तक कट-कटकर भूमि पर गिरने लगे ।

खर स्वयं लक्ष्मण के सामने आ डटा । भयंकर युद्ध चला और अन्त में खर भी लक्ष्मण की तलवार का शिकार बनकर भूमि पर गिर पड़ा ।

खर की मृत्यु से लक्ष्मणजी की सेना में जय-जयकार की ध्वनि गूंज उठी और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया ।

...परन्तु उसी समय लक्ष्मणजी का बायाँ नेत्र स्फुरायमान होने लगा। उन्हें भावी अनिष्ट का संकेत मिल गया। युद्ध समाप्ति के बाद वे तेजी से अपनी गुफा की ओर आगे बढ़े, परन्तु उन्होंने ज्योंही रामचन्द्रजी को अकेले देखा-उनका दिल अनेक सन्देहों से भर आया।

लक्ष्मण निकट आये, उन्होंने राम को अत्यन्त विषादग्रस्त अवस्था में देखा। राम बोले-``मैं इस वन में चारों ओर भटका...किन्तु सीता नहीं मिली...शायद किसी दुष्ट ने सीता का अपहरण कर लिया है।'' सीता के अपहरण की व्यथा को व्यक्त करते-करते रामचन्द्रजी पुनः मूर्च्छित हो गये।

विराध राम की पीड़ा को समझ गया। तत्काल उसने अपने सर्व सैनिकों को आदेश दिया कि ``दण्डकारण्य के प्रत्येक भाग की खोज की जाय और कहीं से भी सीता का पता लगाया जाय।''

सीता कहाँ से मिले ?

सीता का तो रावण ने अपहरण कर लिया था। अब विराध के सैनिक दण्डकारण्य के प्रत्येक खण्ड में सीता की छानबीन करने लगे, परन्तु उन्हें कहीं भी सीता के दर्शन नहीं हुए और न ही उन्हें सीता का किसी प्रकार का कोई संकेत मिला।

विराध के सैनिकों की भी विचित्र हालत हुई। सीता तो लंका में है। परन्तु वे शोध रहे हैं-दण्डकारण्य में। संध्या तक वे सीता की शोध करते रहे, परन्तु कहीं से भी उन्हें सीता का संकेत न मिला। वे निराश होकर लौट आये।

सीता को न पाकर रामचन्द्रजी निराश हो गये।

विराध ने कहा-``स्वामिन् ! आप पाताललंका पधारें, वहाँ से हम पुनः सीता की शोध करायेंगे।''

विराध की इच्छा को ध्यान में रखकर रामचन्द्रजी अपने अनुज लक्ष्मण के साथ पाताललंका की ओर चल पड़े।

आकाश मार्ग से तेजी से आगे बढ़ते हुए वे थोड़ी ही देर में पाताल-लंका पहुँच गये।

पाताललंका में खर का दूसरा पुत्र सुन्द अपने विराट् सैन्य के साथ सज्ज था। विराध ने उसके साथ मुकाबला किया। चन्द्रणखा ने जब विराध की सेना में राम और लक्ष्मण को देखा तो वह घबरा उठी। उसने अपने पुत्र को पाताललंका छोड़ देने व अपने प्राण बचाने का परामर्श दिया।

सुन्द ने अपनी माँ चन्द्रणखा के साथ पाताललंका का राज्य छोड़ दिया और वे रावण के पास लंका में आ पहुँचे ।

रामचन्द्रजी ने पाताललंका में विराध का राज्याभिषेक कराया । विराध ने सीता की शोध के लिए अपने प्रयत्न चालू कर दिये, परन्तु अभी तक उसे सीता का सत्य-संकेत नहीं मिल पाया ।

सुग्रीव की सहायता

वानरद्वीप का अधिपति सुग्रीव था । लंकापति रावण के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे । सुग्रीव का लग्न एक अत्यन्त रूपवती राजकुमारी तारा के साथ हुआ था । एक अन्य वीर `साहसगति' के हृदय में भी तारा के साथ लग्न करने की तीव्र कामना थी । परन्तु सुग्रीव के साथ तारा का लग्न हो जाने से वह अत्यन्त उदास हो गया था, वह किसी भी प्रकार से तारा को पाना चाहता था ।

सुग्रीव से प्रत्यक्ष लोहा लेने में तो वह असमर्थ था, अतः उसने दूसरा उपाय सोचा ।

साहसगति किसी पर्वत की गुफा में पहुँच गया और वहाँ जाकर `प्रतारणी' विद्या की साधना करने लगा ।

क्षणिक सुख के लिए कितनी कठोर साधनाएँ

व्यक्ति जब संसार के क्षणिक सुखों में आसक्त बन जाता है, तब वह उन सुखों को पाने हेतु भयंकर कष्ट सहने के लिए भी तैयार हो जाता है ।

ऐसे तो किसी भी व्यक्ति को दुःख पसन्द नहीं है, परन्तु सुख के लिए और सुख के मिलने की आशा से वह भयंकर कष्टों को सहन करने के लिए भी तैयार हो जाता है ।

क्षणिक दैहिक सुखों को पाने के लिए व्यक्ति भूख और प्यास सहन करता है, नानाविध उपसर्ग और उपद्रवों को भी सहन करता है ।

अपनी आत्मा ने भूतकाल में सांसारिक सुखों को पाने के लिए जितने कष्ट सहन किये हैं, उसका अनन्तवाँ भाग भी उसने स्वेच्छा से कर्ममुक्ति के लिए सहन किया होता, तो वह संसार से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती ।

इस जीवन पर भी दृष्टिपात करें । संसार के क्षणिक-नाशवन्त क्षणभंगुर सुखों को पाने के लिए आपका कितना प्रबल पुरुषार्थ है ? रात और दिन, सर्दी और गर्मी, अनुकूलता और प्रतिकूलता का विचार किये बिना उनके लिए तो निरन्तर प्रयत्नशील हो परन्तु कर्म-मुक्ति के लिए कितना पुरुषार्थ है ? बस, इसके लिए तो जवाब है-'हमारे पास समय नहीं है ।' अथवा 'हमारी ऐसी शक्ति नहीं है ।'

साहसगति 'तारा' को पाने के लिए प्रतारणी विद्या की साधना कर रहा था, मन-वचन और काया की स्थिरतापूर्वक जाप और ध्यान करता रहता था ।

आखिर साधना के फलस्वरूप उसे विद्या सिद्ध हो गई । अब वह अपना मनचाहा रूप करने में समर्थ हो गया ।

एक बार जब किष्किंधा के महाराजा सुग्रीव नगर के बाहर उद्यान में भ्रमण के लिए गये हुए थे, तभी इस साहसगति ने सुग्रीव का रूप बना लिया ।

ऊँचाई-मोटाई-वेशभूषा-बोलचाल सब सुग्रीव के समान । लोग तो उसे सुग्रीव ही समझने लगे । इस नकली सुग्रीव ने राजभवन में प्रवेश किया, तभी असली सुग्रीव भी आ गया । सभी मंत्री, द्वारपाल, सामन्त आदि दुविधा में पड़ गये कि दो सुग्रीव कहाँ से आ गये ?

दोनों एक-दूसरे पर आरोप लगाने लगे ।

युवराज चन्द्ररश्मि ने अन्तःपुर के द्वार बन्द कर दिये और उसने किसी भी सुग्रीव को अन्तःपुर मे नहीं जाने दिया ।

बस !

अब क्या था ! दोनों सुग्रीव परस्पर लड़ने लगे । परन्तु न कोई हार रहा था और न कोई जीत रहा था ।

अन्त में सच्चे सुग्रीव ने सोचा-``अब मैं किसकी शरण में जाऊँ ? क्या रावण की शरणागति स्वीकारूँ ? नहीं । नहीं । वह तो स्त्री-लम्पट है, शायद मेरी पत्नी का भी अपहरण कर ले तो ? हाँ, पाताललंका में विराध की सहायता करने वाले और विराध को राज्य दिलाने वाले राम-लक्ष्मण की शरणागति स्वीकार करना उचित है ।'' यह निर्णय कर सुग्रीव ने अपना दूत राम की सेवा में भेजा और रामचन्द्रजी से सहायता की याचना की ।

सज्जन पुरुष का स्वभाव परदु:खभंजन का ही होता है, अतः ज्योंही राम ने सुग्रीव के दूत के मुख से सुग्रीव की आपत्ति सुनी, तत्काल रामचन्द्रजी सुग्रीव की सहायता के लिए तैयार हो गये ।

रामचन्द्रजी अपने अनुज लक्ष्मणजी के साथ किष्किन्धा पहुँचे । उन्होंने किष्किन्धा नगरी की दुर्दशा देखी, नगरवासियों का, सैनिकों तथा अन्य सामन्तों का दो सुग्रीवों के बीच बँटवारा हो रहा था, कोई असली के पक्ष में था तो कोई नकली के पक्ष में ।

दोनों सुग्रीव युद्ध के मैदान में छावनियाँ डालकर पड़े थे ।

रामचन्द्रजी ने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष दो सुग्रीवों को देखा । वे भी आश्चर्यमुग्ध हो गये । दोनों पूर्णतः समान प्रतीत हो रहे थे । असली-नकली के भेद का पता लगाना जरा मुश्किल था ।

रामचन्द्रजी ने `वज्रावर्त' धनुष उठाया और भीषण टंकार किया । इस धनुष की टंकार से रूपपरावर्तिनी विद्या की शक्ति नष्ट हो गई और उसने विदाई ले ली । नकली सुग्रीव `साहसगति' के रूप में प्रगट हो गया ।

दुष्टता का दण्ड देने के लिए राम ने अपने बाण से साहसगति को बींध दिया । सुग्रीव राम के चरणों में गिर पड़ा । रामचन्द्रजी ने सुग्रीव का पुनः राज्याभिषेक किया, प्रजा में आनन्द-आनन्द छा गया ।

लक्ष्मणजी का रोष

राज्याभिषेक के बाद सुग्रीव ने सोचा, ``रामचन्द्रजी ने मुझ पर महान् उपकार किया है, उनके उपकार का बदला मैं कैसे चुकाऊँ ?'' सुग्रीव के दिल में एक विचार कौंध गया । उसने राम से प्रार्थना की-``आप मेरी कन्याओं का स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें ।''

राम ने कहा-``सुग्रीव ! इस समय तो सर्वप्रथम सीता की शोध करो, वही मुझे अभीष्ट है, अभी मुझे किसी के साथ लग्न नहीं करना है ।''

सुग्रीव ने कहा-``आपके इस कार्य में मैं अवश्य सहायता करूंगा...सीता की शोध की जिम्मेदारी मेरे सिर पर है-आप राजभवन में रहकर मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिए ।''

राम ने कहा-``नहीं ! जब तक सीता के समाचार नहीं मिलेंगे, तब तक हम उद्यान में ही ठहरेंगे ।''

सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण के निवास के लिए उद्यान में सुयोग्य व्यवस्था कर दी और स्वयं अपने अन्तः पुर में पहुँच गया । सुग्रीव अपनी प्रिया तारा से मिला । बहुत दिनों से वह उससे मिला नहीं था । सुग्रीव ने सारी घटना अपनी महारानी को सुना दी ।

दुःख के दिन बीतने में क्या देरी लगती है ? सुग्रीव का दुःख दूर हो गया और वह सुख में लीन हो गया ।

जब लक्ष्मणजी को समाचार मिले कि सुग्रीव अभी तक सीताजी की शोध के लिए बाहर नहीं निकला है, वे रोष से भर उठे और राम से बोले-

``भैय्या ! कुपात्र के उपकार का यही फल होता है ?''

राम ने वास्तविकता जान ली । वे बोले-``सुग्रीव को अपने कर्त्तव्य की याद दिला दो ।''

लक्ष्मणजी राजभवन की ओर चले । ज्योंही सुग्रीव ने लक्ष्मणजी को आते देखा, वह बाहर आ गया और लक्ष्मणजी के चरणों में गिर पड़ा ।

लक्ष्मणजी ने रोष में आकर कहा-``अरे ! तू अपने वचन और कर्त्तव्य को भी भूल गया...।''

``मुझे क्षमा करो । मेरा अपराध हो गया, अभी मैं स्वयं सीता की शोध के लिए निकलता हूँ ।'' सुग्रीव ने कहा, लक्ष्मणजी ने उसे क्षमा कर दिया ।

सीता की शोध

सुग्रीव ने अपने सैनिकों को सीता की शोध के लिए आज्ञा दे दी और स्वयं भी सीता की खोज में निकल पड़ा । सीता का भाई भामण्डल भी रामचन्द्रजी के पास आ गया था, विराध भी अपने सैन्य के साथ किष्किन्धा आ गया था, परन्तु कहीं भी सीता का पता नहीं लग रहा था । अन्त में सुग्रीव सम्बुद्वीप पहुँचा, वहाँ उसने शक्तिहीन रत्नजटी को देखा । दूर से सुग्रीव को आते देखकर रत्नजटी ने सोचा-``क्या मेरे वध के लिए रावण ने इस सुग्रीव को तो नहीं भेजा है ?'' रत्नजटी इस विचार से अत्यन्त चिन्तातुर हो गया ।

थोड़ी ही देर में सुग्रीव उसके निकट आ पहुँचा । वह अत्यन्त प्रेम और वात्सल्य से बोला-``तू इतना हताश क्यों दिखाई दे रहा है ?''

रत्नजटी ने कहा-``रावण जब सीता को अपहरण करके ले जा रहा था, तब मैं रावण का प्रतिकार करने लगा...और उस रावण ने मेरी सब विद्याएँ हर लीं...इसलिए मैं इस दुर्दशा में आ पड़ा हूँ।''

रत्नजटी के मुख से सीता के अपहरण आदि के समाचार सुनकर सुग्रीव ने सोचा-``रत्नजटी को मुझे राम के पास ले जाना चाहिए'' इत्यादि सोचकर रत्नजटी को साथ में चलने के लिए आमन्त्रण दिया और दोनों आकाशमार्ग से किष्किन्धा नगरी में आ गये।

चन्द्रणखा का निवेदन

चन्द्रणखा अपने एकाकी पुत्र सुन्द को लेकर लंका पहुँच गयी थी। वह सीधी रावण के राजभवन में पहुँची। रावण के पास पहुँचकर उसने भयंकर कल्पान्त रुदन किया।

रावण ने पूछा-``बहन ! तू इतना रो क्यों रही है ?''

चन्द्रणखा ने कहा-``हे बन्धो ! क्या कहूँ ? भाग्य ने मेरा सर्वस्व लूट लिया है। मेरा पुत्र मारा गया, मेरा पति मारा गया...मेरा देवर मारा गया...इतना ही नहीं, चौदह हजार सैनिक भी मारे गये और अन्त में दुश्मन ने पाताललंका का राज्य भी छीन लिया...अब मैं कहाँ जाऊँ ?''

रावण ने कहा-``मेरे बहनोई और भाणेज की हत्या करने वालों को मैं थोड़े ही समय में समाप्त कर दूंगा...तू यहीं पर रह...तुझे किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं है।''

रावण ने चन्द्रणखा के निवास के लिए एक राजभवन सौंप दिया।

मन्दोदरी की प्रार्थना

कामान्ध रावण अत्यन्त दयनीय स्थिति का भोग बना हुआ था, वह किसी भी प्रकार से सीता को अपनी रानी बनाना चाहता था। रावण अत्यन्त उदासीन होकर अपनी शय्या में पड़ा था...तभी मन्दोदरी ने रावण के खण्ड में प्रवेश किया।

``स्वामिन् ! आज आपके चेहरे पर इतनी उदासीनता क्यों ? क्या इसका कारण आप मुझे बतायेंगे ?''

रावण ने कहा-``प्रिये ! और तो मुझे किस बात का दुःख है, बस !

एक ही पीड़ा मुझे निरन्तर सता रही है । हे प्रिये ! यदि तू मेरा जीवन चाहती है, तो तू अपने मान का त्याग कर सीता के पास जा और उसे समझा ।''

मन्दोदरी ने कहा-``मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हूँ । अभी जाकर सीता को समझाती हूँ ।''

मन्दोदरी शीघ्रता से देवरमण उद्यान में पहुँच गई । वहाँ जाकर वह सीता के पास बैठी और उससे बोली-**``हे सीते ! मैं रावण की पटरानी मन्दोदरी हूँ । तुम मेरे स्वामी की अधीनता स्वीकार करो, मैं पटरानी होते हुए भी तुम्हारी दासी बनकर रहूंगी । मेरे स्वामी कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं, वे तीन खण्ड के अधिपति हैं...और तेरे पति तो जंगल में भटकने वाले...।''**

मन्दोदरी के मुख से रावण की प्रशंसा और अपने पति के लिए निन्दाजनक वचनों को सुनकर सीता को अत्यन्त गुस्सा आ गया । वह कुपित होते हुए बोली-

``अरे मन्दोदरी ! चली जा यहाँ से...इस प्रकार की तुच्छ बातें मुझे कभी मत कहना । कहाँ सिंह और कहाँ सियार ? कहाँ गरुड़ और कहाँ कौआ ? कहाँ मेरे पतिदेव और कहाँ तेरा दुष्टपति रावण ?''

``हे दुष्टे ! तू यहाँ से चली जा । तेरा पति परस्त्री में रमण करना चाहता है और तू उसका दूतीपन निभा रही है ? अरे ! इस प्रकार की पापिनी का तो मुँह भी देखने योग्य नहीं है । तू...मेरे दृष्टिपथ से दूर हट जा...तेरा मुख भी देखने योग्य नहीं है...अतः तू यहाँ से जल्दी चली जा ।''

रावण का आगमन

मन्दोदरी और सीता का यह वार्तालाप चल रहा था, इसी बीच स्वयं रावण भी वहाँ आ गया । सीता को क्रोधातुर देखकर बोला-``हे सीते ! तू इतना क्रोध क्यों कर रही है ? मन्दोदरी तो तेरी दासी है ही और मैं भी तेरा दासत्व स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ । हे देवी ! तू कृपा कर और मेरी विनती स्वीकार कर ।''

रावण की यह बात सुनकर अत्यन्त पराङ्मुख बनकर सीता ने कहा-

``मेरा अपहरण करके तू यमराज की दृष्टि में आ गया है । अब तेरी मृत्यु नजदीक है । तेरी अयोग्य आशाओं को धिक्कार हो । शत्रुओं के लिए काल समान अपने अनुज के साथ मेरे स्वामी यहाँ आयेंगे ही और उनके बल के आगे तू कब तक जीवित रह सकेगा ?''

सीता की निडरता: प्रशस्त क्रोध

सती स्त्री अपने शील की रक्षा के लिए क्रोध का भी आश्रय ले सकती है। धर्मी व्यक्ति अन्य उपसर्गों को तो सहर्ष सहन करता ही है, परन्तु यदि उसके शील पर संकट आये तो उस समय वह कठोर बनकर भी प्रतिकार करता है।

रावण क्रोधान्ध बन गया

रावण की इच्छापूर्ति नहीं होने से और सीता के मुख से प्रतिकारपूर्ण वचनों को सुनकर रावण क्रोधान्ध बन गया। सीता को डराने के लिए उसने सीता पर भयंकर उपसर्ग किये। भूत व पिशाच के अट्टहास, सर्प व व्याघ्रादि के उपसर्गों के द्वारा सीता को भयभीत करने के बहुत प्रयत्न किये गये। परन्तु आपत्ति में सबला बनी सीता ने वे सब उपसर्ग अत्यन्त समतापूर्वक सहन किये और वह निरन्तर नवकार का ध्यान करती रही।

न्यायप्रेमी विभीषण

रावण ने रात्रिपर्यंत जब सीता पर भयंकर उपसर्ग किये, तब किसी दासी ने जाकर ये सब समाचार रावण के लघुबन्धु विभीषण को दिये। सीता के अपहरण और उस पर किये गये उपसर्गों के समाचार से विभीषण को बहुत दु:ख हुआ। वह तुरन्त रथारूढ़ होकर 'देवरमण' उद्यान में आया और सीता के पास जाकर बोला-``हे भद्रे ! तुम कौन हो ? कहाँ से आई हो ? किसकी पत्नी हो ? तुम्हें किसी प्रकार का भय रखने की आवश्यकता नहीं है, तुम मुझे 'परनारीसहोदर' अर्थात् भाई समझना।''

विभीषण के भ्रातृत्व-प्रेम को देखकर सीता ने कहा-``मैं जनक की पुत्री सीता हूँ, भामण्डल मेरा भाई है। दशरथनन्दन रामचन्द्र जी मेरे पतिदेव हैं। मैं अपने पति व देवर के साथ दण्डकारण्य में आई थी, लक्ष्मण जी के हाथों से अनजान में शम्बूक मारा गया...और उनका खर से युद्ध हुआ...मैं अपने स्वामी के पास बैठी थी...तभी लक्ष्मण जी का सिंहनाद सुनाई दिया...मेरे पतिदेव अनुज की सहायता के लिए युद्धभूमि में गये और दुष्ट रावण ने मेरा अपहरण कर लिया।''

इस प्रकार सीता ने अपनी आत्मकथा निवेदित की । सीता के मुख से सब सत्य समाचार सुनकर विभीषण को बड़ा खेद हुआ । वह सोचने लगा- ``रावण ने यह अच्छा कार्य नहीं किया, मुझे राक्षसवंश के विनाश को रोकना चाहिए ।'' इस प्रकार सोचकर वह रावण के पास पहुँच गया और बोला- **``स्वामिन् ! अपने कुल को कलंकित करने जैसा दुष्कृत्य आपने किया है, अभी भी आप सीता रामचन्द्रजी को सौंप दो और अपने विनाश को रोक लो ।''**

विभीषण के हितकारी वचन सुनकर रावण क्रोधातुर हो गया और बोला-``अरे कायर ! तू ऐसी क्या बात कर रहा है ? मेरे पराक्रम को तू भूल गया है, मैं राम और लक्ष्मण का वध करूंगा और सीता को अपनी बनाकर रहूंगा ।''

विभीषण ने पुनः कहा-``बन्धु ! उस नैमित्तिक की बात याद करो...उसने क्या कहा था-``जनकपुत्री के निमित्त, दशरथ-पुत्र के हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी ।'' मुझे लगता है, उस नैमित्तिक का वचन सत्य होगा । अहो ! नैमित्तिक के वचन को मिथ्या करने के लिए मैं दशरथ की हत्या करने भी गया था, परन्तु सत्य है ``जो भावी है, उसे कोई टाल नहीं सकता है ।'' मेरे हाथों से उस दिन दशरथ के बजाय अन्य किसी की हत्या हो गई लगती है, तभी तो दशरथपुत्र राम और लक्ष्मण पैदा हुए हैं, अतः हे बन्धु ! राक्षसवंश के विनाश को रोकने के लिए सीता राम को लौटा देनी चाहिए ।''

स्वसमृद्धि का दर्शन

विभीषण की सत्य सलाह की अवगणना कर रावण पुनः `देवरमण' उद्यान में पहुँचा । उसने सीता को पुष्पक विमान में बिठाया और फिर उस विमान को लंका पर घुमाकर सोनेरी लंका की सभी समृद्धि दिखाने लगा । ``हे हंसगामिनी ! जरा देख, यह मेरा राजभवन है...यह क्रीड़ापर्वत है, यह भव्य उद्यान है...यहाँ मधुर जल के झरने बह रहे हैं...।'' रावण यह सब वर्णन करता गया, परन्तु सीता ने उस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वह निरन्तर राम नाम का ही जाप करती रही । रावण ने सीता को पुनः देवरमण उद्यान में लाकर छोड़ दिया ।

दूत का निर्णय

इधर सुग्रीव रत्नजटी को उठाकर किष्किन्धा में ले आया । रत्नजटी के मुख से जब सीता के अपहरण की बात सुनी तब सबको बड़ा आश्चर्य हुआ ।

सीता-अपहरण के समाचार सुनते ही क्रोधातुर होकर लक्ष्मण जी बोले-``अरे ! कौन है वह दुष्ट रावण जो इस प्रकार छल से सीताजी का अपहरण कर ले गया है...अब मैं उसका शिरोच्छेद करके ही रहूंगा । बताओ, यहाँ से लंका कितनी दूर है ?''

उसी समय वयोवृद्ध जाम्बवान ने कहा-``आपकी बात बिल्कुल यथार्थ है और आप अत्यन्त पराक्रमी भी हो, परन्तु अनन्तवीर्य नामक ज्ञानी पुरुष ने कहा था-``जो अपने बाहुबल से `कोटिशिला' को उठायेगा, उसके हाथ से रावण का वध होगा'' अतः-मेरी इच्छा है कि आप कोटिशिला को उठाकर ज्ञानी के वचनों को प्रमाणित कर दो ।''

लक्ष्मण जी ने जाम्बवान की बात सहर्ष स्वीकार की और वे अपने अन्य मित्रों के साथ `कोटिशिला' पहुँच गये । उन्होंने अपने भुज-बल से `कोटिशिला' उठा ली । सर्वत्र जय-जयकार होने लगा ।

लक्ष्मणजी आदि पुनः राम के पास आ गये ।

एक वृद्ध पुरुष ने सलाह दी-**``अपनी पूर्व नीति के अनुसार रावण से युद्ध करने के पूर्व सर्वप्रथम दूत भेजना चाहिए और तत्पश्चात् ही युद्ध के लिए तैयार होना चाहिए ।''**

रामचन्द्र जी ने वृद्ध पुरुष की इस बात में सहर्ष सहमति दी ।

दूत के रूप में किसे भेजा जाय ? इसका निर्णय सुग्रीव को सौंपा गया । थोड़ी ही देर में सुग्रीव ने **`हनुमानजी'** को दूत के रूप में भेजने का निर्णय ले लिया ।

तत्काल हनुमान जी को बुलाने के लिए श्रीभूति ने हनुपुर की ओर प्रयाण किया ।

श्रीभूति के मुख से सब समाचार सुनकर स्वामिभक्त हनुमानजी तत्क्षण ही किष्किन्धा की ओर रवाना हो गये ।

किष्किन्धा के उद्यान में आकर हनुमानजी ने राम के चरणों में प्रणाम किया । सुग्रीव ने रामचन्द्रजी को हनुमानजी के अद्भुत पराक्रम आदि का परिचय दिया । रामचन्द्रजी प्रसन्न हो गये । उन्होंने कहा-``तुम जाओ और लंका में सीता की शोध करके आओ । यह मेरी अँगूठी सीता को देना और सीता का मुकुट लेकर आना ।''

हनुमानजी ने राम की आज्ञा शिरोधार्य की और आकाशमार्ग से उन्होंने लंका की ओर प्रयाण कर दिया ।

लंका के चारों ओर 'आशालिका विद्या' पहरा दे रही थी, हनुमानजी और उस विद्या के बीच संघर्ष हुआ । हनुमानजी उसे परास्त कर लंका में पहुँच गये ।

विभीषण से मुलाकात

लंका में प्रवेश करने के बाद हनुमानजी ने सोचा **''इस लंका में रावण का लघु बांधव विभीषण अत्यन्त न्यायप्रिय है, अतः सर्वप्रथम मुझे उससे मिलना चाहिए ।''** यह सोचकर हनुमानजी ने विभीषण के महल की ओर प्रस्थान किया ।

विभीषण के महल के द्वार पर प्रतिहारी खड़े थे । हनुमानजी ने द्वारपाल को अपनी मुद्रिका प्रदान की, उस मुद्रिका को लेकर द्वारपाल विभीषण के पास गया । विभीषण हनुमान की मुद्रिका को देखते ही पहचान गये और उन्होंने द्वारपाल को हनुमानजी के प्रवेश की स्वीकृति दे दी । हनुमानजी ने राजभवन में प्रवेश किया ।

विभीषण ने हनुमानजी का स्वागत किया और उनकी क्षेम-कुशलता पूछी ।

औपचारिक बातचीत के बाद विभीषण ने कहा-''आपके आगमन का कोई विशिष्ट प्रयोजन ?''

''हाँ ! एक विशिष्ट प्रयोजन से ही आया हूँ ।'' हनुमानजी ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा-''आपको पता ही होगा कि आपके ज्येष्ठ बन्धु ने राम-पत्नी सीता का अपहरण करके एक भयंकर दुष्कृत्य किया है, आपको इस प्रकार के अपकृत्य करनेवाले दशमुख को रोकना चाहिए, अन्यथा राक्षस वंश का...।''

विभीषण ने कहा-''हनुमान ! बड़े भाई ने सीता का अपहरण करके कोई अच्छा कार्य तो नहीं किया है, मैंने पहले भी उन्हें समझाया है...और अब पुनः समझाने की कोशिश करूंगा ।''

हनुमानजी ने कहा-''सीताजी अभी कहाँ हैं ?''

विभीषण ने बताया-''राम-पत्नी सीता को देवरमण उद्यान में रखा गया है ।''

सीता के आवास आदि का पता लगते ही हनुमानजी ने कहा-``तो अब मैं वहीं जाता हूँ ।''

हनुमानजी ने विभीषण से विदा ली ।

विभीषण विचार-मग्न हो गये, ``अब क्या किया जाय ? मैंने पहले भी रावण को समझाया था, परन्तु अपने जिद्दी स्वभाव के कारण उन्होंने मेरी एक भी नहीं सुनी थी । खैर...मुझे पुनः प्रयत्न करना ही चाहिए ।''

महासती सीता के दर्शन

विभीषण से विदा लेकर हनुमानजी शीघ्र ही देवरमण उद्यान में आ पहुँचे । उन्होंने दूर से ही सीताजी के दर्शन किये ।

सीताजी का हृदय अत्यन्त पवित्र था, किन्तु मुख पर अत्यन्त ग्लानि थी, उनके केशकलाप हवा में उड़ रहे थे । रामवियोग के बाद आज तक सीता ने मुँह में पानी भी नहीं डाला था अतः तप के कारण उनकी देहलता सूख रही थी । शरीर पर किसी प्रकार का श्रृंगार नहीं था । उनके वस्त्र मलिन थे और योगिनी की तरह वे निरन्तर `राम' नाम का जाप कर रही थीं ।

हनुमानजी ने अपने जीवन में यहाँ पहली बार सीता के दर्शन किये थे । सीता के अभ्यन्तर गुणवैभव के दर्शन कर वे नतमस्तक हो गये ।

हनुमानजी अपनी विद्या के बल से अशोकवृक्ष पर आरूढ़ हो गये । उन्होंने राम द्वारा प्रदत्त अँगूठी सीता की गोद में डाल दी ।

सीता प्रसन्न हो गई...!!!

सीताजी ने ज्योंही `राम' नाम से अंकित अँगूठी देखी, वे चौंक उठी । ``अहो ! यह तो मेरे स्वामी की अँगूठी है ।'' सीता ने वह अँगूठी अपनी छाती से लगा ली और हर्षविभोर बन गई मानों राम का साक्षात् मिलन हुआ हो ।

सीता के चेहरे पर से उदासीनता दूर हो गई और प्रसन्नता छा गई ।

सीता की सेवा में रही हुई त्रिजटा दासी ने आज पहली बार सीता के प्रसन्न चेहरे को देखा था, वह तुरन्त रावण के पास दौड़ गई । रावण ने उसे कीमती आभूषण भेंट दिये और वह स्वयं मन्दोदरी के पास जा पहुँचा ।

रावण ने कहा-``प्रिये ! आज एक कार्य करना है । मुझे विश्वास है कि अब सफलता दूर नहीं है ।''

``कौनसा कार्य ?'' मन्दोदरी ने प्रश्न किया । ``सीता को प्रसन्न करने

का ।'' ``हाँ ! अभी त्रिजटा उद्यान से ही आई है और उसने सीता के प्रसन्न चेहरे को देखा है, अतः मुझे लगता है कि अब वह मुझे अवश्य स्वीकार कर लेगी । आखिर स्त्री का हृदय है न ? कब तक विरह की पीड़ा सहन कर सकती है ? तू जा और सीता को समझा दे ।''

मन्दोदरी का तिरस्कार

रावण की आज्ञा पाते ही मन्दोदरी सीता के पास जाने के लिए तैयार हुई । अपने अन्य सर्व कार्यों को छोड़ कर वह देवरमण उद्यान में सीता के पास पहुँची ।

मन्दोदरी ने कहा-``सीता ! तीन भुवन में अद्‌भुत रूप और लावण्य की सम्पत्ति तेरे पास में है, परन्तु विधाता ने तेरा अनुकूल संयोग नहीं किया...फिर भी वह अनुकूल सम्बन्ध अब जुड़ सकता है । तू रावण को स्वामी के रूप में स्वीकार कर ले ।''

सीता ने कहा-**``हे पापिनी ! तू यहाँ से जल्दी चली जा । तेरा मुख देखने योग्य नहीं है । एक परस्त्री-अपहर्त्ता की दूती बनने में तुझे लज्जा नहीं आती ? अब ध्यान रखना, मेरे स्वामी अपने अनुज लक्ष्मण के साथ यहाँ आयेंगे और तेरे पति को यम के मुँह में धकेल देंगे...।''**

मन्दोदरी सीता के आवेश को सहन न कर सकी...वह अपने स्थान से खड़ी हो गई और वहाँ से चल दी ।

मन्दोदरी के मन में यही प्रश्न घूम रहा था कि...``फिर सीता प्रसन्न कैसे दिखाई दी ?''

परन्तु इस प्रश्न के उत्तर से वह अनभिज्ञ थी, उसके पास इस बात का कोई समाधान नहीं था ।

हनुमानजी प्रकट हुए

वृक्ष पर रहे हनुमानजी ने सीता व मन्दोदरी का वार्तालाप सुना । सीता के सतीत्व के उन्हें साक्षात् दर्शन हुए ।

वे वृक्ष से नीचे उतर आये और सीता के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले-

``रामचन्द्रजी की जय हो । मैं आपकी कुशलता के समाचार लेने के लिए राम की आज्ञा से आया हूँ । अब रामचन्द्रजी शीघ्र ही आने वाले हैं । `राम' नाम से अंकित यह अँगूठी आपकी गोद में मैंने ही डाली थी ।''

रामचन्द्रजी के समाचार सुनकर सीता का हृदय गद्‌गद हो गया । उसकी प्रसन्नता का पार न रहा ।

सीता ने कहा-``आपका परिचय ?''

हनुमान ने कहा-``मैं राम का सेवक हूँ और पवनंजय का पुत्र हनुमान हूँ ।''

``मेरे स्वामी कुशल तो हैं न ?''

हनुमान ने कहा-``सीताजी ! आपके वियोग में रामचन्द्रजी भी अत्यन्त सन्तप्त हैं । वे आपकी खोज के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थे...अन्त में रत्नजटी के मुख से आपके अपहरण के सही समाचार ज्ञात हुए अतः रामचन्द्रजी की आज्ञा से मैं आपके समाचार लेने यहाँ आया हूँ । आपके भ्राता भामण्डल, सुग्रीव, विराध आदि अनेक राजा रामचन्द्रजी की सेवा में उपस्थित हैं और वे किष्किन्धा नगरी के बाह्य उद्यान में ठहरे हैं । लक्ष्मणजी भी आपके बिना अत्यन्त शोकातुर बने हुए हैं ।''

``हे देवी ! रामचन्द्रजी ने मुझे आज्ञा दी है कि यह अँगूठी सीता को देना और उसका मुकुट लेकर आना, अतः मुझे अपना मुकुट प्रदान करने की कृपा करें ।''

सीताजी ने हनुमानजी के मुख से अपने स्वामी के समाचार सुने तो उन्हें सुखद सन्तोष की अनुभूति हुई । अपना मुकुट हनुमानजी को प्रदान करते हुए वह बोली-

``यह मुकुट आप ग्रहण करो और यहाँ से जल्दी रवाना हो जाओ, अन्यथा यह दुष्ट रावण आपको किसी प्रकार से परेशन करेगा ।''

हनुमान ने कहा-``सीताजी ! आप वात्सल्य के वशीभूत होकर इस प्रकार की बात कर रही हो...किन्तु मैं तो राम का सेवक हूँ । रावण यदि अपने विशाल सैन्य के साथ भी आ जाय तो उसे मैं हराने में समर्थ हूँ ।''

``इतना ही नहीं, हे सीताजी ! आप यदि अनुमति दें तो मैं आपको अपने कन्धे पर बिठाकर तुरन्त ही रामचन्द्रजी के पास पहुँचा दूँ !''

जब सीताजी ने हनुमानजी के पराक्रम की बात सुनी, तब वह बोली-

``त्वयि संभाव्यते सर्वं, पदातौ रामशार्ङ्गिणोः ।
परन्तु परपुंस्पर्शो, ने मेऽर्हति मनागपि ।।''

अर्थ : हे हनुमान ! राम और लक्ष्मण के सैनिक होने के नाते तुममें हर बात सम्भव है, परन्तु पर-पुरुष का स्पर्श करना मेरे लिए योग्य नहीं है। अतः मैं तुम्हारे कन्धों पर नहीं बैठ सकती।

लक्ष्मणजी की पवित्रता

सीता के अपहरण के बाद जब चारों ओर सीता की खोज होने लगी तो रामचन्द्रजी को एक कंकण मिला। उन्होंने लक्ष्मणजी को पूछा-``क्या यह कंकण सीता का है ?'' इसके उत्तर में लक्ष्मणजी कहते हैं-

कङ्कणं नाभिजानामि, नाभिजानामि कुण्डलं।
नुपूरं एव जानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात् ।।1।।

``मैं न तो कंकण को जानता हूँ और न ही कुण्डल को। हमेशा सीतादेवी के चरणों में नमस्कार करने के कारण मैं तो केवल उनके नुपूरों को ही पहिचानता हूँ।''

इस प्रसंग से हमें लक्ष्मणजी की मर्यादाओं के पालन का विचार आता है।

जो व्यक्ति अपने जीवन में मनःशुद्धि की कोरी बातें कर व्यवहार-शुद्धि की उपेक्षा करते हैं, वे कभी मन की शुद्धि कर ही नहीं सकते हैं।

सीता का मन शुद्ध था, किन्तु उसने अपनी व्यवहार-मर्यादा का भंग नहीं किया। हनुमानजी के आग्रह से सीताजी ने 21 दिन के उपवास का पारणा किया।

हनुमानजी का तूफान

रावण को कुछ चमत्कार दिखाने के लिए हनुमानजी ने सर्वप्रथम देवरमण उद्यान के सुन्दर वृक्षों को उखाड़ना प्रारम्भ किया। वे अशोक, चम्पा और आम के विशाल वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर फेंकने लगे। इस प्रकार उद्यान के विनाश को देखकर उद्यानपाल हथियार लेकर हनुमानजी के सामने आये। किन्तु हनुमानजी ने तो उन वृक्षों को ही हथियार बना लिया और देखते-ही-देखते उन उद्यानपालों को सदा के लिए सुला दिया।

उद्यान-विनाश की स्थिति देखकर एक सैनिक रावण के पास पहुँचा। उसने उद्यान-विनाश की सब बात निवेदन कर दी।

तत्काल रावण ने `अक्षकुमार' को बुलाया । अक्षकुमार रावण की सेवा में उपस्थित हो गया ।

रावण ने कहा-``अक्ष ! देवरमण उद्यान में कोई विद्याधर तूफान मचा रहा है, उसे खत्म कर दो अथवा जीवित पकड़कर लाओ ।'' अक्षकुमार ने रावण की आज्ञा शिरोधार्य की और वह देवरमण उद्यान की ओर चल पड़ा ।

अक्षकुमार ने अपने विशाल सैन्य के साथ हनुमानजी को युद्ध के लिए ललकारा । हनुमानजी ने आमन्त्रण स्वीकार किया और अपने पराक्रम के द्वारा एक के बाद एक को मौत के घाट उतारने लगे, देखते-ही-देखते अक्षकुमार के सब सैनिक भी मारे गये और अक्षकुमार भी हनुमानजी के हाथों मारा गया ।

अक्षकुमार की मृत्यु से राजसभा में हाहाकार मच गया ।

रावण अत्यन्त क्रोधातुर हो गया । उसने इन्द्रजीत को कहा-``तू जल्दी जा और उस वानरकुमार को बाँधकर ला ।''

तत्क्षण इन्द्रजीत देवरमण उद्यान में पहुँच गया और हनुमानजी के साथ युद्ध करने लगा । हनुमानजी अपने पराक्रम से उसके हर शस्त्र को निष्फल करने लगे ।

इन्द्रजीत ने अपना अन्तिम अस्त्र `नागपाश' छोड़ा और उसी समय हनुमानजी नागपाश में बाँध लिये गये । इन्द्रजीत प्रसन्न हो गया । हनुमानजी ने सोचा, ``इसे यहाँ नहीं, राजसभा में चमत्कार दिखाऊंगा ।''

इन्द्रजीत हनुमानजी को पकड़कर रावण की राजसभा में ले आया । रावण ने हनुमान को देखा और आवेश में आकर बोला-

``हे दुर्बुद्धे ! तूने यह क्या किया ? तू तो मेरा सेवक था और तूने किसका आश्रय लिया ? वन में दर-दर भटकने वाले राम और लक्ष्मण का दूत बन कर आया है ? अरे ! वे प्रसन्न भी हो जायेंगे तो तुझे क्या मिलेगा ? तू दूत बन कर आया है, इसलिए तू अवध्य है, फिर भी तुझे थोड़ी-सी शिक्षा देकर छोड़ूंगा ।''

रावण की यह बात सुनकर हनुमान ने कहा-``अरे रावण ! तू यह क्या बक रहा है ? मैं कब तेरा सेवक बनकर रहा हूँ ? और कब तू मेरा स्वामी रहा है ? वरुण के युद्ध में मेरे पिता ने तेरी सहायता की थी । हे नराधम ! मै सेवक नहीं हूँ । तूने रामपत्नी सीता का अपहरण करके एक भयंकर कृत्य किया है, इस पाप की सजा तुझे भोगनी पड़ेगी ।''

हनुमान के मुख से इस प्रकार के तिरस्कारपूर्ण वचन सुन कर रावण आगबबूला हो उठा और बोला-``अरे वानर ! तूने शत्रुपक्ष का आश्रय लेकर मौत को ही आमंत्रण दिया है । तू दूत बनकर आया है, इसलिए तेरी हत्या करना तो उचित नहीं है फिर भी तुझे गधे पर बिठा कर लंका में घुमाया जाएगा ।''

रावण की यह बात सुन कर हनुमान ने अपना पराक्रम बताने का निश्चय कर लिया । तत्क्षण नागपाश को छिन्न-भिन्न कर वे उस बन्धन से मुक्त हो गये । उन्होंने ठोकर लगाकर रावण को सिंहासन से नीचे गिरा दिया । रावण सिंहासन से नीचे गिर पड़ा । हनुमान ने दूसरी ठोकर लगाई और उसके मुकुट को चूर्ण-चूर्ण कर दिया ।

इस प्रकार रावण को अपना चमत्कार दिखाकर हनुमानजी ने वहाँ से विदा ली । सभी देखते रह गये ।

इस घटना से अभिमानी रावण के हृदय में वैराग्नि प्रज्वलित हो उठी ।

युद्ध के लिए प्रयाण

लंका से प्रयाण कर हनुमानजी किष्किन्धा नगरी के बाह्य उद्यान में आ पहुँचे । हनुमानजी ने राम के चरणों में प्रणाम किया और उन्होंने लंका के देवरमण उद्यान में रही सीता के सब समाचार रामचन्द्रजी को सुना दिये । सीता के मुकुट को पाकर रामचन्द्रजी का मन प्रसन्नता से भर आया ।

सीता के निश्चित समाचार मिल जाने के बाद रामचन्द्रजी ने लंका-प्रयाण का आदेश दिया । चारों ओर से भामण्डल, विराध, सुग्रीव, नल, नील व हनुमान आदि का विराट् सैन्य राम की सहायता के लिए आ पहुँचा ।

शुभ दिन देखकर प्रयाण प्रारम्भ कर दिया । तीन दिन के निरन्तर प्रयाण के बाद राम का सैन्य लंका के निकट पहुँच गया ।

विभीषण का लंका-त्याग

लंका में चारों ओर राम की सेना के आगमन के समाचार फैलने लगे । लंका में चारों ओर हाहाकार मच गया ।

रावण ने अपनी सभा बुलाई और कुम्भकर्ण, विभीषण, इन्द्रजीत, हस्त, प्रहस्त आदि के साथ विचार-विमर्श किया ।

सेनापति मारीच ने निवेदन किया-``युद्ध की भेरियाँ बजाई जाँय और शत्रु-सैन्य से मुकाबला किया जाय ।''

मारीच की बात सुन कर विभीषण ने खड़े होकर कहा-

``हे ज्येष्ठ बन्धु ! मेरी बात की ओर आप ध्यान दोगे, आपने पर-स्त्री का अपहरण करके इस लोक और परलोक दोनों के लिए अनुचित कार्य किया है । इस कार्य से आपने अपने कुल को कलंकित किया है । अभी भी बाजी हाथ में है । रामचन्द्रजी आ रहे हैं तो उन्हें उनकी पत्नी सौंप दी जाय और अपने वंश के विनाश को रोक लिया जाय ।

``राम के पक्ष में सत्य और न्याय है । हमेशा सत्य की ही जीत होती है, यह बात आप स्पष्ट रूप से जानते ही हैं । राम और लक्ष्मण के दूत रूप हनुमान के दृढ़ पराक्रम से भी आप परिचित हो चुके हो, आप एक सीता के लिए अपने विनाश को क्यों आमंत्रित कर रहे हैं ?''

विभीषण की यह बात सुनकर अत्यन्त रोषायमान हाकर इन्द्रजीत बोला-``आप तो जन्म से ही डरपोक और कायर हो...आप ही अपने कुल का विनाश कर रहे हो । पहले भी आपने दशरथ-वध की प्रतिज्ञा की थी और उसमें भी आप निष्फल हुए थे...। अतः आपको इस मंत्रणा में शामिल होने का कोई अधिकार नहीं है ।''

विभीषण ने कहा-``अरे इन्द्रजीत ! तू तो दूध पीता बच्चा है । अपने मोहान्ध पिता को इस प्रकार की सलाह देकर तू ही अपने कुल के विनाश हेतु तत्पर है । पिता और पुत्र दोनों अपने विनाश और सर्वनाश को आमंत्रण दे रहे हो ।''

विभीषण के ये शब्द सुनकर रावण अत्यन्त क्रोधातुर हो गया, उसने म्यान में से तलवार खींच ली और वह विभीषण की हत्या के लिए तैयार हो गया ।

तुरन्त पराक्रमी विभीषण ने पास में स्थित पाषाण-स्तम्भ को उठाकर आत्मरक्षण किया ।

मदोन्मत्त हाथियों की तरह दोनों भाई लड़ने को तैयार हो गये । कुम्भकर्ण और इन्द्रजीत ने बड़ी मुश्किल से दोनों को अलग किया ।

कषायों की आग अत्यन्त भयंकर है । कषायों से संतप्त प्राणी आत्महित तो भूल ही जाता है, इसके साथ ही अपने भाई तक की हत्या के लिए भी उतारू हो जाता है ।

उसी समय रावण ने विभीषण से कहा -``हे विभीषण ! तू मेरे नगर से बाहर निकल जा ।''

विभीषण सत्यवादी और न्यायप्रिय था, अतः रावण के पक्ष में रहकर अन्याय के पक्ष में रहने के बजाय तत्क्षण उसने अपनी 30 अक्षौहिणी सेना के साथ लंका की सीमा छोड़ दी ।

राम की शरणागति स्वीकार !!!

विभीषण अपने विराट् सैन्य के साथ लंका के बाहर आ पहुँचा । उसने राम की शरणागति स्वीकार करने का निर्णय कर लिया ।

विभीषण ने राम की सेना की ओर प्रयाण किया ।

द्वारपाल ने जाकर राम से निवेदन किया-``विभीषण आपकी सेवा में उपस्थित होना चाहते हैं, आपकी आज्ञा हो तो...।''

राम ने सुग्रीव की ओर देखा । सुग्रीव की सेना का एक विद्याधर विभीषण की प्रकृति से पूर्णतया परिचित था, उसने कहा-``स्वामिन् ! लंका में विभीषण अपवाद रूप हैं, वे सत्यवादी, न्यायप्रिय और धार्मिक वृत्ति वाले हैं । अतः इन्हें शरण प्रदान करने में कोई आपत्ति नहीं है ।''

राम ने क्षण भर के लिए विचार किया और द्वारपाल को विभीषण के प्रवेश के लिए सहमति दे दी । विभीषण ने प्रवेश किया और वे राम के चरणों में गिर पड़े, राम ने उनका स्वागत किया ।

विभीषण ने कहा-``मेरे अग्रज ने सन्मार्ग का त्याग किया है, अतः मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ, आप मुझे अपना सेवक समझें और मुझे मेरे योग्य आज्ञा प्रदान करें ।''

विभीषण ने निजी स्वार्थ अथवा राज्यलोभ से लंका नहीं छोड़ी थी, बल्कि वह सत्य का पक्षपाती था ।

आखिर तो सत्य की ही विजय होती है ।

घमासान युद्ध का प्रारम्भ

जब रावण स्वेच्छापूर्वक सीता को देने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब राम के लिए युद्ध अनिवार्य बन गया । राम ने अपने सैन्य को सज्ज होने की आज्ञा कर दी ।

प्रथम दिन के युद्ध का नेतृत्व नल और नील ने स्वीकार किया ।

रावण का भी विशाल राक्षससैन्य युद्ध के लिए सज्ज बन चुका था । राक्षससैन्य का नेतृत्व हस्त और प्रहस्त ने स्वीकार किया ।

दोनों सैन्य आमने-सामने आ खड़े हुए । युद्ध की भेरियाँ बज उठीं और तत्क्षण युद्ध प्रारम्भ हो गया । सभी सैनिक अत्यन्त पराक्रम के साथ युद्धभूमि में लड़ने लगे । सैनिकों के शिरोच्छेद होने लगे तो किसी के हाथ कटने लगे । देखते-ही-देखते युद्ध का मैदान खून से रंग गया । चारों ओर सैनिकों और हाथी-घोड़ों के शव दिखाई देने लगे ।

नल और नील ने अपने पराक्रम से राक्षस-सैन्य में हाहाकार मचा दिया । राक्षससैन्य के हजारों सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया गया और अन्त में राक्षससैन्य के अधिपति हस्त और प्रहस्त भी मारे गये ।

हस्त और प्रहस्त की मृत्यु से राक्षससैन्य को बहुत बड़ा धक्का लगा ।

संध्या के समय युद्धविराम हो गया । राम ने नल और नील को बधाई दी और दूसरे दिन के युद्ध की व्यूह रचना के लिए विचार-विमर्श होने लगा ।

राम ने दूसरे दिन के युद्ध का नेतृत्व हनुमान के हाथों में सौंपा ।

रावण ने अपना नेतृत्व वज्रोदर को प्रदान किया ।

दूसरे दिन भी दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ । उस युद्ध में राम की ओर से भामण्डल-सुग्रीव आदि ने भी अपना अदभुत पराक्रम दिखलाया और राक्षस-सैन्य में हाहाकार मचा दिया ।

रावणसैन्य की ओर से रावणपुत्र मेघवाहन और इन्द्रजीत ने भी अपना कम पराक्रम नहीं बताया, उसने भी रामसैन्य के अनेक सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया था ।

अन्त में, हनुमान ने वज्रोदर का वध किया । इन्द्रजीत और सुग्रीव के बीच तथा मेघवाहन और भामण्डल के बीच जोरदार युद्ध हुआ । परन्तु हार-जीत का कोई निर्णय नहीं था ।

संध्या का समय हो गया, अतः युद्धविराम हो गया ।

तीसरे दिन पुनः दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ ।

रावण विषयान्ध बना हुआ है, अतः उसकी दूरदर्शिता नष्ट हो गई । वह यह भूल ही गया कि 'मेरी इस प्रकार की प्रवृत्ति से मेरा कुल कलंकित होगा ?'

विभीषण ने नेतृत्व सँभाला

दो दिन के घमासान युद्ध में भयंकर रूप से जनहानि हुई थी । रात्रि का समय था...युद्धविराम हो चुका था और राम अपनी छावनी में आगामी दिन के युद्ध की व्यूह-रचना के सन्दर्भ में विचार-विमर्श कर रहे थे ।

विभीषण ने कहा-``प्रभो ! कल अवश्य ही रावण युद्धभूमि में उतरेगा, अतः मुझे रावण के साथ युद्ध करने की आज्ञा प्रदान करो ।''

राम ने विभीषण का अत्यन्त आग्रह देखकर आगामी दिन के युद्ध के नेतृत्व का कार्यभार विभीषण को सौंप दिया ।

विभीषण ने सेना का नेतृत्व सँभाला । सूर्योदय से पूर्व ही उसने अपनी सेना व्यवस्थित कर ली और युद्ध की सम्पूर्ण तैयारी कर ली ।

राक्षससैन्य ने भी युद्ध की तैयारी कर ली थी ।

दोनों सेनाएँ आमने-सामने डट गईं । सुग्रीव और भामण्डल ने इन्द्रजीत और मेघवाहन को ललकारा । परस्पर भयंकर संघर्ष हुआ ।

रावण ने जब इन्द्रजीत और मेघवाहन को हाँफते हुए देखा, तब वह आगबबूला हो उठा और राम की सेना के संहार के लिए सज्ज हो गया । रावण ने सिंहगर्जना की । उसने तेजी से अपना रथ युद्ध के मैदान में लाकर खड़ा कर दिया और देखते-ही-देखते वहाँ भयंकर संहार-लीला होने लगी ।

रावण को युद्ध के मैदान में खड़ा देखकर विभीषण ने भी अपना रथ रावण की ओर मोड़ा और क्षणभर में वह रावण के रथ के अत्यन्त निकट आ गया ।

विभीषण का हितोपदेशः रावण का भयंकर रोष

जब रावण ने अपने सामने विभीषण को देखा तो उसने कहा-``अरे विभीषण ! तू किसके आश्रय में गया है ? उसने तो तुझे काल के मुख में भेजा है । सिंह के सामने तुझे बलि का बकरा बनाकर भेजकर उस राम ने अपनी बहुत होशियारी बतलाई है । फिर भी हे वत्स ! अभी मेरे हृदय में तेरे प्रति प्रेम है...वात्सल्य है, तू मेरे मार्ग से हट जा, मैं आज ही सैन्य सहित राम और लक्ष्मण को यममन्दिर पहुँचा दूंगा । मृतकों की संख्या में तू क्यों वृद्धि कर रहा है ? तू पुनः मेरी शरण में आ जा ।''

रावण की यह बात सुनकर विभीषण ने कहा-``हे अग्रज ! मेरे स्वामी राम कोई कायर नहीं हैं, वे तो आपके प्रति क्रुद्ध बने यमराज की भाँति यहाँ आ रहे थे, परन्तु आपको बोध देने की इच्छा से मैंने ही उन्हें यहाँ आने से रोका है ।

``हे ज्येष्ठ ! आप मेरी बात स्वीकार करो और आज ही सीता को लौटा दो । मैं मृत्यु के भय से अथवा राज्य के लोभ से राम की शरण में नहीं आया हूँ, किन्तु अपयश के भय से आया हूँ । राम को सीता सौंपकर आप पुनः निष्कलंक बन जाओ ।''

विभीषण की यह प्रेमभरी सलाह रावण को नहीं जँची ।

विभीषण ने रावण को योग्य सलाह दी, परन्तु यह सलाह रावण को बहुत बुरी लगी और वह अत्यन्त क्रोधातुर होकर बोला-

``अरे कायर ! तू मुझे भय दिखलाता है ? मैंने उस दिन तो तुझे जीवित छोड़ दिया था परन्तु आज तुझे मृत्यु पुकार रही है...अब तू मेरे हाथों से बच नहीं सकेगा ।''

...और क्रोधातुर रावण ने धनुष का टंकार किया ।

रावण और विभीषण के बीच घमासान युद्ध छिड़ गया । दोनों विकराल यम की भाँति परस्पर लड़ने लगे ।

लक्ष्मण ने इन्द्रजीत पर नागपाश फेंका और उसे बन्धनग्रस्त कर अपनी छावनी में पहुँचा दिया । राम ने मेघवाहन को परास्त कर जीवित ही पकड़वा लिया । भामण्डल ने कुम्भकर्ण को परास्त किया और उसे बन्धनग्रस्त बना दिया ।

रावण ने अपने भाई कुम्भकर्ण और अपने पुत्रों को यों परास्त होते देखकर **'अमोघविजया'** शक्ति का स्मरण किया । वह **'अमोघविजया'** शक्ति प्रकट हो गई ।

रावण अपने भाई विभीषण पर **'अमोघविजया'** शक्ति का प्रहार करने के लिए तैयार हो गया ।

यह दृश्य देख राम ने सोचा, ``अभी अपना यह अतिथि समाप्त हो जाएगा...इसे बचाना अपना कर्त्तव्य है''...और एक क्षण भर में ही उन्होंने लक्ष्मण को विभीषण के आगे आकर खड़े होते देखा ।

रावण ने कहा-``अरे ! तू क्यों मरना चाहता है ? खैर ! तुझे भी तो

समाप्त करना ही है...।'' रावण ने अपना निशाना लक्ष्मण पर किया और अत्यन्त तेजी के साथ रावण ने वह शक्ति लक्ष्मण पर फेंक दी...शक्ति के प्रहार के साथ ही लक्ष्मणजी धरती पर गिर पड़े और बेहोश हो गये ।

लक्ष्मण की यह दुर्दशा देखकर राम की सेना में हाहाकार मच गया । ``हाय ! लक्ष्मणजी मारे गये'' का क्रन्दन चारों ओर फैल गया ।

लक्ष्मण पर प्रहार देखकर रामचन्द्रजी अत्यन्त क्रोधित हुए । वे रावण के रथ को तोड़ने लगे । रावण ने सोचा-``लक्ष्मण के विरह में राम स्वयं मर जायेंगे'' अतः उसने लंका की राह पकड़ी और देखते ही देखते लंका की दिशा में अदृश्य हो गया ।

सूर्य अस्ताचल की ओर प्रयाण कर चुका था, युद्धविराम हो गया था । रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी के निकट आये और बोले-``हे भ्राता ! तू अपनी आँख खोल । मेरी ओर देख ! बोल, तुझे क्या तकलीफ है ?''

बोलते-बोलते राम की आँखों में आँसू आ गये । राम कहने लगे-``हे कपीश्वर ! पत्नी का अपहरण हुआ और भाई के प्राण हरण हो गये...फिर भी यह राम जीवित है ? मेरा हृदय विदीर्ण क्यों नहीं हो गया ?''

``हे विभीषण ! मैंने तुझे लंका देने का वचन दिया था, परन्तु अफसोस ! मैं अपने वचन का पालन नहीं कर सका, मुझे इसका अत्यन्त दुःख है । प्रातः होते ही मैं रावण का वध करूंगा...और लंका का राज्य तुझे सौंपकर अपने अनुज को गोद में लेकर अग्नि-स्नान करूंगा ।''

विभीषण ने कहा-``प्रभो ! आप इतने अधीर क्यों बन रहे हैं ? आप धैर्य धारण करें । आपकी अधीरता से तो सेना का मनोबल ही टूट जाएगा । हे प्रभो ! अमोघविजया शक्ति से लक्ष्मणजी घायल जरूर हुए हैं, परन्तु मरे नहीं हैं, इस शक्ति से प्रहत व्यक्ति एक रात तक जीवित रहता है, अतः लक्ष्मणजी को शक्ति से मुक्त करने का उपाय खोजा जाय ।''

राम ने साश्चर्य पूछा-``क्या लक्ष्मण पुनः जीवित हो सकेगा ?''

``हाँ ! जरूर ।''

``तो शीघ्र ही शक्ति को दूर करने का उपाय करो ।'' राम ने सभी को सम्बोधित कर कहा ।

सभी विचार में डूब गये । अब क्या किया जाय ?

सीता का विलाप

किसी परिचारिका ने जाकर सीता को समाचार दिये, ``आज युद्ध में लक्ष्मणजी मारे गये और कल प्रातः राम भी भाई के स्नेह के वशीभूत होकर मृत्यु को वरेंगे ।''

परिचारिका के मुख से ये समाचार सुनते ही सीताजी पृथ्वी पर ढल पड़ीं । वे करुण स्वर से विलाप करने लगीं-``हे वत्स ! हे लक्ष्मण ! आप कहाँ चले गये ? आपके बिना आपके अग्रज तो क्षणभर भी रहने में समर्थ नहीं हैं । मुझे धिक्कार हो । मैं मन्दभागिनी हूँ । मेरे निमित्त से मेरे स्वामी और देवर की यह दशा हुई । हे वसुन्धरा ! मुझे मार्ग दे, मैं तेरे में समा जाऊँ ! मुझे अब जीने की चाह नहीं है ।''

सीता के करुण रुदन को सुनकर एक परिचारिका का हृदय दुःख से भर आया । उसके पास अवलोकिनी विद्या थी । उसने विद्या का स्मरण किया ।

देवी ने कहा-``हे भद्रे ! इस युद्ध में राम विजयी होंगे । प्रातःकाल होते ही लक्ष्मणजी पुनः स्वस्थता प्राप्त कर लेंगे और युद्ध में विजयी बनकर यहाँ आयेंगे ।''

परिचारिका ने सीता को देवी का कथन सुना दिया । सीताजी प्रसन्न हो गईं ।

रावणः हर्ष-शोक के झूले में

युद्धभूमि से निकलकर रावण अपने महल में आ गया था । लक्ष्मणजी की मूर्च्छा उसे आनन्द दे रही थी...तो इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण के बन्दी हो जाने से वह अत्यन्त संतप्त भी था ।

कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघवाहन आदि को राम-सैन्य ने बन्धन-ग्रस्त कर लिया था, अतः रावण अपने भाई और पुत्रों के भावी विचार से अत्यन्त दुःखी था । वह हर्ष-शोक के झूले में झूल रहा था ।

उपाय मिल गया !!!

रामसैन्य के सभी सैनिक लक्ष्मणजी की मूर्च्छा से अत्यन्त उदासीन थे, सभी उपाय की खोज में थे । विभीषण ने लक्ष्मणजी की रक्षा के लिए अपनी

विद्या-शक्ति से किले की रचना कर दी थी और किले के चारों द्वारों पर भामण्डल आदि को रक्षक के रूप में नियुक्त कर दिया था ।

थोड़ी देर में पूर्व दिशा से एक विद्याधर आया और बोला-``मुझे जल्दी ही लक्ष्मणजी के पास ले चलो...मुझे एक उपाय मिल गया है ।''

भामण्डल तुरन्त ही उस विद्याधर को राम के सन्निकट ले आया । उसने राम के चरणों में प्रणाम किया ।

राम ने पूछा-``आपका परिचय और उपाय ?''

उसने कहा-``प्रभो ! मैं संगीतपुर के महाराजा शशिमण्डल का पुत्र प्रतिचन्द्र हूँ । एक बार किसी विद्याधर ने मुझ पर `चंडरवा' शक्ति का प्रहार किया था । उस शक्ति के प्रहार से मैं मूर्च्छित होकर साकेतपुर में गिर पड़ा था । आपके लघुबन्धु `भरत' ने मुझे देखा और उन्होंने चमत्कारी जल का मुझ पर छिड़काव किया और वह `चंडरवा' शक्ति नष्ट हो गई ।

आश्चर्यचकित होकर मैंने उस जल का रहस्य पूछा ।

भरत ने कहा-``गजपुर से एक विंध्य सार्थ यहाँ आया था । सार्थ के साथ एक बैल भी था, जो अत्यन्त अशक्त बन चुका था । विंध्य ने वह बैल यहीं छोड़ दिया । लोगों ने उस बैल की उपेक्षा की, किसी शुभ-भाव से मरकर वह ``वायुकुमार'' देव बना । उस देव ने रोषायमान होकर सम्पूर्ण नगर में भयंकर रोग फैला दिया । अनेक लोग मरने लगे । परन्तु मेरे मामा ``द्रोण-मेघ'' का परिवार व उनका राज्य बच गया । मुझे आश्चर्य हुआ । मैंने द्रोणमेघ को इसका रहस्य पूछा । उसने कहा-``जब से मेरी महारानी गर्भवती बनी, तब से ही वह नीरोग हो गई थी, उसने एक पुत्री को जन्म दिया, जिसका नाम ``विशल्या'' रखा गया । विशल्या जिसका स्पर्श करे, वह व्यक्ति नीरोग बन गया...इस प्रकार मेरा राज्य बच गया ।'' हे प्रतिचन्द्र ! मैंने उसी विशल्या के स्नानजल से तुझे शक्ति से मुक्त किया है । मैंने भरत का आभार माना ।

अपनी बात को समाप्त करते हुए प्रतिचन्द्र ने कहा-``यदि तुरन्त ही भरत के पास से वह जल लाया जाय तो लक्ष्मणजी शक्तिप्रहार से मुक्त हो सकते हैं ।''

प्रतिचन्द्र के मुख से इस प्रकार की घटना सुनकर राम ने भामण्डल को कहा-``भामण्डल ! तुम, हनुमान और अंगद को लेकर अयोध्या जाओ और प्रातः पूर्व उपस्थित हो जाना ।''

विभीषण ने कहा-``भामण्डल ! चिन्ता मत करो । पवनगति विमान लो और शीघ्र ही अयोध्या जाकर वह स्नानजल ले आओ ।''

भामण्डल, हनुमान और अंगद तीनों विमान में आरूढ़ हुए और देखते-ही-देखते वह विमान अयोध्या की ओर आगे बढ़ने लगा ।

भरत से मुलाकात

थोड़ी ही देर में भामण्डल का विमान अयोध्या पहुँच गया । भरत महाराजा निद्राधीन थे । अंगद ने मधुर स्वर से गीत गाया, भरत महाराजा की निद्रा खुल गई ।

मध्यरात्रि के समय अपने पास भामण्डल और हनुमान को देख महाराजा आश्चर्यचकित हुए । उन्होंने पूछा-``मध्यरात्रि में आगमन का कारण ?''

``हम विशल्या का स्नानजल लेने आये हैं ।'' भामण्डल ने कहा ।

``क्यों ?''

रावण की शक्ति से लक्ष्मणजी घायल हो गये हैं ।

``हैं ! क्या कहा ? लक्ष्मणजी घायल हो गये हैं ? परन्तु अफसोस ! वह स्नानजल तो बिल्कुल बचा नहीं है ।...खैर, हम कौतुकमंगल चलते हैं और वहाँ से विशल्या को ही रवाना कर देते हैं ।''

भरतजी भी भामण्डल के साथ विमान में आरूढ़ हो गये और तेजी से वह विमान कौतुकमंगल नगर की ओर आगे बढ़ने लगा ।

थोड़ी ही देर में वह विमान कौतुकमंगल पहुँच गया ।

भरत ने द्रोणमेघ को जगाया और सब बात की ।

विशल्या के हृदय में लक्ष्मणजी के प्रति प्रेम भाव था । उसने अपने जीवन में `लक्ष्मणजी' को ही वरने की प्रतिज्ञा की थी । शीघ्र ही विशल्या को भी जगाया गया । वह भी लंकागमन के लिए तत्काल सज्ज हो गई ।

भरत ने कहा-``भामण्डल ! मैं भी लंका चलता हूँ ।''

भामण्डल ने कहा-``राजेश्वर ! आपके आगमन की आवश्यकता नहीं है । आप अयोध्या का शासन सँभालो, लक्ष्मण अब शीघ्र ही स्वस्थ हो जायेंगे...उसके बाद लंका-विजय में कोई देर नहीं लगेगी ।''

भरत को पुनः अयोध्या छोड़ दिया गया ।

भामण्डल और अंगद का विमान विशल्या को साथ लेकर तेजी से लंका की ओर बढ़ने लगा ।

रात्रि का तीसरा प्रहर व्यतीत हो चुका था...सुग्रीव आदि अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अयोध्या से विमान के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे ।

...और थोड़ी ही देर में वह विमान राम-छावनी के अत्यन्त निकट आ गया । चारों ओर राम-सैन्य में प्रसन्नता छा गई ।

विशल्या ने मूर्च्छित लक्ष्मण को देखा, एक क्षण तो उसका हृदय काँप उठा । दूसरे ही क्षण उसने पंच परमेष्ठि-भगवन्तों का स्मरण किया और लक्ष्मणजी की छाती का हाथ से स्पर्श किया । विशल्या के स्पर्श के साथ ही वह अमोघविजया शक्ति कम्पित हो उठी और लक्ष्मण की देह का त्याग कर भाग गई ।

महाशक्ति के निर्गमन के साथ ही लक्ष्मणजी की देह में चेतना आने लगी । लक्ष्मणजी को पुनः जागृत देखकर राम के मुख पर अद्‌भुत प्रसन्नता छा गई । चारों ओर का वातावरण आनन्दमय बन गया ।

मानों घोर निद्रा से जागृत हुए हों, इस प्रकार लक्ष्मणजी बैठे हुए । उनके मुख पर धीरे-धीरे प्रसन्नता छाने लगी ।

यह सब विशल्या के पूर्वजन्म के तप का ही प्रभाव था ।

लक्ष्मण के पुनर्जीवन के समाचार लंका में चारों ओर फैल गये । ये समाचार सुनकर सीता के हर्ष का पार न रहा, परन्तु इस समाचार ने रावण के दर्द में तीव्र अभिवृद्धि कर दी ।

रावण की मंत्रणा

रावण ने आगामी दिन के लिए युद्ध स्थगित कर दिया । उसने अपने समस्त मन्त्रियों की एक सभा बुलाई । थोड़ी ही देर में लंका के सभी मंत्री मंत्रणा-खण्ड में एकत्र हुए ।

रावण ने आकर सिंहासन पर आसन ग्रहण किया । वह मंत्रियों को सम्बोधित करते हुए बोला-``हे प्रिय मंत्रिजन ! पिछले तीन दिन के युद्ध से हमें क्या नुकसान हुआ और शत्रु के पक्ष में भी जो जनहानि हुई है, उससे आप सब सुपरिचित ही हैं । परन्तु कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत तथा मेघवाहन आदि के बन्धनग्रस्त हो जाने से मुझे अत्यन्त ही ग्लानि हो रही है, अतः ऐसे किसी उपाय पर विचार-विमर्श किया जाय, जिससे कुम्भकर्ण आदि को बन्धन-मुक्त किया जा सके...।''

रावण की यह बात सुनकर एक वृद्ध मंत्री ने कहा-``हे स्वामी ! आपकी अपनी समस्या का मुझे एक समाधान मिला है, जिसके बल से कुम्भकर्ण आदि को बन्धनमुक्त किया जा सकता है ?''

``वह कौनसा उपाय है ?'' रावण ने पूछा ।

वयोवृद्ध मंत्री ने कहा-``राम की पत्नी सीता को मुक्त किया जाय...और उसे श्रीराम को सौंप दिया जाय । हे सम्राट् ! जरा सोचिए, क्या सत्य अपने पक्ष में है ? सत्य यदि अपने पक्ष में होता तब तो समस्त प्रजा का भी बलिदान सार्थक बनता परन्तु...।'' कहते-कहते वृद्ध मंत्री के चेहरे पर उदासीनता छा गई ।

रावण ने यह बात सुनी, किन्तु उसने उसे स्वीकार नहीं किया । उसने कहा-``मंत्रीश्वर ! यह तो कायरता की बात कही है, मुझे ऐसा उपाय नहीं चाहिए, मैं राम-लक्ष्मण को अवश्य परास्त कर सकूंगा ।''

अविश्वास और अतिविश्वास दोनों कार्यसिद्धि में बाधक

किसी भी कार्य को अपने हाथ में लेने से पूर्व अपनी शक्ति का विचार कर लेना आवश्यक है । इस प्रकार सोच-समझ कर किये हुए कार्य में व्यक्ति अवश्य सफलता पाता है, परन्तु यदि आपको अपने कार्य की सफलता के प्रति अविश्वास या अति-विश्वास है तो आप कभी सफल नहीं बन सकते ।

❑ कार्य की सफलता के प्रति अविश्वास व्यक्ति को कमजोर बनाता है ।

❑ कार्य की सफलता के प्रति अतिविश्वास से व्यक्ति को बाद में पछताना पड़ता है । अपनी शक्ति न हो और फिर भी सफलता की आशा में अतिविश्वास हो तो बाद में हार ही खानी पड़ती है ।

रावण को अपनी सफलता के प्रति अतिविश्वास था । वह यही मान बैठा था कि मैं युद्ध के मैदान में राम-लक्ष्मण को परास्त कर सकूंगा ।

रावण ने अपने मन्त्रियों की सलाह नहीं मानी और अन्त में उसने राम-छावनी में अपनी ओर से एक दूत भेजा ।

राम के चरणों में प्रणाम कर दूत ने कहा-``हमारे स्वामी युद्ध-विराम चाहते हैं, यदि आप लंकापति की दो इच्छाओं को स्वीकार कर लें तो यह घोर संग्राम विराम पा सकता है ।''

श्रीराम ने कहा-``कौनसी दो इच्छाएँ हैं ?''

दूत ने कहा-``पहली इच्छा है आप कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत तथा मेघवाहन को बन्धनमुक्त कर दें और दूसरी यह कि सीता लंकापति को सौंप दी जाय। इसके बदले में हमारे स्वामी आपको लंका का अर्द्ध राज्य और तीन हजार विद्याधर कन्याएँ प्रदान करेंगे।''

राम ने कहा-``हे दूत ! तू जाकर लंकापति को कह दे कि राम को न तो लंका के आधे राज्य की भूख है और न ही तीन हजार कन्याओं की।''

आवेश में आकर लक्ष्मण ने कहा-``अरे दूत ! तू अपनी वाचालता छोड़ दे। परस्त्रीलम्पट तेरे स्वामी को जाकर कह देना-``राम को अन्य कन्याओं की इच्छा नहीं है और न ही हमें लंका के राज्य की भूख है। एक सती की रक्षा हेतु ही यह युद्ध हो रहा है। हमें इस नरसंहार में आनन्द नहीं आ रहा है, यदि तेरा स्वामी युद्धविराम चाहता है तो वह जल्दी ही सीताजी को हमें सौंप दे।''

रावण का दूत लक्ष्मणजी के कोप को सहन न कर सका, तुरन्त ही उसने वहाँ से विदाई ली और आकर सब घटना रावण को सुना दी।

वयोवृद्ध मंत्री ने पुनः रावण को यही सलाह दी कि सीता राम को सौंप दी जाय। परन्तु रावण ने मंत्री की इस सलाह की ओर लेश भी ध्यान नहीं दिया।

रावण द्वारा 'बहुरूपिणी विद्या' की सिद्धि

रावण विचारसागर में डूबा हुआ था। वह सोचने लगा-``जब तक राम-लक्ष्मण जीवित हैं, तब तक सीता को प्राप्त करना, अत्यन्त दुष्कर कार्य है। मेरे सैन्य में से बहुत से पराक्रमी योद्धा भी मारे गये हैं। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत आदि को भी कैद कर लिया गया है। अब क्या करूँ ?'' इस प्रकार विचार करते-करते उसके दिमाग में एक विचार स्फुरित हो गया-``यदि मैं बहुरूपिणी विद्या को सिद्ध कर लूँ तो युद्ध में विजय पाना मेरे लिए सरल हो जाएगा।''

रावण शीघ्र ही मन्दोदरी के पास जा पहुँचा और बोला-``प्रिये ! अब मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिए **'बहुरूपिणी विद्या'** की साधना करना चाहता हूँ, तुझे उत्तरसाधिका के रूप में रहना है। आठ दिन तक अब युद्धविराम रखना है, सम्पूर्ण नगर में हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाना है।''

मन्दोदरी ने रावण की बात स्वीकार की । रावण ने आठ दिन के लिए युद्धविराम की घोषणा कर दी और साथ ही आठ दिन तक नगर में किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करने की आज्ञा फरमा दी ।

रावण ने अपने गृहचैत्य में प्रवेश किया । गोशीर्ष चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों से उसने शान्तिनाथ प्रभु का विलेपन किया । सुगन्धित पुष्पों से प्रभु की भव्य अंगरचना की । द्रव्यपूजा की समाप्ति के बाद रावण ने परमात्मा की भावपूजा प्रारम्भ की । मुक्तकण्ठ से मधुर संगीत से वह परमात्मा की गुणस्तवना करने लगा । उसने अपने मन को एकाग्र कर लिया । एक योगी की भाँति वह ध्यान में निश्चल हो गया ।

साधना मोक्ष के लिए हो !!!

परमात्मा की भक्ति आत्मकल्याण का अमोघ साधन है । परमात्म-भक्ति से आत्मा परमात्मा बन सकती है, परन्तु इस हेतु वासना के पर्दे को दूर करना होगा ।

अपनी आत्मा लोहे के तुल्य है और परमात्मा पारसमणि तुल्य है । परमात्मा के स्पर्श संग से अपनी आत्मा भी स्वर्णतुल्य शुद्ध बन सकती है, परन्तु इस हेतु आत्मा पर से वासना का आवरण हटाना अनिवार्य है, जब तक आत्मा पर वासनाओं का आवरण रहेगा, तब तक अपनी आत्मा शुद्ध नहीं बन सकेगी ।

रावण परमात्मा की अद्‌भुत-भक्ति तो कर रहा था, परन्तु उसके हृदय में `बहुरूपिणी विद्या' प्राप्ति की वासना रही हुई थी ।

परमात्म-भक्ति के फलस्वरूप मांगने पर सांसारिक ऋद्धि भी प्राप्त हो जाती है, परन्तु इस प्रकार की ऋद्धि से आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता ।

राम की महानता

इधर राम को पता चला कि रावण ने आठ दिन के लिए युद्धविराम की घोषणा कर दी है और वह बहुरूपिणी विद्या की साधना कर रहा है ।

सुग्रीव ने कहा-``स्वामिन् ! रावण बहुरूपिणी विद्या की साधना कर रहा है, उसके बाद तो अपनी विजय में संशय है, अतः इसके पूर्व ही हमें उसका निग्रह कर लेना चाहिए । स्वामिन् ! आप आज्ञा करें तो हम उसकी विद्यासाधना को निष्फल बना दें ।''

राम ने कहा-``वानरेश्वर ! विद्या-साधना के लिए शान्त बैठे हुए रावण का निग्रह करना क्या हमारे लिए उचित है ? **एक दुष्ट व्यक्ति यदि अपनी दुष्टता का त्याग न करे तो हमें भी अपनी सज्जनता क्यों छोड़नी चाहिए ? जीवन के अन्त समय तक हमें अपनी न्याय और नीति का पालन करना है ।** मैं उसकी तरह छल से विजय पाना नहीं चाहता हूँ ।''

रामचन्द्रजी के इस प्रत्युत्तर में हमें उनकी महानता / सज्जनता के दर्शन होते हैं । सज्जन व्यक्ति कभी छल करके विजय पाना नहीं चाहता है ।

अंगद को रावण की विद्यासाधना की गंध आ गई । वह अपनी विद्या के बल से रावण के गृहचैत्य में पहुँच गया और किसी भी प्रकार से रावण को ध्यान से चलित करने के लिए प्रयत्न करने लगा, परन्तु रावण उसके उपद्रवों से लेश भी चलित नहीं हुआ ।

अन्त में, अंगद ने रावण के सामने मन्दोदरी के अपहरण का भी दृश्य दिखलाया, परन्तु इससे भी रावण लेश भी प्रभावित नहीं हुआ । आठ दिन की निरन्तर साधना के बाद रावण को `बहुरूपिणी विद्या' सिद्ध हो गई और चारों ओर जय-जयकार की ध्वनि गूंज उठी ।

रावण की दीनता: सीता का प्रतिकार

`बहुरूपिणी विद्या' की सिद्धि के बाद रावण पुनः देवरमण उद्यान में आया । किसी दासी ने जाकर सीता को रावण के आगमन की सूचना दी ।

रावण सीता के निकट आ गया और अत्यन्त दीनतापूर्वक बोला-``सीता ! आज तक मैंने तेरे पास बहुत बार याचना की है...परन्तु तूने मेरी बात की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया...अब मैं कल चक्ररत्न के द्वारा लक्ष्मण का वध करूंगा, राम तो लक्ष्मण के पीछे स्वतः ही मर जायेंगे...फिर अपनी प्रतिज्ञा का भंग करके भी तेरा संग करूंगा ।''

रावण की इस भयंकर धमकी को सुनकर सीताजी अत्यन्त व्यथित हो गईं और मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ीं । थोड़ी देर बाद होश में आने पर एक सिंहनी की भाँति गर्जना करती हुई बोली-

``हे दुष्ट ! तू भी कान खोलकर सुन ले...यदि युद्ध में राम-लक्ष्मण का मरण हो गया तो मैं भी अनशन करके अपना जीवन समाप्त कर दूंगी...जब तक प्राण रहेंगे, तब तक तो तू मेरा स्पर्श नहीं कर सकेगा ।''

रावण का संकल्प

सीता की इस गर्जना को सुनकर रावण विचार में पड़ गया । ``सीता का राम के प्रति इतना अधिक राग ! जब तक वह जीवित है, तब तक यह मुझसे राग नहीं करेगी ? तो फिर इस सीता के लिए मेरा इतना प्रयत्न क्यों ? खैर, अब तो सीता को ऐसे ही सौंप देने में मेरी क्या इज्जत रहेगी ? हाँ ! अब मुझे इस सीता से कोई मतलब नहीं है । बस, एक बार इस युद्ध में विजय पा लूँ, राम और लक्ष्मण को बन्दी बना लूँ...उसके बाद उन्हें उनकी सीता सौंप दूंगा । इस प्रकार करने से लोक में मेरी अपकीर्ति भी नहीं होगी ।''

सीता के प्रति रावण का राग दूर हो गया था, परन्तु सीता को ऐसे ही सौंप देने में रावण को अपने अहंकार के प्रति चोट नजर आ रही थी । अब कुछ भी हो जाय, ऐसे तो मैं सीता को नहीं सौंपूंगा...हाँ ! युद्ध में विजेता बन जाऊँ, उसके बाद सीता राम को सौंप दूंगा ।

रावण-वध

आगामी दिन के युद्ध के लिए रावण ने जोरदार तैयारी कर ली थी । उसने अपने सैन्य को चारों ओर से सज्ज कर लिया । युद्ध में अन्तिम हथियार के रूप में अत्यन्त उपयोगी सुदर्शन चक्र को भी अपने हाथों में ले लिया था ।

दूसरे दिन पुनः युद्ध की घोषणा कर दी गयी । आज राम के सैन्य में भी युद्ध के लिए अदम्य उत्साह था, सभी सैनिक युद्ध में मर-मिटने के लिए तत्पर थे ।

थोड़ी ही देर में युद्ध की भेरियाँ बज उठीं और दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया ।

आज के युद्ध की सबसे बड़ी विशेषता थी कि लक्ष्मणजी और रावण दोनों युद्धभूमि में उतरे हुए थे ।

रावण ने बहुरूपिणी विद्या का स्मरण किया और चारों ओर रावण ही रावण दिखाई देने लगे । लक्ष्मणजी ने चारों ओर से रावण पर तीरों की वर्षा प्रारम्भ कर दी, परन्तु मुख्य रावण को पहचानना सुकर कार्य नहीं था । रावण ने देखा-``बहुरूपिणी विद्या के बावजूद भी वह लक्ष्मण को परास्त करने में असमर्थ रहा, तब उसने अपने अन्तिम हथियार `चक्ररत्न' को अपने हाथ में

लिया । रावण का यह चक्र अभी तक कभी उपयोग में नहीं आया था । बस, रावण को दृढ़ विश्वास था कि इस चक्ररत्न के द्वारा वह अवश्य ही लक्ष्मण का शिरोच्छेद कर देगा और वह युद्ध में विजयी बन जायेगा ।

रावण ने चक्ररत्न का स्मरण किया और वह चक्र रावण के दाहिने हाथ में आ गया । रावण ने उस चक्र को जोर से घुमाया और लक्ष्मण को लक्ष्य कर वह चक्र छोड़ दिया ।

...समस्त सैन्य में हाहाकार मच गया । अब लक्ष्मणजी कैसे बचेंगे ? परन्तु यह क्या ! चक्ररत्न के द्वारा लक्ष्मण का शिरोच्छेद होने के बजाय वह चक्र लक्ष्मण के चारों ओर तीन प्रदक्षिणा कर लक्ष्मण के दाहिने हाथ में आ गया ।

रावण के मुख पर ग्लानि छा गई ।

लक्ष्मणजी के हाथों में सुदर्शन चक्र को देखकर एक बार विभीषण पुनः रावण के सामने आया और बोला-``भाई ! अभी भी आप जीवन चाहते हो तो सीता राम को सौंप दो और राम की शरण स्वीकार कर लो ।''

परन्तु विभीषण की यह प्रेम भरी सलाह रावण को नहीं रुची । उसने क्रोधावेश में आकर कहा-``हे दुष्टमति ! भले मेरे पास से चक्र चला गया, परन्तु मेरी मुष्टि का एक ही प्रहार शत्रु का संहार करने में समर्थ है...।''

बस, लक्ष्मणजी ने अपना शस्त्र घुमाया और रावण की ओर छोड़ दिया । चक्ररत्न तेजी से रावण के सम्मुख आया और उसने रावण की छाती चीर डाली...तत्काल रावण धरती पर गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई ।

अन्तिम संस्कार

वैशाख कृष्णा एकादशी का वह दिन था, जिस दिन रावण ने इस संसार से चिर विदा ली । वह मरकर चौथी नरकभूमि में नारक के रूप में पैदा हुआ । रावण के वध के साथ ही राम-सैन्य में जय-जयकार फैल गया और राक्षस सैन्य में हाहाकार मच गया । विभीषण ने रावण की सेना को सम्बोधित करते हुए कहा-``आपको भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, आप सब राम-लक्ष्मण की शरणागति स्वीकार करो ।'' राम की सेना में जय-जय के रव से सम्पूर्ण आकाशमण्डल गूँज उठा था ।

विभीषण अपने ज्येष्ठ भ्राता रावण की मृत देह के निकट आया । उसके हृदय में भ्रातृ-विरह की वेदना जाग उठी । वह अत्यन्त व्याकुल बन

गया और अत्यन्त करुण रुदन करने लगा...उसने कमर में से छुरी निकाली और अपनी छाती में भोंकने के लिए तैयार हो गया, परन्तु तत्काल राम ने विभीषण का हाथ पकड़ लिया और उसके हाथ से छुरी छीन ली ।

राम ने लंका-परिवार को सम्बोधित करते हुए कहा-``आप शोक का त्याग करो...युद्ध में प्राणत्याग कर रावण ने वीरगति प्राप्त की है अतः शोक का त्याग कर उत्तरकार्य के लिए तत्पर बनो ।''

राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत तथा मेघवाहन आदि सभी कैदियों को बन्धन से मुक्त कर दिया गया ।

रावण की मृत देह को देखकर कुम्भकर्ण आदि रो पड़े । अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक आश्वासन देते हुए राम ने कहा-

``हे वीरपुरुषो ! आप वीरगति पाने वाले रावण के लिए शोक न करो और उत्तरकार्य के लिए उद्योग करो ।''

मन्दोदरी ने जब अपने स्वामी की मृत्यु के समाचार सुने, तो वह भी शोक से विह्वल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी और करुण रुदन करने लगी ।

राम की आज्ञा से चन्दनकाष्ठ की चिता तैयार कर दी गई । रावण की देह को सुगन्धित जल से स्नान कराया गया । तत्पश्चात् सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत कर रावण की मृत देह को चिता पर रखा गया । सर्वप्रथम इन्द्रजीत ने चिता में आग लगाई । थोड़ी ही देर में रावण की भौतिक देह जलकर भस्मीभूत हो गई ।

कुम्भकर्ण-इन्द्रजीत-मेघवाहन और मन्दोदरी को संसार से विरक्ति एवं दीक्षा-स्वीकार

रावण की उत्तरक्रिया की समाप्ति के बाद राम ने कुम्भकर्ण आदि को सम्बोधित करते हुए कहा-``हे वीरपुरूषो ! आपकी राज्य-सम्पत्ति से हमें कोई प्रयोजन नहीं है, आप खुशी से इस राज्य का संचालन करो ।''

राम के मुख से इस प्रकार के उदारतापूर्ण और सहानुभूति पूर्ण वचनों को सुनकर कुम्भकर्ण व इन्द्रजीत ने कहा-``हे पवित्र पुरुष ! अब हमें इस राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है । पिता के वध ने हमारे जीवन में रहे अज्ञान अन्धकार को चीर दिया है । अब तो हमें चाहिए ``आत्मा का साम्राज्य, जो अविनाशी हो...शाश्वत हो...और स्वाधीन हो ।''

कुम्भकर्ण आदि के मुख से संसार-विरक्ति के इस प्रकार के वचनों को सुनकर राम और लक्ष्मण आश्चर्यचकित हो गये । उन्होंने पुनः कुम्भकर्ण आदि को राज्य ग्रहण करने के लिए आग्रह किया, परन्तु दृढ़ संकल्पी कुम्भकर्ण आदि ने राज्य लेने से इन्कार कर दिया ।

इधर लंका के कुसुमायुध उद्यान में `अप्रमेयबल' महामुनि का आगमन हुआ । जिनको अभी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था । उस केवलज्ञान के महोत्सव के लिए अनेक देव आकाशमार्ग से आ रहे थे ।

कुम्भकर्ण आदि कुसुमायुध उद्यान की ओर बढ़े । उन्होंने प्रभु को वन्दन किया और उचित स्थान पर बैठकर प्रभु के मुख से वैराग्यमय देशना का पान करने लगे ।

इन्द्रजीत और मेघवाहन के मन में अपने पूर्व जन्मों को जानने की इच्छा पैदा हुई । उन्होंने प्रभु से निवेदन किया और प्रभु ने अपने ज्ञानदर्पण में उनके पूर्व जन्मों को देख, प्रजाजनों के बोध के लिए उनके पूर्वभव कहे ।

अपने पूर्व-जन्मों को सुनकर इन्द्रजीत और मेघवाहन के मन में वैराग्य की ज्योति प्रज्वलित हो उठी ।

कुम्भकर्ण और मन्दोदरी आदि भी संसार से विरक्त बन चुके थे । उन्होंने प्रभु से चारित्र प्रदान करने के लिए निवेदन किया ।

प्रभु ने उन्हें संयम प्रदान किया । कुम्भकर्ण आदि अब ``मुनिराज'' बन गये । लंका के प्रजाजनों में हर्ष और शोक की लहर फैल गई ।

कुम्भकर्ण आदि त्याग के पथ पर जा रहे थे, इस बात से सभी के दिल में हर्ष था तो कुम्भकर्ण आदि के भावी विरह की सम्भावना से शोक भी था ।

राम ने नूतन मुनियों की वन्दना की । तत्पश्चात् सभी मुनि वहाँ से विहार कर आगे बढ़े ।

सीता-मिलन

विभीषण ने राम-लक्ष्मण आदि को लंका में प्रवेश के लिए निवेदन किया । लंका के राजमार्गों को सजा दिया गया । चारों ओर वाद्ययन्त्रों के नाद से आकाशमण्डल गूंज उठा ।

राम के हृदय में लंका के राजभवनों को देखने की उत्कण्ठा नहीं थी । उनके मन में तो `सीता-मिलन' की उत्सुकता थी ।

सीताजी उद्यान में राम के आगमन की निरन्तर प्रतीक्षा करती हुई राम-नाम का जाप कर रही थी ।

राम ने उद्यान में प्रवेश किया । सीता ने दूर से ज्योंही रामचन्द्रजी को आते हुए देखा, उसका हृदय आनन्द से भर आया, उसके मुखमण्डल पर प्रसन्नता छा गई ।

महासती सीता को प्राप्त कर राम का हृदय भी आनन्द से भर आया । चारों ओर महासती सीता के जय-जयकार की ध्वनि गूँज उठी । लक्ष्मणजी ने सीताजी के चरणों में प्रणाम किया । सीता की आँखें सजल हो गईं । लक्ष्मणजी कुछ बोल न सके ।

विभीषण व हनुमान आदि ने भी सीता के चरणों में प्रणाम किया । सब आनन्द में डूबे हुए थे । लंका में सीता-मिलन के बाद रामचंद्रजी लंका के राज भवन की ओर आगे बढे । बिभीषण ने कहा, `प्रभो ! पहले गृह चैत्य में परमात्मा के दर्शन कर ले ।'

रामचन्द्रजी ने सहमति प्रगट की । बिभीषण रामचन्द्रजी आदि को लेकर गृह चैत्य की ओर बढा ।

रावण का गृह चैत्य अद्‌भुत था । उस गृहचैत्य में शांतिनाथ प्रभु की स्फटिक–प्रतिमा के दर्शन कर रामचन्द्रजी का मनमयूर नाच उठा, उन्होंने अत्यंत ही भावपूर्वक देवाधिदेव परमात्मा की पूजा की ।

त्याग का महान् आदर्श

रामायण में स्थान-स्थान पर हमें त्याग के महान् प्रसंग देखने को मिलते हैं । लंका के राजभवन में प्रवेश करने के वाद रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण की ओर इशारा करते हुए कहा-``विभीषण का राज्याभिषेक किया जाय ।''

ज्योंही विभीषण को इस बात का पता चला, उसने हाथ जोड़कर निवेदन करते हुए कहा-

``हे स्वामिन् ! मैंने तो आपकी शरणागति पहले ही स्वीकार कर ली है । मैं तो आपका सेवक हूँ । लंका पर आपका ही अधिकार है । इस लंका के राजसिंहासन पर आपका ही राज्याभिषेक होना चाहिए ।''

विभीषण की यह बात सुनकर राम ने कहा-``विभीषण ! मैंने तो पहले ही वचन दे दिया था । तुम्हारी भक्ति अनुमोदनीय है, परन्तु लंका के राज-सिंहासन पर तो तुम्हारा ही राज्याभिषेक होगा ।''

कितना सुन्दर वह प्रसंग रहा होगा ! राम और विभीषण दोनों में से किसी के हृदय में राज्य की भूख नहीं है, दोनों निर्मम हैं । आज हम उन महापुरुषों को याद करते हैं, तो उसके पीछे यही रहस्य है कि वे भोग के प्रेमी नहीं, बल्कि त्याग के प्रेमी थे । त्याग की भावना उनके रोम-रोम में व्याप्त थी । भोग-सुखों को भोगने पर भी वे उनमें आसक्त नहीं थे ।

रामचन्द्रजी के अति आग्रह के वशीभूत होकर विभीषण को राज्य स्वीकारना पड़ा और शुभ मुहूर्त में उसका राज्याभिषेक कर दिया गया ।

लंका में छह वर्ष बीत गये

लंका की राजगद्दी पर विभीषण का राज्याभिषेक हो गया । विभीषण ने राजतंत्र अपने हाथों में ले लिया । उसने प्रजाजन के हित का पूरा ध्यान रखा और न्याय और नीति से राज्य का संचालन करने लगा ।

विभीषण ने रामचन्द्रजी को लंका में ही रहने के लिए अत्यन्त आग्रह किया । रामचन्द्रजी विभीषण के आग्रह को टाल न सके और वहाँ सुखमय जीवन में छह वर्ष बीत गये ।

सुख में दिन छोटा लगता है-दुःख में दिन बड़ा लगता है ।

सामान्यतः हम देखते हैं कि सुख में हमें दिन अत्यन्त छोटा लगता है और दुःख में दिन बड़ा लगता है ।

जीवन में सुख के दिन जल्दी बीत जाते हैं ।

वास्तव में, समय की पहचान या समय का परिचय दुःख के काल में ही होता है ।

रामचन्द्रजी को लंका के राजभवनों में किसी प्रकार का दुःख नहीं था, उन्हें हर प्रकार की सुख-सुविधाएँ थीं । दिन-पर-दिन बीतने लगे और देखते-ही-देखते छह वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत हो गया ।

लंका में रहते हुए रामचन्द्रजी का अन्य तीन कन्याओं के साथ लग्न भी हुआ । लक्ष्मणजी का भी अनेक विद्याधर कन्याओं के साथ लग्न हुआ ।

नारदजी का अयोध्या आगमन

अन्य-अन्य क्षेत्रों में परिभ्रमण करते हुए नारदजी एक बार अयोध्या पहुँचे । अयोध्या के राजभवनों में जाकर उन्होंने कौशल्या को देखा । कौशल्या

को देखते ही नारदजी खिन्न हो गये । वे सोचने लगे-``अहो ! दशरथ-पत्नी कौशल्या की देहलता इतनी सूख क्यों रही है ? किस चिन्ता से उनका देह संतप्त है ?''

नारदजी ने पूछा-``माताजी ! आप इतने उदासीन क्यों हो ?''

कौशल्या ने कहा-``हे देवर्षि ! राम, लक्ष्मण और सीता को वन में गये वर्षों बीत गये । रावण ने सीता का अपहरण कर लिया । रावण ने लक्ष्मण पर शक्ति-प्रहार किया । लक्ष्मण घायल हो गया । यहाँ से `विशल्या' को ले गये । बस ! यहाँ तक के समाचार हैं, उसके बाद लक्ष्मण का क्या हुआ ? राम-सीता का क्या हुआ ? इसके कोई समाचार भी नहीं हैं, अतः पुत्रों व पुत्रवधू की चिन्ता से मैं संतप्त हूँ...।''

कौशल्या के मुख से इस दर्दभरी वास्तविकता को सुनकर नारदजी का हृदय भी दुःख से भर आया ।

नारदजी ने कहा-``माताजी ! आप चिन्ता न करें, मैं अभी राम-सीता व लक्ष्मण की खोज कर आता हूँ ।''

कौशल्या को आश्वासन देकर नारदजी ने लंका की ओर प्रयाण किया । थोड़ी देर में वे लंका पहुँच गये ।

रामचन्द्रजी से मिलन

लंका पहुँच कर नारदजी सीधे रामचन्द्रजी के पास पहुँचे ।

रामचन्द्रजी ने कहा-``आपका आगमन कैसे हुआ ?''

नारदजी ने कहा-``मैं अयोध्या से आ रहा हूँ, अयोध्या में माँ कौशल्या और सुमित्रा की दशा देखकर आया हूँ...उनके दुःख की सीमा नहीं है...और आप यहाँ पर आनन्द में मग्न हैं । सुख के सागर में माँ को ही भूल गये हैं ?''

राम ने कहा-``नारदजी ! माँ की यह स्थिति है ? बस, अब हमें यहाँ नहीं ठहरना है ।''

जब विभीषण ने राम के प्रयाण की बात सुनी, उसकी आँखें सजल हो गईं । उसने कहा-``कृपानाथ ! आप 16 दिन के लिए और यहाँ रुक जायें, मैं लंका के शिल्पियों को अयोध्या भेजकर अयोध्या के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करना चाहता हूँ ।''

विभीषण का आग्रह देखकर राम ने अपनी सहमति प्रदान की ।

नारदजी ने लंका से प्रयाण किया और वे अयोध्या आ गये । उन्होंने कौशल्या-सुमित्रा आदि को राम-लक्ष्मणजी के आगमन के समाचार सुनाये । कौशल्या का हृदय पुनः प्रसन्नता से भर आया ।

अयोध्या-प्रवेश

लंका के कुशल शिल्पी अयोध्या पहुँचे और उन्होंने अयोध्या का श्रृंगार प्रारम्भ किया । अपने निरन्तर प्रयास से उन्होंने अयोध्या की शोभा में चार चांद लगा दिये ।

देखते-ही-देखते 16 दिन भी बीत गये । राम की आज्ञा से विभीषण ने पुष्पक विमान तैयार किया । राम विमान में आरूढ़ हुए । साथ में लक्ष्मण, सीता, विशल्या तथा विभीषण, भामण्डल, सुग्रीव, नल, नील, हनुमान आदि भी विमान में आरूढ़ हुए ।

प्रयाण के पूर्व रामचन्द्रजी ने लंका की प्रजा का अभिवादन किया । रामचन्द्रजी के अयोध्या प्रयाण की बात सुनकर समस्त लंकावासी वहाँ इकट्ठे हो गये । प्रजाजन की आँखें भी सजल बन चुकी थीं ।

थोड़ी ही देर में पुष्पक विमान का अयोध्या की ओर मंगल प्रस्थान हुआ । विशल्या के हृदय में कौशल्या-सुमित्रा आदि के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा थी ।

अनासक्तयोगी भरत भी भ्रातृमिलन के लिए उत्सुक बने हुए थे । राम के अयोध्या-प्रवेश के निमित्त अयोध्या के समस्त राजमार्गों पर अनेक प्रकार के तोरण बाँध दिये थे । महाराजा भरत और शत्रुघ्न ने अपनी माताओं को हाथी पर बिठाया था । वह भव्य स्वागत-यात्रा नगर के बाहर आई ।

सभी अयोध्यावासियों की आँखें पुष्पकविमान के आगमन की प्रतीक्षा में थीं ।

थोड़ी ही देर में पुष्पकविमान अयोध्या नगर के बाहर आ गया । सभी प्रजाजनों ने रामचन्द्रजी का जय-जयकार किया । चारों ओर हर्ष की लहर फैल गई । सभी के मुख पर प्रसन्नता छा गई ।

दीर्घ विरह के बाद जो संयोग होता है, उसका आनन्द कोई अनुपम ही होता है । दुनिया में जितने भी संयोगजन्य सुख हैं, उनका मुख्य कारण

वियोग का दुःख ही है, यदि जीवन में वियोग का दुःख न हो तो उस संयोग में भी कोई आनन्द नहीं है, इसलिए तो केवली भगवन्तों ने संसार के सुख को सुखाभास कहा है। संसार में वास्तव में कोई सुख नहीं है, परन्तु अज्ञानता के कारण जीव दुःखाभाव को ही सुख रूप मान लेता है।

अयोध्या के बाहर ज्योंही विमान रुका, रामचन्द्रजी विमान में से बाहर आये। उन्होंने अपनी माँ कौशल्या के चरणों में प्रणाम किया। माँ ने राम को शुभाशिष दी। उसके बाद राम ने क्रमशः सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा के चरणों में प्रणाम किया। राम के बाद लक्ष्मण और सीता आदि ने भी कौशल्या आदि के चरणों में प्रणाम किया। भरत और शत्रुघ्न ने राम के चरणों में प्रणाम किया, राम ने सस्नेह अपने लघु बन्धुओं का आलिंगन किया।

सभी प्रजाजन ने हाथ जोड़कर राम और लक्ष्मण का अभिवादन किया। राम और लक्ष्मण ने भी प्रजाजन का अभिवादन किया।

उसके बाद वह स्वागतयात्रा नगर की ओर आगे बढ़ी। नगर-वासियों के दिल में आनन्द समा नहीं रहा था। धीरे-धीरे यह स्वागतयात्रा राजभवन के निकट पहुँची और अन्त में राजसभा के रूप में परिवर्तित हो गई।

थोड़ी सी औपचारिक विधि के बाद सभा का विसर्जन कर दिया गया।

राम के महल में तो मित्र व स्वजन वर्ग का ताँता लगा हुआ था, एक के बाद एक व्यक्ति राम से मिलने के लिए आ रहे थे।

भरत-वैराग्य

सम्पूर्ण नगर और राजभवन में चारों ओर आनन्द छाया हुआ था। किसी के मुख पर किसी प्रकार की उदासीनता नहीं थी। सभी आनन्द में झूम रहे थे। महाराजा भरत महल के झरोखे में बैठकर अनन्त आकाश को देख रहे थे। वे चिन्तनमग्न थे। उनकी चिन्तन-धारा अनोखी ही थी। संसार के क्षणिक संयोग-वियोगों में उन्हें आनन्द नहीं आ रहा था। वे तो उस आनन्द से भी निर्लिप्त थे और आत्मा के अनन्त आनन्द की खोज में डूबे से प्रतीत हो रहे थे। उनका मन संसार के बन्धनों से मुक्त बनने के लिए तड़प रहा था। उन्हें महल भी जेल सा प्रतीत हो रहा था। `जल बिन मछली' की भाँति उन्हें संयम-प्राप्ति के लिए तड़फन थी।

वे कभी संसार की अनित्यता का विचार कर विरक्त बनते...तो कभी आत्मा की शाश्वतता का विचार कर निर्भय बनते । कभी वे वस्तु के पर्याय के चिन्तन में डूब जाते तो कभी द्रव्य की नित्यता के चिन्तन में ।

उनके दिल में भौतिक राज्य की कोई चाहना नहीं थी, उन्हें तो भूख थी...आत्मा के शाश्वत साम्राज्य को पाने की...और इसीलिए उनका प्रयत्न और पुरुषार्थ था-संयम की प्राप्ति के लिए । वे इस सत्य को अच्छी तरह से जानते थे कि `आत्मा जब तक क्षणिक पदार्थों का मोह नहीं छोड़ेगी, तब तक वह अपनी शाश्वतता नहीं पा सकेगी ।'

कैकेयी भरत के विरक्त जीवन से पूर्ण परिचित थी । राम के वनवास-गमन का उसके दिल में अत्यन्त दुःख था, क्योंकि वह भी एक सुशील सन्नारी थी । एकमात्र पुत्रमोह के वशीभूत होकर ही उसने भरत के लिए राज्य की याचना की थी । उसने राम के वनवास की माँग नहीं की थी...फिर भी राम के वनवास में वह निमित्त तो बन चुकी थी । उसने अब निर्णय ले लिया था कि अब वह विरक्त भरत के दीक्षा-मार्ग में बाधक नहीं बनेगी ।

एक बार संध्या समय रामचन्द्रजी अपने खण्ड में एकाकी बैठे हुए थे...भरत ने राम के खण्ड में प्रवेश किया । राम के चरणों में प्रणाम कर वह नीचे बैठ गया । राम ने कहा-``भरत ! कुशल हो न ?''

भरत ने कहा-**``आप किसकी कुशलता चाहते हैं ? भरत के देह की या भरत की आत्मा की ? बन्धु ! इस विराट् संसार में आत्मा की कुशलता कहाँ है ? वह तो अविरत गति से एक भव से दूसरे भव में परिभ्रमण कर रही है । आत्मा की क्षेमकुशलता इस संसार में नहीं है, जो स्वयं क्षणिक है, नश्वर है, वह हमें शरणागति कैसे दे सकता है ? आत्मा का क्षेम और आत्मा की कुशलता तो एकमात्र मोक्ष में है, जो अविनाशी और शाश्वत स्थल है, जहाँ पहुँचने के बाद न किसी प्रकार की समस्या है और न ही किसी प्रकार का झंझट ।''**

राम ने कहा-``भरत ! मैंने नहीं सोचा था कि तू मुझसे इस प्रकार तत्त्वज्ञान की बातें करेगा ?''

``बन्धु ! तत्त्वज्ञान के सिवाय इस जीवन में आनन्द ही कहाँ है ?''

``भरत ! आखिर तेरी इच्छा क्या है ?''

``बन्धु ! मुझे संसार के बन्धनों से मुक्ति चाहिए । आप इस राज्य को स्वीकार करो और मेरे संयम-मार्ग में सहायक बनो ।''

भरत के मुख से दीक्षा की बात सुनकर रामचन्द्रजी दिग्मूढ़ हो गये । उनके दिल में यह कल्पना भी नहीं थी कि भरत इस प्रकार दीक्षा के लिए जल्दबाजी करेगा ।

इसी बीच लक्ष्मण ने भी राम के खण्ड में प्रवेश किया ।

राम ने कहा-``भरत ! तुझे इस राज्य आदि से मोह नहीं है, परन्तु तू हमारे खातिर भी संसार में रह जा । तू यदि हमें छोड़कर चला जायेगा, तो हम तेरे विरह को कैसे सहन कर पायेंगे ?''

सीता आदि का प्रयास

जब सीता, विशल्या आदि को भरत की दीक्षा की भावना के समाचार मिले तो वे सब स्त्रियाँ एक साथ मिलकर भरत के पास आईं और भरत को किसी भी प्रकार से संसार में रहने के लिए आग्रह करने लगीं ।

विशल्या ने भरत को जलक्रीड़ा के लिए सरोवर में उतार दिया, परन्तु विरक्त भरत का मन जलक्रीड़ा से भी रंजित नहीं हुआ ।

भरत अनासक्त योगी थे, वर्षों तक उन्होंने राज्य की धुरा को वहन किया था, फिर भी वे जल में रहे कमल की भाँति अत्यन्त निर्लिप्त थे ।

इसी बीच श्रीराम का प्रिय हस्ती `भुवनालंकार' आलान स्तम्भ तोड़कर नगर में अत्यन्त उपद्रव मचाने लगा । अनेक पुरुषों ने हाथी को वश में करने के प्रयत्न किये, परन्तु सब निष्फल गये ।

इस समय भरतजी ने नगर बाहर भाग कर आ रहे `भुवनालंकार' हाथी को देखा...हाथी ने भरत की ओर देखा और एक आश्चर्य हो गया ।

वह हाथी जो नगर में तबाही मचा रहा था...भरत को देखते ही एकदम शान्त हो गया ।

सबके दिल में यह प्रश्न खड़ा हो गया कि भरत को देखते ही यह हाथी शान्त कैसे हो गया ?

प्रश्न और समाधान

इसी बीच उद्यानपाल ने आकर रामचन्द्रजी को समाचार दिये- ``देशभूषण और कुलभूषण नामक केवलज्ञानी महामुनियों का उद्यान में आगमन हुआ है ।''

समाचार सुनकर राम के मुख पर प्रसन्नता छा गई । सोचा `भुवनालंकार' के शान्त होने का रहस्य भी मिल जायेगा ।

जब कैकेयी ने केवली मुनियों के आगमन की बात सुनी तो उसने सोचा, ``अब भरत संसार में नहीं रहेगा । यदि भरत संसार का त्याग कर देता है तो क्यों न मैं भी संसार का त्याग कर अपनी आत्मा का कल्याण करूँ ?''

माँ कैकेयी ने अपने हृदय की विराट् भावना अपने पुत्र भरत के सामने प्रस्तुत की । किसी के दिल में यह आशा या सन्देह नहीं था कि भरत के साथ कैकेयी भी प्रव्रज्या-मार्ग का अनुसरण कर लेगी ।

प्रातःकाल होते ही रामचन्द्रजी अपने विशाल परिवार के साथ नगर बाहर उद्यान में पहुँचे । उन्होंने केवली भगवन्त को प्रणाम किया । भगवन्त ने धर्मदेशना दी । अन्त में रामचन्द्रजी ने ``भुवनालंकार'' हाथी के उपशान्त होने का रहस्य पूछा ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी देशभूषण महामुनि ने अपने ज्ञान से भरत और भुवनालंकार हाथी के बीच जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्धों को प्रत्यक्ष देखा और सबके बोध के लिए भरत और भुवनांलकार के जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्धों की घटना भी कह सुनायी ।

केवली भगवन्त के मुख से अपने जन्म-जन्मान्तरों की घटनाओं को सुनकर भरत के दिल में वैराग्य की ज्योति और अधिक प्रज्वलित हो उठी । भरत ने केवली भगवन्त के समक्ष दीक्षा की भावना व्यक्त की ।

रामचन्द्रजी ने केवली भगवन्त को भरत के दीक्षा महोत्सव पर्यन्त यहीं स्थिरता करने की आग्रह भरी विनती की ।

केवली भगवन्त ने राम की विनती स्वीकार की ।

राजभवन में आकर भरत अपराजिता (कौशल्या) के चरणों में पहुँचा, माँ के चरणों में प्रणाम कर भरत ने दीक्षा के लिए शुभाशिष की प्रार्थना की ।

गद्‌गद हृदय से अपराजिता ने भरत को दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की । सुमित्रा व सुरभा से भी अनुमति प्राप्त कर भरत अपनी माँ के पास पहुँचा ।

माँ ने कहा-``बेटा ! मैं भी तेरे साथ चारित्र के पथ पर जाना चाहती हूँ ।''

भरत ने अपनी माँ की इस उत्तम भावना का हार्दिक स्वागत किया ।

थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण राजभवन में कैकेयी की दीक्षा की बात फैल गई । कैकेयी के अचानक निर्णय से सभी को आश्चर्य भी हुआ ।

परमात्म-मन्दिर में भव्य अष्टाह्निका-महोत्सव का आयोजन किया गया और अन्त में भरत की दीक्षा का वरघोड़ा निकाला गया । भरत की दीक्षा को सुनकर अन्य अनेक राजा-राजकुमार भी दीक्षा के लिए लालायित हो उठे और शुभ दिन और शुभवेला में भरत ने संसार के समस्त बन्धनों का त्याग कर चारित्र स्वीकार कर लिया । अब भरत मुनि बन गये और कैकेयी साध्वी ।

कुछ समय बाद भरत मुनि ने अपने गुरुदेव के साथ वहाँ से विहार किया । राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तथा समस्त प्रजाजन ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से भरत मुनि को विदाई दी ।

ईर्ष्या की आग

ईर्ष्या एक भयंकर आग है, जिस आग से व्यक्ति भीतर ही भीतर जलता रहता है ।

परन्तु हाँ ! कुछ मनुष्यों की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है कि उन्हें दूसरे का दिल जलाने में ही आनन्द आता है । किसी की झोंपड़ी को जलती हुई देखकर उन्हें चैन से नींद आती है । ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे के उत्कर्ष को कभी सहन नहीं कर सकता है, वह किसी भी प्रकार से...यहाँ तक कि अपना कुछ नुकसान करके भी...दूसरे के नुकसान में ही बड़ा आनन्द पाता है ।

सीता के सिवाय रामचन्द्रजी के तीन अन्य पत्नियाँ थीं-श्रीदामा, प्रभावती और रतिप्रभा ।

अन्य पत्नियों की अपेक्षा राम के हृदय में सीता के प्रति विशेष प्रीति थी और सीता के हृदय में भी रामचन्द्रजी की छवि वैसी ही अंकित थी ।

ईर्ष्या स्त्रियों में जन्मजात दुर्गुण है । ईर्ष्या, अगम्भीरता आदि दुर्गुण स्त्रियों में स्वाभाविक होते हैं ।

रामपत्नी श्रीदामा आदि के हृदय में सीता के प्रति ईर्ष्या की आग प्रकट हो गई । सीता के सुख-वैभव के प्रति उनके दिल में ईर्ष्या होने लगी ।

एक बार सीताजी ने रात्रि में एक स्वप्न देखा कि दो अष्टापद, विमान में से च्यवकर उनके मुख में प्रवेश कर रहे हैं ।

सीता ने अपना यह स्वप्न रामचन्द्रजी को कहा ।

राम ने कहा-``प्रिये ! तू दो वीरपुत्रों की माता बनेगी । परन्तु अष्टापद का आगमन मेरे मन को शंकित करता है ।''

सीता ने कहा-``धर्म व पुण्य के प्रभाव से सब अच्छा होगा ।''

सीता गर्भवती बनी । गर्भ के चिह्न उसकी देह पर प्रकट होने लगे, वह अत्यन्त ही कुशलतापूर्वक गर्भ का पालन करने लगी । उसके दिल में भी आनन्द था, क्योंकि वह अब माँ बनने वाली थी ।

षड्यन्त्र

सीता के सुख-वैभव के प्रति ईर्ष्यालु बनी श्रीदामा आदि परस्पर विचार-विमर्श करने लगीं-``किस प्रकार स्वामी का दिल सीता के प्रति कम हो और उनका आकर्षण हमारे प्रति बढ़े ।'' इस हेतु वे सीता के छिद्र देखने लगी परन्तु पवित्र सीता के जीवन में उन्हें कोई छिद्र हाथ नहीं लगा ।

ईर्ष्या की आग जब मन में अत्यधिक प्रज्वलित हो उठती है, तब वह किसी-न-किसी रूप में बाहर प्रकट हुए बिना नहीं रहती ।

श्रीदामा, रतिप्रभा और प्रभावती तीनों मिलकर सीता के विरुद्ध योजना बनाने लगीं । श्रीदामा को एक उपाय हाथ लग गया । उसने रतिप्रभा व प्रभावती को कहा-``चलो, मुझे एक उपाय हाथ लग गया है...अपन सीता के महल में चलें, यदि मेरी योजना सफल हो गई तो हम सीता को बेहाल करने में सफल हो जायेंगी ।''

श्रीदामा आदि तीनों सखियाँ सीता के महल में पहुँची । सीता ने उनका अभिवादन और स्वागत किया । सीता के दिल में तनिक भी सन्देह नहीं था कि ये सखियाँ उसके विनाश का षड्यंत्र रचने के लिए यहाँ आई हैं ।

पवित्र सती सन्नारी का हृदय सदैव स्वच्छ होता है, उसके दिल में किसी प्रकार की कुटिलता नहीं होती है, परन्तु कई बार उसकी सरलता का अनुचित लाभ उठाया जाता है ।

श्रीदामा ने कहा-``महादेवी ! आप भी कुशल हो न ?''

सीता ने कहा-``धर्म और स्वामी के प्रसाद से मुझे भी सब प्रकार से कुशलता है ।''

श्रीदामा ने कहा-``महादेवी ! आपको तो वन में कितने कष्ट सहन करने पड़े । रावण ने आपका अपहरण कर लिया और वह आपको लंका ले गया । सुना है रावण का कोई अद्‌भुत रूप था, क्या आपने उसे देखा है ?''

सीता ने कहा-``श्रीदामा ! मैं उस पापी के मुख को देखना नहीं चाहती थी, वह देवरमण उद्यान में बहुत बार आता था, मैंने उसके रूप को कभी नहीं देखा...किन्तु हाँ, मेरी नजर नीची होने से मैंने उसके पैरों को जरूर देखा ।''

श्रीदामा ने कहा-``ओह ! तो उसके पैर तो आपने देखे हैं ? वे कैसे थे...हमें भी उत्कण्ठा है-जरा उनका चित्र बनाकर बताओगी ?''

सीता ने कहा-``इसमें क्या देखना है ?''

``नहीं । नहीं । हमें कुछ जिज्ञासा है ।'' श्रीदामा ने कहा ।

सीता का कोमल हृदय श्रीदामा की इच्छा को नहीं टाल सका, उसने तुरन्त एक फलक पर रावण के पैरों का चित्र बना दिया ।

श्रीदामा ने बात ही बात में वह चित्र ग्रहण कर लिया और थोड़ी-सी औपचारिक बात कर वहाँ से निकल गई । रतिप्रभा और प्रभावती ने उसका अनुसरण किया । तीनों सखियाँ पुनः श्रीदामा के महल में इकट्ठी हुईं । श्रीदामा ने कहा-``अब मेरी योजना जरूर साकार बन जायेगी ।''

तीनों सखियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, तभी श्री रामचन्द्रजी का वहाँ आगमन हुआ । तीनों स्त्रियाँ अपने आसन से खड़ी हो गईं और उन्होंने रामचन्द्रजी का हार्दिक स्वागत किया । श्रीदामा ने स्वामी के बैठने के लिए आसन बिछा दिया ।

सामान्य औपचारिक वार्तालाप के बाद श्रीदामा ने कहा-``स्वामिन् ! आप हमारी बात मानोगे ?''

``क्यों नहीं ? कहो, क्या बात है'' राम ने जवाब दिया ।

``स्वामिन् ! हमारे हृदय में आपके प्रति अपार स्नेह है, इसीलिए तो आपका अहित न हो जाय वह बात कहना चाहती हूँ'' श्रीदामा ने कहा ।

राम ने कहा-``तुम मुझे हृदय से चाहती हो...तो मेरे हृदय में भी तुम्हारे प्रति वैसा ही प्रेम है, जो बात हो, दिल खोलकर कहो ।''

श्रीदामा ने सोचा-``-अब अपनी बात का निशाना करने जैसा है, स्वामी अनुकूल हैं ।''

उसने कहा-``स्वामिन् ! यह देखो...'' श्रीदामा ने रावण के पैर के चित्र को दिखलाते हुए कहा-``जिस सीता के प्रति आपके हृदय में अपार स्नेह है...वह जानकी निरन्तर रावण के पैर का ध्यान कर रही है, यह देखो...यह चित्र उसी ने बनाया है ।'' रामचन्द्रजी ने चित्र देखा, कुछ समय के लिए वे मौन हो गये ।

श्रीदामा ने कहा-``स्वामिन् ! हमारी बात की ओर कोई ध्यान दोगे ?''

``तुम्हारी बात पर भी अवश्य विचार करूंगा'', कहकर राम ने अपनी पत्नियों का भवन छोड़ दिया ।

राम सीता के भवन में पहुँचे । सीता ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक रामचन्द्रजी का स्वागत किया । राम ने श्रीदामा की कोई बात सीता को नहीं कही ।

सीता ने कहा-``स्वामिन् ! मुझे देवाधिदेव परमात्मा की पूजा का दोहद हो रहा है, उसे आप पूर्ण करोगे ?''

राम ने कहा-``अवश्य ।''

तत्काल रामचन्द्रजी ने देवाधिदेव परमात्मा की पूजन सामग्री तैयार करा दी और सीता ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक परमात्मा की पूजा की ।

पूजा से निवृत्त होकर सीता राम के पास आई, तभी उसका दाहिना नेत्र स्फुरायमान होने लगा, उसने अपने स्वामी को यह बात कही ।

राम ने कहा-``यह अच्छा नहीं है ।''

सीता ने कहा-``क्या अभी भी दुर्भाग्य पीछा नहीं छोड़ रहा है ?''

``प्रिये ! हताश न हो । स्वकृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा कहाँ है ?''

राम की अन्य पत्नियों में वह दीर्घदर्शिता कहाँ थी ? यदि हम सीता पर आरोप लगायेंगी तो सीता की कैसी भयंकर दुर्दशा हो जायेगी ? स्वार्थ में अन्ध बनी श्रीदामा आदि ने रावण के पैरों की बात अन्य सखियों को कही और धीरे-धीरे यह बात समस्त नगर में फैल गई । सीता लंका में इतने दिनों तक रही है । परस्त्री लम्पट रावण सीता को कैसे छोड़ सकता था ?

धीरे-धीरे यह बात नगर में चारों ओर फैलने लगी ।

विजय सेठ के घर पर सभी श्रेष्ठिजन इकट्ठे हुए । उन्होंने भी सीता के विषय में फैल रही बातों को सुना । उन्होंने विचार-विमर्श किया और अन्त में वे महाराजा रामचन्द्रजी के पास पहुँचे । सभी ने महाराजा के चरणों में प्रणाम किया ।

राम ने कहा-``कुशल हो न ?''

``आपकी कृपा से'' सभी ने एक स्वर में कहा ।

``आपके आगमन का विशेष प्रयोजन ?''

विजय सेठ ने कहा-``स्वामिन् ! यहाँ आगमन का एक विशेष कारण यह है कि हमारे दिल में तो सीताजी के शील के विषय में कोई सन्देह नहीं है, परन्तु लोक में-नगर में चारों ओर सीता के असतीत्व के सन्दर्भ की बातें चल रही हैं । जहाँ भी जाओ, यही बात सुनने को मिलती है-``रावण ने सीता का अपहरण किया । इसका एक ही कारण था कि वह उससे रमण करना चाहता था । रावण परस्त्री-लम्पट तो था ही, अतः सीताजी लंका में इतने दिनों तक रही तो क्या रावण ने उन पर बलात्कार नहीं किया होगा ? अवश्य किया होगा । भोग में आसक्त रावण सीता के शील को अखण्डित कैसे रख सकता था !''

``स्वामिन् ! हमने यह चर्चा नगर में चारों ओर सुनी है, अतः इस बात का आपको संकेत करना हमारा फर्ज है, इसीलिए हम आपके पास आये हैं ।''

राम ने कहा-``हे नगर-महत्तरो ! आपने जो बातें कही हैं, मैं उनकी उपेक्षा नहीं करूंगा । क्या एक स्त्री के खातिर मैं अपयश स्वीकार कर लूंगा ?''

राम ने नगर-महत्तरों को विदाई दी । नगर-महत्तर चले गये । राम के मुख पर उदासीनता छा गई ।

वे विचारों में डूब गये, ``क्या सीता के लिए जो अपवाद नगर में फैल रहा है, सत्य हो सकता है ? मुझे उसकी परीक्षा करनी चाहिए ।''

राम ने छद्म वेष धारण किया और रात्रि के प्रथम प्रहर में वे राजमहल छोड़कर नगरवासियों के बीच आ गये । सबसे अज्ञात बनकर नगरचर्चा का श्रवण करने लगे ।

उनके कानों में सीता सम्बन्धी वार्तालाप सुनाई देने लगा । वे ध्यान

से सुनने लगे । एक स्त्री अन्य स्त्री को कह रही थी-``रावण सीता को लंका में ले गया-उसे उसने लंका में रखी, तो क्या उसने सीता का भोग नहीं किया होगा ? क्या रावण सीता को पाकर उसे छोड़ सकता था ? नहीं । नहीं । यह असम्भव बात है-फिर भी राम उसे अपने महल में ले आये । सचमुच रागी व्यक्ति दोष नहीं देख सकता है ।''

राम का निर्णय

लोकजिह्वा से जब रामचन्द्रजी ने सीता के असतीत्व की बात सुनी तो उनका हृदय वेदना से भर आया । वे सीधे राजभवन में आये ।

राम सोचने लगे-``अब मैं क्या करूँ ? जिस सीता के लिए मैंने राक्षसकुल का ध्वंस किया...उस सीता की लोक में निन्दा हो रही है...मैं जानता हूँ सीता महासती है...और रावण स्त्रीलोलुपी था...और मेरा कुल निष्कलंक है...अब मैं क्या करूँ ?''

विजयसेठ आदि नगर-महत्तरों के आगमन के समाचार लक्ष्मणजी को मिल चुके थे । वे तो समाचार सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और सीधे ही राम के खण्ड में आ पहुँचे ।

इसी बीच राम के द्वारा नगर में भेजे हुए गुप्तचर भी आ पहुँचे । उन्होंने भी सीता के सन्दर्भ में वे ही बातें कहीं, जो राम अपने कानों से सुनकर आये थे ।

गुप्तचरों की बात सुनकर लक्ष्मणजी कोपायमान होकर बोले-``देवी सीता महासती है, जो इस महासती के लिए हल्के शब्दों का भी प्रयोग करेगा, उसके लिए तो मैं यमराज हूँ ।''

लक्ष्मणजी को शान्त करते हुए राम ने कहा-``लक्ष्मण ! धैर्य रखो । आगे भी नगर-महत्तर आ चुके हैं...और उन्होंने भी यही बात कही है...उसके बाद मैंने भी सीता के लोकापवाद को सुना है ।''

लक्ष्मणजी ने कहा-**``बन्धुवर्य ! किन्तु लोक की बात पर ध्यान देकर आप सीता का त्याग मत करो । लोक तो हमेशा राज-परिवार को कलंकित करने का ही प्रयास करता है, अतः उसकी उपेक्षा करना ही उचित है ।''**

राम ने कहा-``तेरी बात सत्य है, किन्तु यशस्वी व्यक्ति को लोक-विरुद्ध सभी कार्यों का त्याग करना चाहिए । अतः तू मेरे मार्ग में बाधक मत बन ।''

इस प्रकार लक्ष्मण को चुप कर रामचन्द्रजी ने कृतान्तवदन सेनापति को बुलवाया । कुछ ही देर में कृतान्तवदन वहाँ उपस्थित हो गया ।

कृतान्तवदन ने राम के चरणों में प्रणाम किया ।

राम ने कहा-``कृतान्तवदन ! किसी भयंकर जंगल में सीता को छोड़ आओ ।''

राम के चरणों में गिरकर लक्ष्मण ने कहा-``हे अग्रज ! सीताजी अभी गर्भवती हैं, इस समय महासती का त्याग करना उचित नहीं है ।''

राम ने कहा-``लक्ष्मण ! अब तुझे एक शब्द भी बोलने की जरूरत नहीं है ।''

लक्ष्मणजी खिन्न हो गये और अत्यन्त उदास होकर राम के खण्ड़ को छोड़कर चले गये ।

राम ने सेनापति को कहा-``कृतान्तवदन ! सीता को सम्मेतशिखर यात्रा का दोहद है, अतः रथ तैयार कर दो और इस बहाने सीता को भीषण वन में छोड़कर आ जाओ ।''

आज सीता के कर्म रूठ गये थे । गत जन्मों में उपार्जित तीव्र अशुभ कर्म का उसके उदय हो आया था इसलिए रामचन्द्रजी भी सीता के त्याग के लिए तैयार हो गये । हालांकि उनके हृदय में सीता के प्रति अपार स्नेह था...परन्तु लोकापवाद के भय से वे सीता के त्याग के लिए तैयार हो चुके थे ।

भीषण वन की ओर

सीताजी अपने खण्ड में बैठी हुई थीं । उनके हृदय में भावी अनर्थ की कोई कल्पना भी नहीं थी ।

कृतान्तवदन ने सीता के खण्ड में प्रवेश किया । वह बोला, ``देवी ! स्वामी की आज्ञा है कि आज आपके `सम्मेतशिखरजी' की यात्रा के दोहद को पूर्ण किया जाय । देवी ! रथ तैयार है, आप पधारें ।''

सम्मेतशिखरजी की बात सुनकर सीताजी रोमांचित हो उठीं । वे तत्क्षण तैयार हो गईं और राजभवन की सोपान पंक्तियों से नीचे उतरने लगीं ।

नीचे उतरते समय उन्हें कुछ अपशकुन भी हुए...परन्तु सीता ने उनकी कोई परवाह नहीं की ।

सीता राजभवन से बाहर आ गई । रथ तैयार खड़ा था । सीता रथ में आरूढ़ हो गई ।

सीता निःशंक थी, अतः उसने अपने स्वामी के आगमन की बात भी नहीं पूछी ।

और कुछ ही क्षणों में तो रथ को हाँक दिया गया । पवनगति से वह रथ आकाश में उड़ने लगा और अयोध्या के राजमार्गों को पार कर भीषण जंगलों के भीषण मार्गों के बीच आ गया । गंगा पार कर वह रथ `सिंहनिनाद' नामक भीषण वन में आ पहुँचा ।

'सिंहनिनाद' नाम के अनुरूप ही वह भीषण वन था । चारों ओर जंगली प्राणियों की गर्जनाएँ सुनाई दे रही थीं । कृतान्तवदन ने रथ रोक दिया ।

सीता ने पूछा-``सेनापति ! रथ क्यों रोक दिया है ?''

आँखों से अश्रु बहाते हुए कृतान्तवदन ने कहा-``देवी ! क्या कहूँ ? आपका नहीं मेरा भाग्य रूठ गया है, जिस कारण मुझे यह अकार्य करना पड़ रहा है ।''

``सेनापति ! मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा है ? तुम क्या कहना चाहते हो ? स्पष्ट बात करो । क्या स्वामी नहीं पधार रहे हैं ?''

सेनापति ने कहा-**``अपयश के भय से श्री रामचन्द्रजी ने आपका त्याग कर दिया है । सम्पूर्ण नगर में आपके सतीत्व के विषय में अपवाद फैला हुआ सुनकर रामचन्द्रजी ने मुझे आपको भीषण वन में छोड़ने का आदेश फरमाया है ।''** कहते-कहते कृतान्तवदन का कठोर हृदय भी रो पड़ा ।

कृतान्तवदन के मुख से यह सुनकर सीताजी मूर्च्छित हो गईं, वे धरती पर ढल पड़ीं ।

सीता को मूर्च्छित देख कृतान्तवदन भी घबरा गया । ``हाय ! मैं कितना पापी ! मुझे यह कैसा अधम कार्य करना पड़ रहा है ?''

वन की शीतल लहरों से पुनः चेतना को प्राप्त हुई सीता ने कहा-``यहाँ से अयोध्या कितनी दूर है ? श्रीराम कहाँ हैं ?''

कृतान्तवदन ने कहा-``इस बात को आप जाने दें, क्योंकि उग्र आज्ञा करने वाले राम ने आपका त्याग कर दिया है ।''

सीताजी पुनः मूर्च्छित हो गईं । थोड़ी देर बाद सीताजी पुनः होश में आईं ।

कृतान्तवदन ने अयोध्या-प्रयाण के लिए अनुमति मांगी ।

कृतान्तवदन सेनापति ने सीता को **'सिंहनिनाद'** नामक भयंकर वन में छोड़ दिया । तब सीता ने कृतान्तवदन से कहा-``हे सेनापति ! तू जाकर आर्यपुत्र को समाचार देना कि आपने अपयश के भय से मेरा त्याग कर दिया । यदि आपको मेरे शील में शंका थी तो आपको दिव्य आदि के द्वारा मेरी परीक्षा करनी चाहिए थी । खैर ! हे स्वामिन् ! मैं तो मन्दभाग्या हूँ, अब दुष्कर्म के अनुरूप समस्त दुःखों को सहन कर लूंगी, परन्तु आपने यह बिना विचार किये कार्य किया है ।

हे स्वामिन् ! आपने खल-पुरुषों की बात को सुनकर मेरा त्याग कर दिया सो कोई बात नहीं परन्तु मिथ्यादृष्टियों की बात को सुनकर जिनधर्म का त्याग मत कर देना ।''

सीता के इस सन्देश में हमें उसकी निर्भयता, पतिव्रताधर्म और परमात्म-भक्ति के दर्शन होते हैं ।

रामचन्द्रजी ने सीता के शील की परीक्षा के लिए कोई दिव्य आदि नहीं कराया और सीता का त्याग कर दिया, फिर भी सीता के हृदय में अपने स्वामी के प्रति कोई द्वेष अथवा रोष की भावना नहीं । उसके हृदय में कर्मफल के प्रति पूर्ण श्रद्धा और विश्वास था । **``मेरे ही दुष्कर्म का उदय है कि मुझे यह कष्ट सहन करना पड़ रहा है, दुःख में अन्य जीवात्माएँ तो निमित्त मात्र हैं, मुख्य कारण तो स्वकृत दुष्कर्म ही हैं ।''** जिनधर्म के प्रति सीता के हृदय में दृढ़ श्रद्धा थी । उसने अपने सन्देश में यही कहा कि-``हे स्वामिन् ! लोकनिन्दा के भय से जैसे आपने मेरा त्याग कर दिया वैसे जिनेश्वरदेव के धर्म का त्याग मत करना । मेरे त्याग में तो आपको विशेष कोई क्षति नहीं होगी, परन्तु यदि आपने लोकप्रवाह में आकर जिनधर्म का त्याग कर दिया तो आत्मा का अनर्थ हो जाएगा ।''

अपने स्वामी को यह सन्देश कहलाकर सीताजी पुनः मूर्च्छित हो गईं और होश में आने पर पुनः कहने लगी-``मेरे बिना स्वामी कैसे जी पायेंगे ?''

राम ने सीता का त्याग कर दिया, किन्तु सीता जानती है कि ``स्वामी के हृदय में मेरे प्रति कितना गाढ़ प्रेम है ? लोकापवाद से जल्दबाजी में उन्होंने मेरा त्याग कर दिया, परन्तु जब सत्य का पता चलेगा, तब उनके हृदय को कितना आघात लगेगा ?''

अपने स्वामी के दु:ख की कल्पना से सीताजी अत्यन्त दु:खी हो गईं। अन्तिम सन्देश के रूप में कहने लगीं-``हे सेनापते ! स्वामी का कल्याण हो, लक्ष्मण को आशिष देना। ``शिवास्ते सन्तु पन्थान:'' तेरा मार्ग निष्कण्टक बने।''

कृतान्तवदन ने सीता के चरणों में प्रणाम किया, उसकी आँखें अश्रुसिक्त हो गईं और उसने दु:खी हृदय से विदा ली।

सीता का संरक्षण

जब व्यक्ति के पाप का उदय आता है, तब उसके स्वजन भी परजन बन जाते हैं और जब व्यक्ति के पुण्य का उदय होता है, तब अज्ञात व्यक्ति भी मित्र बन जाता है। सीता के दुष्कर्म का उदय आया तो रामचन्द्रजी ने भी उसका त्याग कर दिया।

भीषण वन में एकाकी सीता मन्दगति से आगे बढ़ने लगी। उसके मन में कभी भय तो कभी शोक की तरंगें उछलने लगीं। धीरे-धीरे वह आगे बढ़ रही थी। उसे अपने जीवन से भी अपने शील की अधिक चिन्ता थी। शील के संरक्षण के लिए उसे मरना स्वीकार था, किन्तु जीवन के रक्षण के लिए शील का विक्रय पसन्द नहीं था।

थोड़ी ही दूर पर उसने सैनिकों का एक पड़ाव देखा। वह भयभीत हो गयी। शायद कोई मेरे शील को भंग करने का प्रयास न कर दे। नमस्कार महामंत्र का स्मरण कर वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गई।

कुछ सैनिकों ने सीता के अद्‌भुत रूप को देखा और उन्होंने जाकर अपने स्वामी `वज्रजंघ' को सूचना दी।

`वज्रजंघ' पुंडरीकपुर का अधिपति था। वह न्यायप्रिय, प्रजापालक और परनारी-सहोदर था। समाचार मिलते ही `वज्रजंघ' सीता की ओर चल पड़ा। उसने दूर से ही सीता के दिव्य रूप और अपूर्व तेज के दर्शन किये। वह चौंक उठा-``अहो ! यह दिव्य रूपवती नारी कौन है ?''

वह सीता के निकट आया और बोला-``हे बहिन ! आप कौन हो ? इस भीषण जंगल में आप अकेली क्यों ? आप मुझ से तनिक भी भयभीत न बनें। मुझे अपना सगा भाई समझना। मैं आपकी पूर्ण रक्षा करूंगा।''

वज्रजंघ के मुख से निष्कपट और सहानुभूतिपूर्ण शब्दों को सुनकर सीता को कुछ आश्वासन मिला। उसने अपनी आप-बीती सुना दी।

सीता के मुख से दर्दभरी घटना के बारे में सुनकर वज्रजंघ ने कहा- ``आप मुझे अपना भाई भामण्डल समझना, आप मेरे साथ पुंडरीकपुर पधारें, आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा ।''

सीता ने `वज्रजंघ' के हृदय में भाई का स्नेह देखा और उसने पुंडरीकपुर चलने की सहमति दे दी ।

सीताजी वन से पुण्डरीकपुर पहुँच गयी ।

राम को पश्चाताप

कृतान्तवदन ने जाकर रामचन्द्रजी को सीताजी का सन्देश सुना दिया । सीता के सन्देश को सुनकर राम मूर्च्छित होकर धरती पर ढल पड़े । थोड़ी देर के बाद वे होश में आये...उनका हृदय घोर पश्चाताप की वेदना से भर आया । ``अहो ! मेरे हाथों एक गम्भीर भूल हो गई । उस महासती सीता के साथ मैंने घोर अन्याय कर दिया ।''

लक्ष्मणजी ने कहा-``बन्धुवर ! सीताजी अपने शील के प्रभाव से वन में अभी भी जीवित हो सकती हैं, अतः आप स्वयं उनकी जाँच करो ।''

लक्ष्मण की बात सुनकर रामचन्द्रजी सीता की खोज के लिए तैयार हो गये । कृतान्तवदन और अन्य विद्याधरों के साथ रामचन्द्रजी ``सिंहनि-नाद'' वन में आ पहुँचे । कृतान्तवदन ने वह स्थान बताया, जहाँ उसने सीता को छोड़ा था । रामचन्द्रजी ने चारों ओर देखा, परन्तु कहीं पर भी उन्हें सीता के दर्शन नहीं हुए, उनका हृदय शोकग्रस्त हो गया । अत्यन्त दुःखी हृदय से वे अयोध्या लौटे और उन्होंने सीता की उत्तरक्रिया की ।

लव-कुश की जोड़ी

महासती सीता गर्भवती थी । पुंडरीकपुर पहुँचने के बाद महाराजा वज्रजंघ की महारानी ने सीता का हार्दिक स्वागत किया । वज्रजंघ के मुख से सीता की दर्दभरी कहानी सुनकर उसका हृदय भी सहानुभूति से भर आया । उसने सीताजी को पूर्ण आश्वासन दिया ।

सीताजी अत्यन्त सावधानीपूर्वक गर्भ का रक्षण व पालन करने लगी । कुछ समय बाद उसने दो पुत्ररत्नों को जन्म दिया । दोनों पुत्र अत्यन्त ही तेजस्वी और भव्य आकृति वाले थे । पुत्रसन्तति को प्राप्त कर सीताजी भी प्रसन्न हुईं । अब उनके हृदय की व्यथा धीरे-धीरे कम होने लगी ।

कुछ दिनों के बाद दोनों पुत्रों का नामकरण किया गया । एक का नाम रखा गया अनंगलवण (लव) और दूसरे का नाम रखा गया मदनांकुश (कुश) । दोनों राजकुमारों का धूमधाम से जन्म-महोत्सव मनाया । धीरे-धीरे दोनों राजकुमार बड़े होने लगे ।

विद्या-ग्रहण

एक बार 'सिद्धार्थ' नामक विद्याधर सीता के पास भिक्षा के लिए आया । वह सिद्धार्थ सर्वकलाओं में निपुण था । सीता ने सिद्धार्थ का भोजन आदि से स्वागत किया । उसके बाद सीता ने कहा-``आप मेरे पुत्रों को कला-शिक्षा आदि प्रदान करें ।''

सीता के आग्रह से सिद्धार्थ ने बात स्वीकार कर ली और वह लव और कुश को विविध प्रकार की शिक्षाएँ प्रदान करने लगा । लव और कुश बुद्धिनिधान थे, अतः उन्हें विद्याग्रहण करने में देरी नहीं लगी और अल्प समय में ही वे समस्त कलाओं में निपुण हो गये ।

लव और कुश की बाल्यावस्था पूर्ण हो चुकी थी । उन्होंने यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर लिया था । उनका दिव्य रूप और तेजस्वी काया सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र बने हुए थे ।

वज्रजंघ के इकलौती पुत्री थी शशिचूला । उसने सोचा-``मेरी पुत्री के लिए 'लव' सुयोग्य वर होगा ।'' उसने अपना निर्णय सीताजी को बताया । सीताजी ने अपनी सहमति प्रदान की और शुभमुहूर्त देखकर शशिचूला के साथ लव का विवाह कर दिया गया ।

वज्रजंघ ने कुश के लिए सुयोग्य कन्या की शोध प्रारम्भ की और अन्त में पृथ्वीपुर के महाराजा पृथु की कन्या कनकमाला के साथ कुश का लग्न किया गया ।

धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा । लव और कुश के पराक्रम की यशोगाथाएँ चारों ओर फैलने लगी ।

एक बार नारदजी पृथु महाराजा के सामने लव-कुश के वंश का परिचय देने लगे । लव और कुश भी वहीं उपस्थित थे । वे भी अपने वंश के परिचय को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए लालायित हो उठे ।

नारदजी ने कहा-ये दोनों (लव और कुश) विश्वप्रसिद्ध रामचन्द्रजी के

सुपुत्र हैं, लक्ष्मणजी इनके चाचा हैं । राम और लक्ष्मण बलदेव और वासुदेव हैं, उनका पराक्रम अजोड़ है । जब ये बालक गर्भस्थ थे, तब राम ने लोकापवाद के भय से सीता का भयंकर वन में त्याग कर दिया था ।

नारदजी के मुख से इन वचनों को सुनकर कुश ने कहा-``देवर्षि ! माँ सीता को वन में भेजकर पिताजी ने उचित नहीं किया । लोकापवाद के निराकरण के बहुत से साधन थे...इस प्रकार माँ का त्याग कर देना उचित नहीं है ।''

लव ने कहा-``देवर्षि ! जहाँ रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी रहते हैं, वह अयोध्या यहाँ से कितनी दूर है ?''

नारदजी ने सोचकर कहा-``करीबन 160 योजन दूर है ।''

अयोध्या की ओर प्रयाण

लव और कुश के हृदय में अपने पिता रामचन्द्रजी आदि को देखने की तीव्र उत्कण्ठा थी । कुछ दिन तो उन्होंने आसपास के अनेक राजाओं से युद्ध कर अपने राज्य की सीमा बढ़ाई ।

लव के हृदय में अयोध्या-गमन की उत्सुकता दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी । इसके साथ ही माँ के साथ हुए अन्याय के प्रतिकार के लिए भी लव के हृदय में रोष बढ़ने लगा ।

एक बार अवसर पाकर लव-कुश वज्रजंघ को निवेदन करने लगे-``तातपाद ! अब हम अयोध्या जाना चाहते हैं । रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के दर्शन की अत्यन्त इच्छा है ।''

वज्रजंघ ने लव-कुश को अयोध्या-गमन की स्वीकृति प्रदान की ।

अब दोनों राजकुमार अपनी माँ सीता के पास आये और सीता से अयोध्या-प्रयाण के लिए निवेदन करने लगे ।

रुदन करती हुई सीता ने अपने पुत्रों को कहा-``तुम्हारे पिता और चाचा तो अत्यन्त पराक्रमी हैं, वे तो देवताओं के लिए भी दुर्जेय हैं । राक्षसपति रावण को भी उन्होंने यमलोक पहुँचा दिया है, अतः यदि पिता के दर्शन की इच्छा हो तो नम्र बनकर जाओ, युद्ध की बात छोड़ दो ।''

लव-कुश ने कहा-``माँ ! आप ऐसी बात मत करो । क्या हम पिता के पास इस प्रकार बात करें कि हम आपके पुत्र हैं ? इस प्रकार कहना तो उनके

लिए भी लज्जास्पद होगा । युद्ध में हमारे पराक्रम को देखने के बाद यदि हमारा परिचय होगा तो वह उन्हें भी आनन्ददायी बनेगा ।''

सीताजी लव-कुश को युद्ध हेतु जाने के लिए आनाकानी करने लगी । उनको भय था कि ``शायद लव-कुश युद्ध में मारे न जायें ?''

लव-कुश ने कहा-``माँ ! आप चिन्ता न करें, हमारे युद्ध के पराक्रम को आपने कहाँ देखा है ।''

महाराजा पृथु आदि के विराट् सैन्य के साथ लव और कुश ने अयोध्या की ओर प्रयाण कर दिया ।

भामण्डल को सत्य का घटस्फोट

एक बार नारदजी पृथ्वीतल पर भ्रमण करते हुए रथनूपुर नगर पहुँचे ।

भामण्डल ने देवर्षि को प्रणाम कर पूछा-``अभी आपने कोई आश्चर्य-कारी घटना देखी है ?''

नारदजी ने कहा-``हाँ ! सीतापुत्र लव और कुश ने युद्ध के लिए अयोध्या की ओर प्रयाण किया है ।''

``क्या कहा देवर्षि ! सीतापुत्र...क्या सीता जीवित है ?'' देवर्षि की बात सुनकर स्तब्ध होकर भामण्डल बोला ।

देवर्षि ने कहा-``हाँ ! रामपत्नी सीताजी अभी जीवित हैं, वे अभी पुण्डरीकपुर में वज्रजंघ महाराजा के पास हैं । वज्रजंघ ने सीताजी को बहिन के रूप में स्वीकार किया है । सीताजी के दो पुत्र हैं-लव और कुश । वे युद्ध में सर्वथा अजेय हैं ।''

भामण्डल के आश्चर्य का पार न रहा, वह तुरन्त विमान में आरूढ़ हुआ और पुण्डरीकपुर नगर की ओर चल पड़ा । थोड़ी ही देर में भामण्डल पुण्ड़रीकपुर पहुँच गया ।

महाराजा वज्रजंघ को प्रणाम कर वह सीधा सीता के महल में पहुँच गया ।

अचानक भामण्डल के आगमन को जानकर सीता हर्षित हो उठी, उसने अपने भाई का स्वागत किया ।

भामण्डल ने जब सीता की क्षेमकुशल देखी, तब उसके आनन्द की सीमा न रही । भामण्डल ने पूछा-``सीता ! लव-कुश कहाँ हैं ?''

``वे तो अयोध्या गये हैं ।'' सीता ने कहा ।

``क्यों ?''

``स्वामी व देवर से युद्ध करने के लिए ।''

``ओहो ! भयंकर अनर्थ हो जाएगा । पिता-पुत्र का युद्ध !! राम-लक्ष्मण तो अजेय हैं, भूल से यदि लक्ष्मण के हाथों मारे गये तो...?''

सीता ने कहा-``तब तो तुझे शीघ्र ही अयोध्या जाना होगा ।'' ``बहिन ! तुम भी साथ चलो ।'' भामण्डल बोला ।

भामण्डल के साथ सीता भी विमान में आरूढ़ हो गई और थोड़ी ही देर में वह विमान आकाशमार्ग को पार करता हुआ अयोध्या नगरी के बाहर आ पहुँचा, जहाँ लव और कुश ने अपनी सेना सहित पड़ाव डाला था ।

विमान से सीताजी बाहर आईं । सीता को देखते ही लव-कुश दौड़कर आये और माँ के चरणों में प्रणाम करने लगे । सीता ने भामण्डल की ओर इशारा करते हुए कहा-``ये तुम्हारे मामा हैं ।''

तुरन्त ही कुमारों ने भामण्डल के चरणों में प्रणाम किया और भामण्डल ने उन्हें स्नेहभरी आशिष दी ।

भामण्डल ने लव-कुश को युद्ध न करने के लिए समझाया, परन्तु लव-कुश ने भामण्डल की बात मानने से इन्कार कर दिया ।

चारों ओर लव-कुश के हजारों सैनिकों ने अयोध्या को घेर लिया ।

राम और लक्ष्मण को अयोध्या के घेराव के समाचार मिले, उनके आश्चर्य का पार न रहा । ``यह कौन शत्रु पैदा हुआ है जो हमारे पराक्रम का स्वाद चखना चाहता है ?''

ज्योंही गुप्तचरों ने नगर के घेराव की सूचना दी, त्योंही लक्ष्मणजी बोले-``ये लव-कुश कौन हैं, जो पतंगे बनकर आग में कूदना चाहते हैं ?''

रामचन्द्रजी ने कृतान्तवदन को युद्ध की भेरियाँ बजाने के लिए आदेश दे दिया । थोड़ी ही देर में राम-सैन्य सज्ज हो गया ।

सुग्रीव व विभीषण भी अयोध्या के मैदान में आ खड़े हुए । वे भी राम की ओर से लड़ने के लिए तैयार थे ।

लव ने रामचन्द्रजी को युद्ध के लिए ललकारा । रामचन्द्रजी युद्ध के लिए सज्ज ही थे ।

दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं । क्षणभर में युद्ध प्रारम्भ हो

11. महासती सुभद्रा
पृष्ठ नं. 224

12. महासती राजीमती पृष्ठ नं. 229

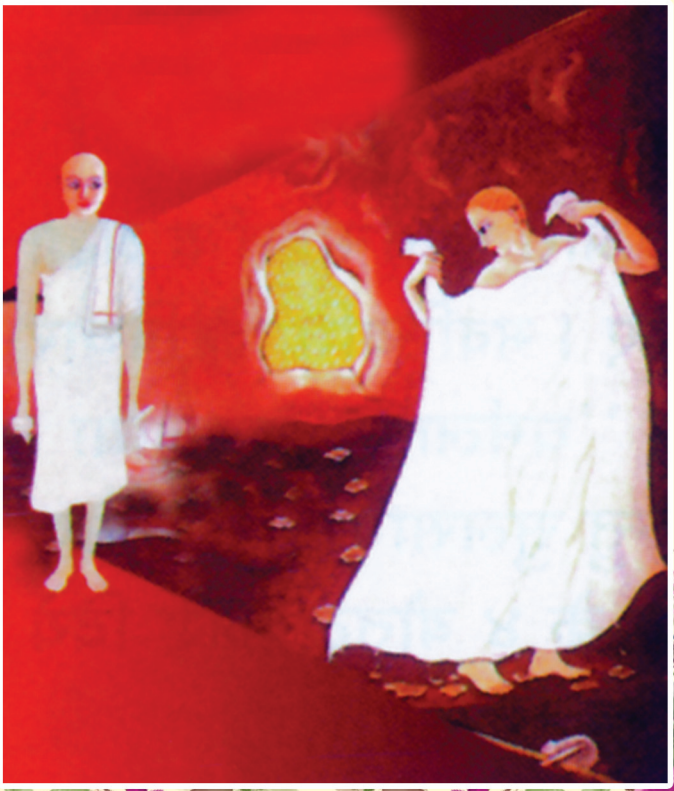

गया । बाणों की बौछार होने लगी । देखते ही देखते थोड़ी ही देर में युद्ध का वातावरण जम गया । दोनों सेनाएँ अत्यन्त पराक्रम से लड़ रही थीं ।

लव के पराक्रम ने राम-सैन्य को थका दिया । कुश के सामने लक्ष्मणजी थे । बाणों की वृष्टि कर कुश लक्ष्मणजी पर प्रहार करने लगा ।

राम अत्यन्त पराक्रम से युद्ध कर रहे थे, परन्तु उनका हृदय नहीं मान रहा था-उनके हृदय में स्नेह की ऊर्मियाँ उछल रही थीं । वे लव के मुख को देखकर विचार में डूब पड़ते, ``यह अत्यन्त सुकुमार कुमार कौन है ?''

कुश के प्रहार से लक्ष्मणजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े । विराध ने उन्हें रथ में डाला और रथ को अयोध्या की ओर हाँक दिया । थोड़ी ही देर बाद लक्ष्मणजी पुनः होश में आये । उन्होंने अत्यन्त क्रोधातुर होकर विराध को पूछा-``वह शत्रु कहाँ है ?''

विराध ने कहा-``वह तो युद्ध के मैदान में है, उसके प्रहार से आप मूर्च्छित हो गये थे, अतः आपको बचाने के लिए मैंने रथ को अयोध्या की ओर मोड़ा है ।''

लक्ष्मणजी ने कहा-``अरे विराध ! पुनः रथ को युद्धभूमि की ओर हाँक...अब मैं शत्रु को जीवित नहीं छोडूंगा...उसे मौत के घाट उतार करके ही रहूँगा ।'' और लक्ष्मणजी का रथ पुनः युद्धभूमि की ओर हाँक दिया गया ।

लक्ष्मणजी युद्धभूमि में आ गये और धनुष का टंकार करके बाण फेंकने लगे । परन्तु उनके अधिकांश बाणों को कुश बीच मार्ग में ही निष्फल बना देता था ।

अन्त में, लक्ष्मणजी ने चक्ररत्न का स्मरण किया और तत्क्षण `चक्र-रत्न' उनके दाहिने हाथ में आ गया...उन्होंने अत्यन्त तेजी से चक्र को घुमाया और वह चक्र कुश की ओर फेंका...परन्तु आश्चर्य !!! शत्रु का छेद करने के बजाय वह चक्र शत्रु की प्रदक्षिणा देकर पुनः लक्ष्मण के हाथ में आ गया ।

लक्ष्मणजी चिन्तित हो गये, उन्होंने दूसरी बार वह चक्र कुश की ओर फेंका...परन्तु चक्र की पुनः वही दशा हुई ।

लक्ष्मणजी निराश हो गये । रामचन्द्रजी की भी यही स्थिति थी । उनके भी देवता-अधिष्ठित शस्त्र कुछ भी काम नहीं कर रहे थे ।

वे भी विषादग्रस्त हो गये । तभी आकाशमार्ग से नारदजी आये और

राम-लक्ष्मण को बोले-``हर्ष के स्थान पर आप इतना विषाद क्यों कर रहे हैं ? आनन्द के स्थान पर आप इतना शोक क्यों कर रहे हैं ? हे वीर पुरुष ! पुत्रों से पराजय पाना तो अपने वंश को उज्ज्वल बनाता है । ये दोनों राजकुमार अन्य कोई नहीं, बल्कि सीता-पुत्र लव और कुश हैं । युद्ध के बहाने वे आपसे मिलने के लिए ही आये हैं ।''

``हे लक्ष्मण ! ये आपके शत्रु नहीं हैं । आपका `सुदर्शन चक्र' शत्रु को परास्त / नष्ट कर सकता है-स्वजन को नहीं ।''

लक्ष्मण ने कहा-``देवर्षि ! क्या महादेवी सीता जीवित हैं ?''

नारदजी ने कहा-``हाँ !'' और उन्होंने सीता के वनत्याग के बाद की सभी घटनाएँ क्रमशः राम-लक्ष्मणजी आदि को सुना दीं ।

राम-लक्ष्मण के आश्चर्य का पार नहीं रहा । समाचार सुनकर राम-चन्द्रजी मूर्च्छित हो गये ।

पुत्र-मिलन

ज्योंही लव और कुश ने देखा कि राम और लक्ष्मण युद्ध के मैदान में हार गये हैं, थक चुके हैं और नारदजी सब वृत्तान्त सुना रहे हैं...वे भी रथ से नीचे कूद पड़े और शस्त्र फेंककर पैदल ही राम-लक्ष्मण की ओर आगे बढ़े ।

दोनों कुमारों ने जाकर राम के चरणों में प्रणाम किया । उसके बाद लक्ष्मणजी को भी प्रणाम किया ।

राम ने लव-कुश का आलिंगन किया और अमाप स्नेह की वर्षा से उन्हें नहला दिया ।

दोनों सेनाओं के बीच युद्ध विराम हो चुका था । युद्धभूमि महोत्सव-भूमि के रूप में बदल चुकी थी ।

इधर भामण्डल सीता को विमान में बिठाकर पुनः पुण्डरीकपुर पहुँच गया । सीता ने अपने पुत्रों के अद्‌भुत पराक्रम को साक्षात् देख लिया था, उसके आश्चर्य का पार नहीं था ।

पुष्पक विमान में लव और कुश को बिठाकर उनका भव्य नगर प्रवेश कराया गया ।

अयोध्या की प्रजा ने जब यह सुना कि सीता जीवित है और लव और कुश उसी के पुत्र हैं, तब प्रजा के आश्चर्य का पार न रहा । प्रजाजन सोचने

लगे, ``सचमुच सीताजी महासती हैं, वह अपने सतीत्व के प्रभाव से ही भीषण वन में भी जीवित बच सकी हैं, यह उसके निर्मल शील का ही प्रभाव है ।''

दुनिया दुरंगी है, समय-समय पर वह अपना रंग बदलती रहती है । वह आज जिसकी निन्दा कर रही है, कल उसकी प्रशंसा भी कर सकती है । अभी जिस व्यक्ति की प्रशंसा कर रही है, कुछ समय बाद उसकी वह निन्दा भी कर सकती है ।

अयोध्या की प्रजा ने ही सीता के शील में सन्देह प्रकट किया था और उसी के कारण राम ने सीता का त्याग किया था, आज अयोध्या की वही प्रजा पुनः सीता के गुण-गान गा रही है, लव-कुश की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रही है ।

सीता को लाने के लिए आग्रह

लव और कुश जैसे शूरवीर पुत्रों को प्राप्त कर रामचन्द्रजी के हर्ष की कोई सीमा नहीं थी । लक्ष्मणजी भी लव-कुश को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

विभीषण और सुग्रीव आदि को जब सीताजी के बारे में पता चला तब वे इकट्ठे होकर लक्ष्मणजी के पास आये और बोले-``किसी भी तरह से अब वापस बड़े महोत्सव के साथ सीताजी का अयोध्या में प्रवेश होना चाहिए ।''

लक्ष्मणजी ने भी विभीषण की बात में सहमति प्रकट की । वे सब मिलकर रामचन्द्रजी के पास पहुँचे और राम के चरणों में प्रणाम कर लक्ष्मणजी बोले-``महादेवी सीता अभी पुण्डरीक पुर में हैं, वे अपने शील और सतीत्व के प्रभाव से ही बच सकी हैं । पति और पुत्रों के वियोग से संतप्त सीतादेवी को शीघ्र ही महोत्सवपूर्वक अयोध्या में लाना चाहिए ।''

सुग्रीव तथा विभीषण आदि ने भी लक्ष्मणजी की बात का अनुमोदन किया ।

अत्यन्त गम्भीर होकर राम ने कहा-``सीता को अब अयोध्या में कैसे लाया जाय ? प्रजा ने उसे कलंकित किया है परन्तु अभी तक उसका कलंक तो दूर नहीं हो पाया है ? मैं जानता हूँ कि सीता एक सती सन्नारी है, परन्तु उसको यहाँ लाने में लोकापवाद का अन्तराय है ।''

``लक्ष्मण ! सीता के प्रति मेरे हृदय में अपार स्नेह है, उसके बिना मेरा जीवन श्मशान की भाँति शून्य बन गया है । परन्तु सीता को अयोध्या में

लाने के पूर्व दिव्य आदि के द्वारा उसके शील की कसौटी कर लेना अनिवार्य है ।''

शील की कसौटी के सन्दर्भ में लक्ष्मणजी ने सहमति दे दी ।

सीता के शील की परीक्षा के लिए रामचन्द्रजी ने नगर बाहर विशाल मंच की व्यवस्था के लिए आदेश दिया ।

पुष्पक विमान में आरूढ़ होकर सुग्रीव पुण्डरीकपुर पहुँच गया ।

सीताजी से वार्तालाप

सुग्रीव ने सीता को प्रणाम किया और अयोध्या चलने के लिए आग्रह किया ।

सीता ने कहा-``अभी तो सिंहनिनाद वन की भयंकर वेदना भी शान्त नहीं हुई है, तो फिर मैं स्वामी के पास कैसे आऊँ ?''

``महादेवी ! आपका कथन सत्य है, किन्तु अब आपके दुःख का अन्त आ गया है । रामचन्द्रजी आदि तथा समस्त प्रजाजन अयोध्या के बाहर आकर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । आप `दिव्य' स्वीकार कर अयोध्या की प्रजा को अपने शील की विशुद्धि समझाओ ।''

``सुग्रीव ! यदि मेरे शील की परीक्षा के लिए दिव्य करना चाहते हो तो मैं आने के लिए तैयार हूँ ।''

सीताजी ने स्वीकृति दी, तत्काल सुग्रीव ने विमान तैयार कर दिया । सीताजी विमान में बैठी और शीघ्र ही विमान अयोध्या की ओर उड़ चला ।

थोड़ी देर में वह विमान अयोध्या के बाहर आ खड़ा हुआ । सीताजी विमान से बाहर आईं । प्रजाजनों ने सीता का जय-जयकार किया । लक्ष्मण ने सीता को प्रणाम किया और नगर-प्रवेश के लिए आग्रह किया ।

सीता ने कहा-``जब तक मेरा कलंक दूर न हो जाय, तब तक मैं नगर में प्रवेश नहीं करूंगी ।''

श्रीराम ने सीता को कहा-``हे वैदेही ! लंका-वास के समय यदि रावण ने तेरे शील का खण्डन न किया हो तो तू यह दिव्य स्वीकार कर ।''

कुछ हँसकर सीता ने कहा-

``हे आर्यपुत्र ! शायद ही आपके समान बुद्धिमान पुरुष इस दुनिया में और कोई होगा । आपने मेरे दोष को जाने बिना ही भयंकर वन में मेरा त्याग

कर दिया । ओहो ! यह भी आपकी कोई उत्तम नीति है । पहले दण्ड और फिर परीक्षा ! खैर ! आप मेरी परीक्षा करना चाहते हो तो इस परीक्षा के लिए भी मैं तैयार हूँ ।''

राम ने कहा-``प्रिये ! मुझे विश्वास है कि तू निर्दोष है, फिर भी लोक द्वारा लगाये गये कलंक को दूर करने के लिए ही मैं दिव्य कराना चाहता हूँ ।''

सीता ने कहा-``मुझे पाँचों प्रकार के दिव्य स्वीकार हैं ।''

``आप आज्ञा करो तो मैं (1) अग्नि में प्रवेश करने के लिए तैयार हूँ । (2) मंत्रित चावल खाने के लिए तैयार हूँ । (3) तराजू में बैठने के लिए तैयार हूँ । (4) गर्म सीसा पीने के लिए तैयार हूँ और (5) जीभ पर तलवार चलाने के लिए तैयार हूँ ।''

सीता ने जब हर प्रकार के दिव्य के लिए अपनी तैयारी प्रकट की, तब अयोध्या के प्रजाजन बोले-``महाराजा ! सीता महासती हैं, उनसे दिव्य नहीं करावें ।''

राम ने प्रजाजन को कहा-**``हे प्रजाजन ! तुम्हारे वचन की कोई मर्यादा नहीं है । सीता पर कलंक लगाने वाले भी तुम ही थे और आज सीता को महासती कहने वाले भी तुम ही हो, तुम्हारे वचन परिवर्तनशील हैं, अतः मुझे दिव्य द्वारा सीता के शील की परीक्षा करने दो ।''**

प्रजाजन कुछ बोल न सके ।

तीन सौ फुट लम्बा चौड़ा गड्ढा खोदने के लिए राम ने आदेश दिया । कर्मचारी काम पर लग गये । गड्ढा तैयार हो गया, चन्दन की लकड़ियों का ढेर कर दिया गया ।

प्रजाजन के बैठने के लिए मंच की व्यवस्था कर दी गई । थोड़ी ही देर बाद उस चिता में आग प्रगटाई गई ।

राम ने सीता को अग्निप्रवेश की आज्ञा दी ।

सीता ने पंच-परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण किया और अग्नि में कूदने के पूर्व बोली-**``हे दिक्पालो ! यदि मैंने विशुद्ध मन से शील का पालन किया हो तो यह अग्नि जल बन जाय ।''**

इतना कहकर सीताजी उस अग्नि में कूद पड़ी और उसी समय सीता के शील के प्रभाव से देवराज इन्द्र ने आग बुझा दी और जल और कमल से भरपूर सरोवर का निर्माण कर दिया । सरोवर में जल बढ़ने लगा

और सीताजी उस सरोवर के मध्य में कमल पर बैठी हुई दिखाई देने लगी...मानों साक्षात् लक्ष्मीदेवी हों ।

चारों ओर आनन्द की लहर व्याप्त हो गई और महासती सीता का जय-जयकार होने लगा ।

धीरे-धीरे सरोवर का जल मंच की ओर बढ़ने लगा । लोग भयभीत होने लगे, परन्तु सीता ने ज्योंही जल पर हाथ रखा, उस जल के प्रवाह की दिशा बदल गई ।

सबसे अधिक आनन्द लव और कुश के मुख पर था, वे दोनों सरोवर में कूद पड़े और अपनी माँ की ओर आगे बढ़ने लगे ।

महासती सीता के दोनों ओर लव और कुश बैठ गये । सीताजी के सौन्दर्य में अनेकगुणी वृद्धि हो गई ।

राम, लक्ष्मण आदि भी अपने-अपने सिंहासन से खड़े होकर सीताजी की ओर आगे बढ़े ।

राम सीता के निकट पहुँचे और अपने अपराधों की क्षमायाचना करने लगे । क्षमायाचना के पश्चात् राम ने सीता को पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या चलने का आग्रह किया ।

सीता ने दीक्षा स्वीकार की

सीता के जीवन में सुख-दुःख का जो ज्वार चढ़ा था, इस ज्वार ने सीता की अन्तरात्मा को जागृत कर दिया । उसकी सुषुप्त चेतना जाग उठी और सीताजी भव-बन्धन से मुक्त बनने के लिए लालायित हो उठी । उनकी आत्मा संसार से विरक्त बन चुकी थी । संसार के क्षणिक सुख उन्हें नीरस लग रहे थे ।

सीता ने राम को कहा-**``हे आर्यपुत्र ! इस जगत् में हर आत्मा अपने ही कृत्यों का फल भोगती है, अन्य आत्मा तो निमित्त मात्र है । आत्मा के वास्तविक शत्रु तो ये आठ कर्म ही हैं, अतः अब मेरा मन उन शत्रुओं को समाप्त करने के लिए लालायित हो उठा है । अब मुझे संसार की समृद्धि नहीं चाहिए-मैं तो संसार का त्याग कर जिनेश्वरदेव के बताये हुए चारित्र-मार्ग को ग्रहण करूंगी ।''**

इतना कहकर सीता ने अपने हाथों से केशलुंचन कर लिया और

थोड़ी ही दूरी पर पधारे हुए जयभूषण सर्वज्ञ महामुनि के पास पहुँच गई । सीता ने महामुनि से चारित्र प्रदान करने की प्रार्थना की । महामुनि ने सीताजी को चारित्र प्रदान किया और वे 'सुप्रभा' साध्वी की शिष्या बन गईं ।

रामचन्द्रजी सीता के केशलुंचन के दृश्य को देख न सके और मूर्च्छित होकर धरती पर ढल पड़े । थोड़ी देर के बाद जब उन्हें चेतना आई तब वे सीते ! सीते ! की पुकार करने लगे । राम लक्ष्मणजी आदि के साथ महामुनि के पास पहुँचे और केवलज्ञानी महामुनि की देशना सुनकर शान्त हो गये, सीता के प्रति उनका मोह दूर हो गया ।

सीताजी संयम-जीवन की साधना करने लगीं ।

हनुमानजी संयम के पथ पर...

हनुमानजी हनुपुर के विशाल देश के स्वामी थे । कई बार वे महातीर्थों की यात्रा कर अपनी आत्मा को भावित करते थे ।

एक बार वे मेरुपर्वत के जिनमन्दिरों के दर्शन कर लौट रहे थे । मार्ग में उन्होंने सूर्यास्त का दृश्य देखा । वे विचार-मग्न हो गये-``क्या यह जगत् और जीवन भी सूर्यास्त की भाँति अशाश्वत नहीं है ? सूर्य उदय होता है... प्रातः खिलता है...दोपहर को चमकता है और संध्या के समय अस्त हो जाता है ।''

``जगत् और जीवन का भी तो यही क्रम है । कभी पुण्य के उदय से चमकता है तो कभी पाप के उदय से अस्त होता है ।''

जीवन की क्षणभंगुरता का विचार कर हनुमानजी को वैराग्य हो गया । उन्होंने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर अनेक राजाओं के साथ चारित्र स्वीकार कर लिया ।

कठोरतम चारित्र धर्म की साधना करते हुए हनुमानजी ने समस्त घाती कर्मों का क्षय कर दिया और वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये । अपना अवशिष्ट आयुष्य पूर्ण कर हनुमानजी निर्वाण को प्राप्त हुए ।

जब राम ने हनुमानजी के दीक्षा ग्रहण की बात सुनी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे सोचने लगे-``अपार भोगसुखों का त्याग कर हनुमान ने कष्टकारी दीक्षा का स्वीकार क्यों किया ?''

स्नेह-परीक्षा

सौधर्म इन्द्र ने रामचन्द्रजी के विचारों को प्रत्यक्ष देखा । इन्द्र सोचने लगे, ``अहो ! राम चरमशरीरी हैं फिर भी उन्हें अपने भाई के प्रति कितना गाढ़ राग है ?''

उन्होंने यह बात अपने सभासदों को कही-``राम चरम शरीरी होने पर भी विषयजन्य सुख की प्रशंसा कर रहे हैं । अथवा लक्ष्मण के प्रति रहा हुआ गाढ़ स्नेह ही उन्हें संसार से जकड़े हुए है ।''

कौतुकवृत्ति वाले दो देवों के मन में इस स्नेह की परीक्षा करने की इच्छा हुई । वे दोनों देव लक्ष्मणजी के महल में पहुँच गये । लक्ष्मणजी सिंहासन पर बैठे हुए थे...उनके कानों में भयंकर रुदन का करुण स्वर सुनाई देने लगा-``हा राम ! हा राम ! आपकी यह अकाल मृत्यु ! हमारा सर्वस्व लूट लिया ?''

इस प्रकार का करुण स्वर लक्ष्मणजी को सुनाई दिया ।

लक्ष्मणजी ने पूछा-``क्या हुआ ?'' किसी ने कहा, ``रामचन्द्रजी का अवसान हो गया ।'' बस ! यह सुनते ही लक्ष्मणजी को भयंकर आघात लगा और भयंकर रुदन करते हुए वे धरती पर ढल पड़े और इसके साथ ही उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

दोनों देवों ने लक्ष्मणजी की मृत देह को देखा । वे अत्यन्त खिन्न हो गये । ``ओहो ! स्नेह-परीक्षा का यह परिणाम ।''

उन्होंने अपना मायाजाल समेटा और पुनः देवलोक में चले गये ।

लक्ष्मणजी की मृत देह को देखकर चारों ओर कोलाहल मच गया ।

राम-विभीषण-सुग्रीव-शत्रुघ्न आदि सब लक्ष्मण के महल की ओर दौड़ पड़े ।

राम ने लक्ष्मण के शव को अपनी गोद में लिया, वे उसे `मृत' मानने के लिए तैयार ही न थे ।

राम बोले-``हे वत्स ! लक्ष्मण ! बोलता क्यों नहीं है ? बोल ! तुझे क्या पीड़ा है ? तू कहेगा वह वैद्य बुला दूंगा ।'' परन्तु लक्ष्मण की ओर से कोई उत्तर नहीं क्योंकि वे तो मर चुके थे, बोलने वाला आतमपंखी तो उड़ गया था ।

लक्ष्मण की मृत्यु से समस्त अन्तःपुर घोर क्रन्दन करने लगा । अयोध्या आदि के समस्त प्रजाजन लक्ष्मण की मृत्यु पर घोर क्रन्दन करने लगे ।

विभीषण आदि ने लक्ष्मण की निश्चेष्ट देह को देखा, परन्तु राम लक्ष्मण की मृत्यु को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे ।

राम के आदेश व आग्रह से अनेक वैद्य, मांत्रिक तथा तांत्रिक पुरुषों को बुलाया गया, सबने लक्ष्मण की देह का निरीक्षण किया और अन्त में यही कहा-``लक्ष्मण के रोग का इलाज अशक्य है ।''

राम मूर्च्छित होकर धरती पर ढल पड़े । कौशल्या, सुमित्रा व सुप्रभा भी घोर विलाप करने लगीं ।

शत्रुघ्न ने राम की मूर्च्छा को दूर करने का प्रयास किया । राम कुछ होश में आये और पुनः लक्ष्मण को पुकारने लगे ।

लव-कुश का परिनिर्वाण

लव और कुश ने जब लक्ष्मणजी की अकाल मृत्यु के सम्बन्ध में सुना तो उनका हृदय दुःख से भर आया ।

उन्होंने लक्ष्मणजी की निर्जीव देह को देखा और उनके मन में संसार की अनित्यता का चिन्तन प्रारम्भ हो गया । वे सोचने लगे-``अहो ! इस जगत् में किसका अस्तित्व शाश्वत है ? मृत्यु सब को अपने वश में कर लेती है और सदा के लिए व्यक्ति के अस्तित्व को धूमिल कर देती है ।''

``मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है, अतः क्यों न आत्मकल्याण के पथ का अनुसरण कर मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाय ।''

उन्होंने अपने पिता की मोहग्रस्तता को भी देखा । लक्ष्मणजी मर चुके थे फिर भी रामचन्द्रजी उनके अन्तिम संस्कार के लिए तैयार नहीं थे ।

लव-कुश राम के पास पहुँचे । उन्होंने उनके समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त की । रामचन्द्रजी कुछ नहीं बोले । वे तो लक्ष्मण के स्नेह से ग्रस्त थे ।

लव-कुश ने महल छोड़ दिया, वे निर्मम और निर्मोह बनकर गुरु चरणों में पहुँच गये । गुरु के पास जाकर उन्होंने चारित्र स्वीकार कर लिया । वे संयम-जीवन की उत्कट साधना करने लगे । कुछ समय बाद घाती-अघाती सर्वकर्मों का क्षय कर सदा के लिए बन्धनमुक्त हो गये ।

स्नेह-उन्माद

लक्ष्मणजी की मृत्यु के तीन दिन बीत चुके थे, परन्तु रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी के अन्तिम संस्कार के लिए तैयार नहीं थे ।

कौशल्या-विभीषण आदि ने राम को समझाने के बहुत प्रयत्न किये, परन्तु रामचन्द्रजी किसी की बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे । उन्होंने लक्ष्मण के शव को कन्धे पर उठाया और उसे महल में ले आये ।

रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी की देह को कभी स्नान कराते...तो कभी सुन्दर वस्त्र पहिनाते...तो कभी देह पर सुगन्धित पदार्थों का लेप करते...दिव्य भोजन लाकर उसके समक्ष रखते । कभी उसके मुख का आलिंगन करते तो कभी उस देह का मर्दन करते ।

विभीषण-शत्रुघ्न आदि इस दृश्य को देखकर विचार-मग्न हो जाते । इस तरह धीरे-धीरे छह मास बीत गये । राम ने लक्ष्मण के देह की उत्तरक्रिया नहीं करने दी ।

प्रतिबोध

रामचन्द्रजी की छह मास से निरन्तर इस स्थिति को देखकर जटायु देव ने राम को प्रतिबोध देने का निर्णय किया ।

राम अपने बन्धु लक्ष्मण की देह को लेकर अयोध्या के बाह्य उद्यान में बैठे हुए थे । उसी समय राम के सम्मुख ही वह जटायुदेव एक शुष्क-वृक्ष का सिंचन करने लगा और उसके बाद पत्थर की शिला पर खाद आदि डालकर कमल के बीज बोने लगा ।

राम ने उसके इस पागलपन को देखकर कहा-``अरे ! मूर्ख ! इस प्रकार का पागलपन क्यों कर रहा है ? क्या पर्वत पर कमल उग सकते हैं ?''

जटायुदेव ने वह काम छोड़ दिया और वह नदी की रेती को यन्त्र में पीलने लगा ।

पुनः राम ने कहा-``अरे ! क्या नदी की रेती में से कभी तैल निकल सकता है ?''

राम के प्रत्युत्तर को सुनकर जटायुदेव ने कहा-``तो फिर आप इस मृतक को अपने कन्धों पर उठाकर क्यों घूम रहे हो ?''

राम ने कहा-``अरे ! मेरे दृष्टिपथ से तू दूर हट जा, इस प्रकार के अमंगलकारी शब्दों का प्रयोग कभी मत करना ।''

रामचन्द्रजी का सारथी कृतान्तवदन जो मरकर देव बना था, वह भी अपने स्वामी को प्रतिबोध देने के लिए धरती पर आया ।

एक मृत स्त्री के शव को अपने कन्धों पर डालकर वह राम के निकट आया । राम ने उस मृत स्त्री को देखा और वे बोले-``अरे ! इस मृत स्त्री को लेकर क्यों घूम रहे हो ?''

उस देव ने कहा-``आप इस प्रकार का अमंगल क्यों बोलते हो ? यह तो मेरी प्रेयसी है और मुझे अत्यन्त प्राणप्रिय है...परन्तु आप इस मृत देह को क्यों ढो रहे हो ?''

``क्या मेरे पास मृतदेह है ?'' राम ने साश्चर्य होकर पूछा ।

उसने कहा-``हाँ !'' उस देव ने अपना (कृतान्तवदन का) रूप प्रकट किया और रामचन्द्रजी को अपना परिचय दिया ।

राम ने लक्ष्मण की देह को मृत समझकर भूमि पर रख दिया । तत्पश्चात् विभीषण, सुग्रीव तथा शत्रुघ्न आदि ने सविधि लक्ष्मण की देह का अग्निसंस्कार किया ।

रामचंद्रजी की दीक्षा

लक्ष्मण की मृत्यु के बोध के साथ ही रामचन्द्रजी के हृदय में रहा हुआ स्नेह का बन्धन टूट गया । उन्हें यह संसार निस्सार दिखाई देने लगा । उन्हें इस संसार की असारता का भान हो गया । उन्होंने छोटे भाई शत्रुघ्न को राज्य स्वीकार करने के लिए आग्रह किया । परन्तु शत्रुघ्न ने राज्य स्वीकार करने से इन्कार कर दिया ।

उसने कहा-``बांधव ! आप त्याग के पंथ पर जा रहे हो, तो मैं इस संसार के बन्धन में क्यों रहूँ । मुझे भी यह संसार बन्धन रूप लग रहा है, मैं भी आपके साथ संयम-जीवन स्वीकार कर अपनी आत्मा का कल्याण करूंगा ।''

शत्रुघ्न के दीक्षानिर्णय को जानकर रामचन्द्रजी ने लवपुत्र अनंगदेव के राज्याभिषेक की घोषणा कर दी ।

रामचन्द्रजी के संयमग्रहण करने के दृढ़ निर्णय को जानकर विभीषण, सुग्रीव आदि ने भी संयम स्वीकार करने का निर्णय लिया ।

उन्होंने राम से विनती की कि-``हम भी अपने पुत्रों का राज्याभिषेक करके आपके साथ संयम ग्रहण करना चाहते हैं । अतः आप हमारे आगमन तक थोड़ी प्रतीक्षा करें ।''

राम ने उनकी विनती स्वीकार की । चारों ओर रामचन्द्रजी की दीक्षा की बात फैल गई ।

रामचन्द्रजी के दृढ़संकल्प को जानकर अनेक महाराजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय कर लिया ।

कुछ समय व्यतीत हुआ । अयोध्या के राजसिंहासन पर अनंगदेव का राज्याभिषेक कर दिया गया ।

अयोध्या के बाह्य उद्यान में `सुव्रत' महामुनि के आगमन के समाचार मिले । समाचार सुनकर रामचन्द्रजी प्रसन्न हो गये ।

अनेक राजा-महाराजाओं के साथ रामचन्द्रजी महामुनि के पास पहुँचे ।

महामुनि की वैराग्यपूर्ण देशना सुनकर सभी के मन वैराग्य के रंग में रंजित हो उठे ।

अयोध्या के जिनमन्दिरों में रामचन्द्रजी आदि के दीक्षाग्रहण निमित्त भव्य अष्टाह्निका महोत्सव का आयोजन किया गया ।

...और एक शुभ दिन...शुभमुहूर्त में 16000 राजाओं के साथ रामचन्द्रजी ने संसार के बन्धनों का त्याग कर दिया, वे राजा से महाराज बन गये...अगारी मिटकर अणगार बन गये ।

अयोध्या के प्रजाजनों की आँखों में हर्ष और शोक के आँसू थे । अपने गुरुदेव के साथ राम मुनि ने वहाँ से विहार किया ।

गुरुकुलवास में रहकर राम मुनि द्वादशांगी के ज्ञाता बने । निर्मल संयम का पालन करने लगे ।

इस प्रकार संयम की साधना में अनेक वर्ष बीत गये ।

सीतेन्द्र अनुकूल उपसर्ग

एक बार राम मुनि अपने गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर वन में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े थे । वे इस संसार के प्रति निर्मम बन चुके थे ।

सीता साध्वी निर्मल संयम जीवन का पालन कर अच्युतेन्द्र बनी थी । सीतेन्द्र ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग किया और उसके हृदय में राम के प्रति पुनः स्नेह उमड़ पड़ा ।

सीतेन्द्र ने सोचा-``यदि राम को केवलज्ञान हो गया तो वे मोक्ष में चले जायेंगे, अतः मुझे उनकी शुभध्यान की धारा भंग करनी चाहिए, जिससे वे मरकर मेरे सहवासी देव बन सकें ।''

मोह की गति न्यारी है, गत भव में राम के मोह का त्याग कर सीता ने दीक्षा स्वीकार की थी, परन्तु उसने मोह का सम्पूर्ण क्षय नहीं किया था...अतः जन्मान्तर में मोह के संस्कार पुनः जागृत हो गये। राम को पुनः पाने के लिए सीता का जीव वह सीतेन्द्र धरती पर आया और उसने राममुनि के ध्यान को भंग करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया।

सीतेन्द्र ने तत्काल जंगल के वातावरण को उद्यान में बदल दिया, चारों ओर सुगन्धित, शांत व शीतल पवन बहने लगा। सीतेन्द्र ने सोलह श्रृंगार से सजी हुई नवयौवना सीता का रूप धारण किया और राम को नमन कर प्रार्थना करने लगी...``हे प्राणनाथ। आप अपनी आँखें खोलो, सीता आपके सामने खड़ी है...वह आपके विरह की व्यथा से अत्यन्त संतप्त है। हे नाथ! आप मुझे स्वीकार करें, मैंने दीक्षा का त्याग कर दिया है...आप मुझे पुनः स्वीकार करें।''

सीतेन्द्र ने अनेकविध नाटककलाओं का प्रदर्शन किया और विविध प्रकार के सानुकूल उपसर्ग किये। परन्तु महामुनि राम का मन लेश भी चलित नहीं हुआ।

वे शुक्लध्यान की धारा में प्रति समय आगे बढ़ने लगे और कुछ समय में ही उन्होंने अपने समस्त घाती कर्मों का क्षय कर दिया...उनकी आत्मा पूर्ण वीतराग हो गई...वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये।

सीतेन्द्र के हृदय में राम मुनि के प्रति रहा मोह उतर गया। मोह के स्थान पर भक्ति प्रकट हुई और उसी समय अनेक देवता भी वहाँ उपस्थित हुए। सभी देवताओं ने मिलकर राम मुनि के केवलज्ञान का भव्य महोत्सव किया।

स्वर्णकमल पर आरूढ़ होकर राममुनि ने देशना प्रारम्भ की।

सर्वज्ञ की देशना का क्या वर्णन करें ? वह तो अमृत-पान के समान सबको आनन्द देने लगी...सबके मन के संशय छिन्न होने लगे।

सीतेन्द्र के पूछने पर राम महामुनि ने उसके आगामी भवों का वर्णन सुनाया।

राम महामुनि 25 वर्ष तक केवली पर्याय में पृथ्वीतल पर विचरे। अनेक भव्यात्माओं को उन्होंने प्रतिबोध दिया और अन्त में शैलेषीकरण के द्वारा सर्व अघाति कर्मों का भी क्षय कर परम पद मोक्ष को प्राप्त कर अजरामर हो गये। सीता भी भविष्य में गणधर बनकर मोक्ष में जाएगी।

11. महासती सुभद्रा

वसंतपुर नगर !

जितशत्रु राजा !!

राजा अत्यंत ही नेक, ईमानदार, प्रजावत्सल और पराक्रमी था । प्रजा के सुख के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता था । उस राजा का एक मंत्री था जिसका नाम था जिनदास ! अपने नाम के अनुरूप उसमें गुण भी थे । जैन धर्म के पदार्थों से वह अत्यंत ही सुपरिचित था । उसकी पत्नी का नाम तत्त्वमालिनी था । वह भी जैन धर्म में अत्यंत ही कुशल और तत्त्व-रसिक थी । उनके एक पुत्री थी, जिसका नाम था सुभद्रा ! सोने में सुगंध की भाँति सुभद्रा में रूप व गुण का अद्‌भुत संगम था । माता-पिता के सुसंस्कारों से उसका जीवन ओतप्रोत था । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही उसका देह सौंदर्य, चन्द्र की सोलह कलाओं की भाँति एकदम खिल उठा था ।

अपनी पुत्री की युवावस्था को देख पिता को उसके लिए सुयोग्य वर की चिंता सताने लगी । मंत्री पिता की यह अभिलाषा थी कि अपनी पुत्री जिनधर्म में कुशल ऐसे योग्य व्यक्ति को दी जाय जिससे लग्न जीवन के बाद भी उसकी धर्म-आराधना सुचारु रूप से चल सके ।

``एक बार चंपापुरी का निवासी बौद्ध धर्म से भावित बुद्धदास नाम का युवा व्यापारी वहाँ पर आया । उसने अद्‌भुत रूप और लावण्य की साक्षात् मूर्ति सुभद्रा को देखा । सुभद्रा को देखते ही उसके मन में उसके प्रति तीव्र आकर्षण पैदा हो गया । उसने सुभद्रा के विषय में पूछताछ की कि यह कौन है और किसकी पुत्री है ?''

पूछताछ करने पर उसे पता चला कि ``यह जिनदास मंत्री की पुत्री है और वह मंत्री, जिनधर्म में प्रवीण व्यक्ति को ही अपनी पुत्री प्रदान करना चाहता है ।'' इस बात को जानकर बुद्धदास ने निर्णय लिया कि ``किसी भी उपाय से जिनधर्म में कुशलता प्राप्त करके मुझे इस कन्या के साथ अवश्य ही पाणिग्रहण करना है ।''

इस प्रकार विचार कर जैन धर्म में कुशलता पाने के लिए उसने जैन धर्म संबंधी अध्ययन करना प्रारंभ किया । कुछ ही समय में उसने जैन धर्म की गहरी जानकारी प्राप्त कर ली, इतना ही नहीं वह श्रावक के बाह्य आचारों का भी अच्छी तरह से पालन करने लगा । प्रति दिन जिन-पूजा, कंदमूल-त्याग, रात्रि-भोजन- त्याग, अभक्ष्य-भक्षण-त्याग आदि आदि बाह्य आचारों के पालन के कारण सभी लोग उसे आदर भाव से देखने लगे ।

एक बार वह बुद्धदास वसंतपुर में आया । जिनेश्वर परमात्मा की पूजा और भक्ति करके उपाश्रय में आकर गुरु भगवंत का उपदेश सुनने लगा । श्रावकोचित उसके बाह्य आचारों को देखकर जिनदास मंत्री ने बुद्धदास को अपने घर मंदिर में पधारने के लिए आमंत्रण दिया । बुद्धदास ने अत्यंत ही आडंबर पूर्वक परमात्मा की भक्ति की । उसके बाद मंत्री ने उसे भोजन के लिए आमंत्रण दिया ।

भोजन के समय जब मंत्री भोजन की विविध-सामग्री परोसने लगा, तब वह बोला, ``आज मुझे घी विगई का मूल से त्याग है...दही का भी मैंने त्याग किया है ।'' दो शाक से अधिक शाक नहीं लूंगा ।''

बुद्धदास के त्याग, तप व संयममय जीवन को देखकर मंत्री अत्यंत ही प्रभावित हो गया और मनोमन सोचने लगा, ``मैं अपनी पुत्री के लिए जैसे वर को चाहता था, वैसा वर मुझे घर बैठे मिल गया है, अतः क्यों न इसी को अपनी पुत्री प्रदान कर पुत्री के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँ ।'' इस

प्रकार विचार कर भोजन से निपटने के बाद मंत्री ने बुद्धदास के सामने अपनी कन्या ग्रहण करने के लिए प्रस्ताव रखा ।

बुद्धदास ने मंत्री का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । एक शुभ दिन अत्यंत ही धूमधाम के साथ बुद्धदास और सुभद्रा का लग्न हो गया ।

सुभद्रा को लेकर बुद्धदास अपने घर लौटा । श्वसुर घर में आकर सुभद्रा सभी के साथ विनयपूर्वक व्यवहार करने लगी । जिनेश्वर भगवंत के मंदिर में जाकर वह परमात्मा की पूजा और भक्ति करने लगी ।

उसके इस आचार को देखकर एक दिन उसकी सास ने उसे कहा, ``यहाँ तो बुद्ध भगवान की ही पूजा और भक्ति करनी होगी । जैनों के मंदिर में जाने की आवश्यकता नहीं है ।''

सास के इन वचनों को सुनकर सुभद्रा ने सोचा, ``अहो ! ये तो सभी बौद्ध- धर्मी हैं । माया और कपट करके मेरे पति ने मेरे साथ शादी की है । अहो ! अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ?'' अब जो भी होना था, वह हो गया । परन्तु अब मुझे किसी भी संयोग में जिन-धर्म का त्याग तो नहीं करने का है ।'' इस प्रकार विचार कर वह सास के द्वारा निषेध करने पर भी जिनमंदिर में परमात्मा की पूजा और भक्ति करने लगी और गुरु भगवंत की धर्मदेशना का श्रवण करने लगी । प्रतिकूल संयोगों में भी सुभद्रा अपने आचार-पालन की मर्यादा से लेश भी विचलित नहीं हुई ।

धीरे धीरे समय बीतने लगा ।

एक दिन की बात है । मासक्षमण के तपस्वी महामुनि अपने तप के पारणे में गोचरी लेने के लिए पधारे । सुभद्रा ने महामुनि की आँख में गिरे हुए तिनके को देखा । वे महामुनि तो समता के सागर थे । सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, शत्रु-मित्र आदि में समभाव को धारण करने वाले थे । अतः उन्हें आँख में गिरे तृण की कोई परवाह नहीं थी...परन्तु सुभद्रा ने सोचा, ``यदि आंख में गिरा हुआ यह तृण दूर नहीं किया गया तो महामुनि की आँख को भयंकर नुकसान हो जाएगा ।''

इस प्रकार विचार कर उसने अपनी कोमल जीभ से महामुनि की आँख में रहे उस तृण को निकाल दिया ।

13. महासती ऋषिदत्ता
पृष्ठ नं. 236

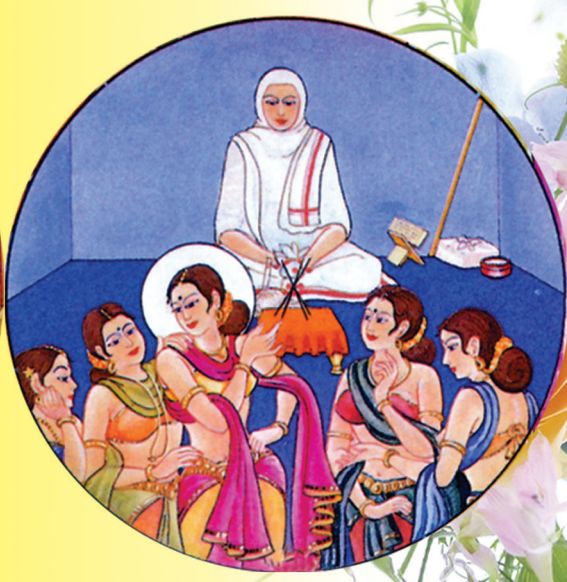

आँख में रहे तृण को निकालते समय सुभद्रा के ललाट पर रहा कुंकुम तिलक आर्द्र होने से, महामुनि के मस्तक पर लग गया ।

महामुनि के मस्तक पर कुंकुम को लगे देखकर सुभद्रा की सास ने उसके ऊपर आक्षेप लगाते हुए अपने पुत्र को कहा, ``देख, तेरी पत्नी का चरित्र ! वह तो इस साधु में आसक्त है ।''

बस, महामुनि के मस्तक पर लगे कुंकुम को देखते ही बुद्धदास ने भी अपनी माँ की बात में विश्वास कर लिया । उसी समय उसका पूरा परिवार इकट्ठा हो गया । सास ने सुभद्रा को बुरी तरह से बदनाम किया ।

सास ने सभी को कहा, ``यह स्वछंदचारिणी कुलटा है ।'' यह तो अपने कुल को भी कलंकित करने वाली है ।''

सास द्वारा अपने ऊपर झूठा आरोप लगाने पर वह सुभद्रा सोचने लगी, ``अहो ! मैंने तो महामुनि की आंख में से तृण निकाल कर अच्छा काम किया इसके बजाय ये लोग मुझे बदनाम करने लगे हैं ।'' उसी समय एक शुभ विचार उसके दिमाग में बिजली की भाँति कोंध आया ।

अपने कलंक को दूर करने के लिए सुभद्रा कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ी हो गई ।

उसके अपूर्व सत्त्व को देखकर शासनदेवी प्रकट हुई और बोली, ``वत्से ! कायोत्सर्ग पूर्ण करो और मेरे योग्य जो भी कार्य हो, वह कहो ।''

शासनदेवी को प्रत्यक्ष देखकर सुभद्रा ने कहा, ``हे शासनदेवी ! मुझ पर आए कलंक को तुम दूर करो ।''

शासनदेवी ने कहा, ``वत्से ! खेद मत करो । कल प्रातः ही तुम्हारा कलंक दूर हो जाएगा ।'' इतना कहकर वह देवी अदृश्य हो गई ।

प्रातःकाल हुआ और नगर की चारों दिशाओं के चारों द्वार बंद हो गए । पुनःपुनः प्रयत्न करने पर भी वे द्वार खुल नहीं पाए । राजा ने शांति कर्म कराया...फिर भी वे दरवाजे नहीं खुले । राजा व प्रजाजन परेशान हो गए ।

आखिर, आकाश में रही शासनदेवी ने कहा, ``जो सती स्त्री चालनी से कुएँ में से जल निकाल कर, इन दरवाजों पर जल का छिड़काव करेगी, तभी ये द्वार खुल पाएंगे ।''

देवी की इस बात को सुनकर राजा ने नगर में पटह बजवाया, ``जो सती स्त्री कुएँ में से चालनी में जल लाकर इन दरवाजों पर छिड़काव करेगी तभी ये द्वार खुलेंगे, राजा की ओर से उस स्त्री का बहुमान किया जाएगा ।''

राजा के द्वारा बजाए गए इस पटह को सुनकर नगर की अनेक स्त्रियाँ कुएँ में से चालनी में जल बाहर निकालने लगीं...परन्तु कोई भी स्त्री उसमें सफल नहीं हो पाई । राजा की चिंता बढ़ने लगी ।

इस बीच सुभद्रा ने अपनी सास को कहा, ``माताजी ! आपकी अनुमति हो तो मैं नगर के दरवाजे खोल दूँ ।''

सास ने कहा, ``आगे तो तूने कुल को कलंकित किया है और अब...।''

``माताजी ! आप निश्चिंत रहें । मुझे आत्मविश्वास है कि मैं नगर के द्वार खोल सकूंगी ।''

आखिर सास ने सुभद्रा को अनुमति दे दी ।

सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में सुभद्रा ने चालनी से कुएँ में से जल बाहर निकाला और नगर के तीन दरवाजों पर जल का छिड़काव किया, तत्काल वे दरवाजे खुल गए ।

उस समय शासनदेवी ने आकाशवाणी की-``यदि कोई सुभद्रा की तरह सती स्त्री हो तो वह चौथा दरवाजा खोल दे ।'' परन्तु किसी के प्रयत्न से वह दरवाजा नहीं खुल पाया ।

आखिर सुभद्रा के जल छिड़काव से ही वह चौथा दरवाजा खुला ।

शासनदेवी ने कहा, **``जो भी इस महासती के विरूद्ध विचार भी करेगा तो उसे कड़ी सजा होगी ।''**

देवी के इन वचनों को सुनकर सुभद्रा के प्रति रही सभी की शंकाएँ दूर हो गईं और सर्वत्र उसके सतीत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी । सास व श्वसुर ने सुभद्रा से क्षमा याचना की । सभी ने जैन धर्म को स्वीकार किया । अंत में दीक्षा लेकर सभी कर्मों का क्षय कर सुभद्रा सती मोक्ष में गई ।

12. महासती राजीमती

◆ नेमिकुमार और राजीमती के बीच
नौ-नौ भवों की प्रीत चली आ रही थी,
परंतु अंतिम-भव में
यद्यपि नेमिकुमार लग्न के लिए
इच्छुक नहीं थे, परंतु उनके मौन को सम्मति समझकर
उग्रसेन राजा की पुत्री राजीमती के साथ
उनका लग्न निश्चित हुआ ।
परंतु पशुओं की पुकार सुनकर
नेमिकुमार ने लग्न से स्पष्ट इन्कार कर दिया ।
◆ उसके बाद महासती राजीमती ने भी
अन्य किसी राजकुमार के साथ
पाणिग्रहण का निषेध कर दिया ।
आखिर राजीमती ने भी
भागवती-दीक्षा अंगीकार की ।
◆ राजीमती के अद्‌भुत रूप और लावण्य से
मोहित बने रथनेमि को ठपका देकर राजीमती
ने पुनः उन्हे संयम में स्थिर किया ।
निर्मल संयम की साधना द्वारा राजीमती ने
शाश्वत पद प्राप्त किया ।

12. महासती राजीमती

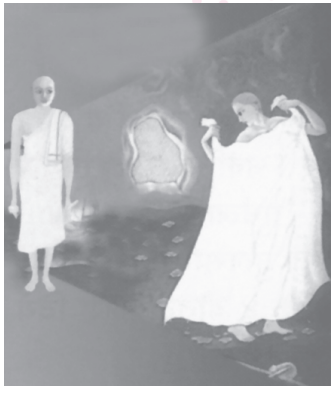

एक बार नेमिकुमार श्रीकृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गए और अत्यन्त सहजता से अपनी अंगुली पर सुदर्शन-चक्र घुमाने लगे । थोड़ी देर बाद उन्होंने पाञ्चजन्य शंख फूँका । शंख की ध्वनि से वातावरण में खलबली मच गई । सभी हाथी आलान-स्तम्भ तोड़कर भागने लगे । सभी घोड़े जोर-जोर से हेषारव करने लगे । चारों ओर हाहाकार मच गया ।

शंख की ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण ने सोचा-``यह शंख किसने बजाया है ? क्या मेरा कोई शत्रु पैदा हुआ है ?'' वे भागकर आयुधशाला में आए और वहाँ नेमिकुमार को देखकर आश्चर्यमुग्ध हो गए ।

वे सोचने लगे, ``नेमिकुमार के बल की मुझे परीक्षा करनी चाहिए ।'' बल-परीक्षा के लिए उन्होंने युद्ध का आह्वान किया । नेमिकुमार ने कहा-``बल-परीक्षा के लिए युद्ध की क्या आवश्यकता है ? एक-दूसरे का हाथ मोड़कर भी बल की परीक्षा हो सकती है ।''

श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार की शर्त स्वीकार कर ली ।

पहले श्रीकृष्ण ने अपना हाथ लम्बा किया । नेमिकुमार ने उसे सहजता से मोड़ दिया ।

उसके बाद नेमिकुमार ने अपना हाथ लम्बा किया । अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी श्रीकृष्ण नेमिकुमार के हाथ को मोड़ न सके ।

वे निराश होकर सोचने लगे, ``अहो ! नेमिकुमार मुझे हराकर मेरे राज्य को ले लेगा ।''

इस प्रकार विचार कर उन्होंने बलभद्रजी से मंत्रणा की ।

तभी आकाशवाणी हुई, **``हे कृष्ण वासुदेव ! पूर्व में नमिनाथ प्रभु ने कहा है कि नेमिकुमार कुमारावस्था में ही दीक्षा लेंगे ।''** इस आकाशवाणी को सुनकर श्रीकृष्ण कुछ निश्चिन्त बने । फिर भी उसकी परीक्षा के लिए उन्होंने अपनी पत्नियों को कहा, ``तुम नेमिकुमार को पाणि-ग्रहण के लिए तैयार करो ।''

श्रीकृष्ण के आग्रह से नेमिकुमार जल-क्रीड़ा के लिए गए । जल-क्रीड़ा के बाद रुक्मिणी, सत्यभामा आदि नेमिकुमार को पाणि-ग्रहण के लिए आग्रह करने लगीं । उनके आग्रह को देख नेमिकुमार मौन रहे । उनके मौन को सहमति समझकर सत्यभामा आदि ने श्रीकृष्ण से बात की ।

तत्काल श्रीकृष्ण ने ज्योतिषी को बुलाकर लग्न का मुहूर्त पूछा । ज्योतिषी ने कहा-``चातुर्मास में लग्न आदि शुभ कार्य नहीं होते हैं ।'' परन्तु श्रीकृष्ण के अति आग्रह से उसने श्रावण शुक्ला छठ का दिन बता दिया ।

बस, तत्काल श्रीकृष्ण ने उग्रसेन राजा से बातचीत कर, उसकी पुत्री राजीमती के साथ नेमिकुमार के लग्न की तैयारी आरम्भ कर दी ।

नेमिकुमार संसार से अत्यन्त ही विरक्त थे । लग्न करने की उनकी लेश भी इच्छा नहीं थी । फिर भी माता-पिता के आग्रह से उन्होंने उग्रसेन राजा के महल की ओर प्रयाण किया । धीरे-धीरे रथ आगे बढ़ने लगा । नेमिकुमार ने पूछा-``वह सामने किसका महल दिखाई दे रहा है ?''

सारथी ने कहा-``उग्रसेन राजा का ।''

इधर उसी समय राजीमती अपनी सखियों के साथ वार्ता विनोद कर रही थी । वह भी रथ में आ रहे नेमिकुमार को दूर से देखने लगी । तभी उसका दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा । उसे अपना भावि-अमंगल दिखाई देने लगा ।

इसी बीच नेमिकुमार को पशुओं का क्रन्दन सुनाई दिया । सारथी के पूछने पर पता चला कि अन्य क्षत्रिय राजाओं की मिजबानी के लिए इन पशुओं को बन्धनग्रस्त किया है । नेमिकुमार ने उन्हें मुक्त करने के लिए आदेश दे दिया । लग्न के विचार का त्याग कर अपने रथ को मोड़ दिया । नेमिकुमार लौट चले । राजीमती को नेमिकुमार के लौटने की बात का ज्योंही पता चला, त्योंही उसे अत्यन्त आघात लगा । सभी सखियाँ उसे आश्वासन देने लगीं और कहने लगीं ``हे राजीमती ! हमने जो कहा था कि काली वस्तु में अवगुण

होते हैं, वह बात आज सत्य निकली । तू नेमिकुमार को भूल जा, अन्य राजकुमार के साथ तेरा पाणिग्रहण हो जाएगा ।'' सखियों के मुख से इन शब्दों को सुनकर राजीमती ने अपने कान पर हाथ धर दिये और बोली-``ऐसे कटु शब्द मुझे मत सुनाओ । पूर्व में उदय होने वाला सूर्य कदाचित् पश्चिम में उग जाय, फिर भी मैं अन्य पति को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हूँ ।''

राजीमती ने सोचा-``भले ही नेमिकुमार ने मेरा हाथ नहीं पकड़ा...परन्तु दीक्षा के समय तो अवश्य ही उनका हाथ मेरे मस्तक पर रहेगा ।''

इधर नेमिकुमार ने अपने माता-पिता को समझा दिया । लोकान्तिक देवों ने आकर नेमिकुमार का अभिनन्दन किया और निवेदन किया, **``हे भगवन् ! तीर्थ प्रवर्ताओ'' ।**

उसी दिन से नेमिकुमार ने वार्षिकदान प्रारम्भ कर दिया ।

नेमिनाथ की दीक्षा व केवलज्ञान

एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नेमिकुमार ने जगत् के द्रव्य-दारिद्र्य को दूर किया । तत्पश्चात् श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन नेमिकुमार की दीक्षा का भव्य वरघोड़ा निकला । उत्तरकुरा नाम की शिविका में बैठकर नेमिकुमार रैवतक उद्यान में पधारे और वहाँ आकर अशोक वृक्ष के नीचे सर्व आभूषणों का त्याग कर पंच मुष्टि लोचकर दीक्षा अंगीकार कर ली ।

54 दिन तक नेमिनाथ प्रभु छद्मस्थ अवस्था में रहे । इन दिनों में उन्होंने समत्वभाव की उत्कृष्ट साधना की, जिसके फलस्वरूप आसो वद अमावस्या के दिन उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । प्रभु ने वैराग्यपूर्ण धर्मदेशना दी, जिसे सुनकर वरदत्त आदि अनेक राजाओं ने तथा राजीमती आदि ने भागवती दीक्षा स्वीकार की । उसी समय परमात्मा ने चतुर्विध संघ की स्थापना की ।

रथनेमि मुनि

एक छोटी सी चिन्गारी भयंकर दावानल का रूप ले सकती है । जंगलों में भयंकर दावानल पैदा हो जाते हैं, उन सब का मूल तो एक छोटी सी चिन्गारी ही होती है ।

बस, इसी प्रकार एक छोटा-सा अशुभ निमित्त एक महान् साधक आत्मा का भी क्षण भर में पतन करा देता है । इसीलिए तो अशुभ निमित्तों से सदा-सर्वथा दूर रहने का निर्देश दिया गया है ।

बाईसवें तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी नेमिनाथ प्रभु के भाई-रथनेमि !

प्रभु की वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना का अमृत-पान कर रथनेमि ने युवावस्था में चारित्र धर्म स्वीकार किया और निर्मल चारित्र धर्म का पालन करने लगे ।

एक बार रथनेमि मुनि गिरनार पर्वत की किसी गुफा में कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बने हुए थे । उसी समय अचानक आकाश बादलों से घिर गया । चारों ओर अंधकार छा गया । आकाश में बिजलियाँ चमकने लगीं और देखते ही देखते क्षण भर में जोरदार वर्षा चालू हो गई । चारों ओर पानी-पानी हो गया ।

उस समय एक श्रमणी, जिसका नाम राजीमती था...और जिसने यौवनवय में ही नेमिनाथ प्रभु के वरदहस्तों से भागवती प्रव्रज्या स्वीकार की थी, गिरनार पर्वत से नीचे उतर रही थी ।

स्वयं अकेली होने पर भी जिसके मुखारविंद पर भय की कोई रेखा नहीं थी । आत्मा की अमरता का मुक्तकंठ से गान करने वाली वह साध्वी आत्मानंद की मस्ती में संयम जीवन का मधुर आस्वाद ले रही थी ।

अचानक मार्ग में ही वर्षा का आगमन हो जाने से राजीमती श्रमणी के सारे वस्त्र भीग गए । **''चालू वर्षा में कहीं गमनागमन नहीं करना चाहिए'',** इस आचार मर्यादा को अच्छी तरह से जानते हुए भी कहीं वृक्ष आदि का आश्रय न मिलने पर वह श्रमणी क्रमशः आगे बढ़ रही थी ।

अचानक उसे सामने एक गुफा दिखाई दी । उसने सोचा, ''इस गुफा में जाकर मैं अपने वस्त्रों को ठीक कर दूँ ।''

गुफा में अंधकार तो था ही...परंतु गुफा में प्रवेश करने वाली श्रमणी को अंधकार की विशेष अनुभूति रही ।

''इस गुफा में इस समय कौन हो सकता है ?'' इस प्रकार मनोमन ही एकांतता का निश्चय कर वह राजीमती श्रमणी अपने अंग पर से भीगे वस्त्रों को दूर करने लगी ।

अचानक आकाश मे बिजली चमक उठी । उस बिजली के प्रकाश में वहां ध्यान में खड़े रथनेमि मुनि ने राजीमती के वस्त्र रहित देह को देखा । उनकी ध्यान-धारा वहीं पर खंडित हो गई...और उनके रोम-रोम में कामाग्नि भड़क उठी ।

रथनेमि मुनि क्षणभर में साधक मिटकर कामुक बन गए । उनकी चिंतन-धारा बदल गई । क्षणभर पूर्व जो जगत् की अनित्यता और आत्मा की नित्यता के ध्यान में लीन थे...जो अपने ध्यान के माध्यम से जगत् को

अशुचिमय जान रहे थे...राजुल की देहलता के दर्शन के साथ ही उन्हें उसी के संग में स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना दिखाई देने लगी ।

रथनेमि अपनी साधक अवस्था को भूल गए ।

अर्थ और काम के सेवन में जिन्होंने साक्षात् नरक के दर्शन किए थे...आज वे ही रथनेमि मुनि स्त्री-संसर्ग में स्वर्ग के दर्शन करने लगे । इतना ही नहीं, वे अपने मुनिजीवन की आचार-मर्यादा को भी भूल गए ।

``भाषा-मर्यादा के लोप द्वारा साधु अपनी आत्मा का अधःपतन न कर दे, इसके लिए भगवान ने साधु की भाषा पर नियंत्रण रखने के लिए भाषा समिति और वचन गुप्ति रूपी दो चौकीदार रखे हैं...परंतु रथनेमि मुनि ने उन दोनों चौकीदारों की उपेक्षा कर दी...और वाणी स्वातंत्र्य को प्राप्त कर राजीमती साध्वी के पास कामभोग की प्रार्थना करने लगे ।

नदी में जब बाढ़ आ जाती है, तब वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन किए बिना नहीं रहती है...बस, इसी प्रकार काम-क्रोध आदि अंतरंग शत्रु के वशीभूत बनी हुई आत्मा भी अपने साध्वाचार की मर्यादा का लोप किए बिना नहीं रहती ।

रथनेमि बोल उठे, ``राजीमती ! यौवन का उपवन अभी पूरा-पूरा खिला हुआ है-इसका आनंद लूट लें । धर्म-ध्यान की साधना के लिए यह वय नहीं है, धर्म-ध्यान तो वृद्धावस्था में भी कर लेंगे...अभी तो भोगी भ्रमर बनकर यौवन का आनंद ले लें ।''

रथनेमि की शब्द ध्वनि कान में पड़ते ही राजुल समझ गई । जल्दबाजी में रथनेमि कुछ अकार्य न कर बैठे...इसके पूर्व राजुल ने अपने आपको संभाल लिया...तुरंत ही उसने अपने वस्त्र ठीक कर लिये ।

सचमुच अंधकार, यौवन, एकांत और स्त्री का मिलन ये काम की चांडाल चौकड़ी हैं । खिलते हुए यौवन में जब ये निमित्त मिल जाते हैं तो अच्छे-अच्छे साधक का भी अधःपतन हो जाता है ।

रथनेमि का मानसिक पतन हो चुका था...परंतु राजुल एक सती साध्वी थी । उसने सोचा, ``काम की आग में गिरने की तैयारी करने वाली इस आत्मा को अभी जागृत नहीं किया तो ये अपनी आत्मा को पतन के गर्त में डुबो देंगे ।''

राजीमती ने सोचा, ``पतन की खाई में गिर जाए इसके पूर्व इस काम रूपी हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से वश कर लेना जरूरी है ।'' इस प्रकार विचार कर वह बोली, **``हे देवर ! मुनिवर ! आप अपने मन को शुभ ध्यान**

में स्थिर रखो...उस ध्यान से ही आपका कल्याण होने वाला है । यादव कुल में जन्मे नेमिनाथ प्रभु के आप लघु-बंधु हो । नेमिनाथ प्रभु ने मेरा वमन (त्याग) कर दिया है । आप इस वमन को चाटने के लिए कैसे तैयार हुए ? नेमिनाथ प्रभु और आपके आचरण में इतना बड़ा अंतर क्यों ? परस्त्री-गमन से तो प्राणी नरक में जाता है और भवांतर में दुर्लभबोधि बनता है ।

''चारित्र से भ्रष्ट होकर साध्वी के साथ जो अनाचार करता है, वह आत्मा इस संसार में भयंकर दुःखों की भाजन बनती है ।''

''मेरी काया तो अशुचि-अपवित्रता से भरी हुई है । ऊपर की इस चमड़ी को देखकर आप मुझ पर मोहित क्यों हो रहे हो ?''

''मैंने भी संयम स्वीकार किया है और आपने भी महाव्रतों का पवित्र वेष धारण किया है । काम की पराधीनता से तो इन पवित्र महाव्रतों का खंडन ही होने वाला है ।''

''हे मुनिवर ! आप शास्त्रों के ज्ञाता हो । अगंधन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प कभी भी वमन किये विष का पुनः पान नहीं करता है । योगी पुरुष तो अगंधन कुल में उत्पन्न हुए साँप के समान होते हैं । जिन भोगों का वमन कर दिया है, मुनि उन भोगों की कभी इच्छा नहीं करता है । नीच कुल में भी जो प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसी चेष्टा करते हुए आपको शर्म आनी चाहिए ।''

राजीमती की सिंहगर्जना ने रथनेमि पर जादुई असर किया । वे एकदम चौंक उठे । काम-विह्वल बनी उनकी अंतरात्मा में से काम की वासना धीरे-धीरे विलीन होने लगी ।

राजीमती के वचनों ने रथनेमि की सुषुप्त आत्मा को पुनः जागृत कर दिया ।

उनकी अंतरात्मा में पश्चाताप पैदा होने लगा...और उनकी आँखों से पश्चाताप के आँसू बहने लगे । उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई ।

वे दोनों उस गुफा में से बाहर आए । वर्षा बंद हो चुकी थी । आकाश स्वच्छ था...चारों ओर प्रकृति का खुशनुमा वातावरण था । सूर्य की सुनहरी किरणों से वातावरण में आह्लादकता छा गई थी ।

राजीमती पुनः नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए गिरनार पर्वत पर चढ़ने लगी ।

रथनेमि भी नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए आगे बढ़े । प्रभु के चरणारविंद में पहुंचकर उन्होंने अपने पाप का निवेदन किया और पुनः प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी आत्मा को पवित्र स्वर्ण की भाँति शुद्ध बना लिया ।

13. पूर्व भव में कलंक देने से कलंकित बनी महासती-ऋषिदत्ता

卐 पूर्व भव में राजपुत्री गंगसेना ने दीक्षा अंगीकार की ।

卐 निःसंगा नाम की एक साध्वी
कठोर तप करती थी, उसके मान-सम्मान को देख
ईर्ष्यावश बनी गंगसेना साध्वी ने उस पर झूठा
आरोप लगाते हुए कहा,
`अहो ! दिन में यह तप करती है और
रात्रि में राक्षसी की तरह मृतक का मांस खाती है ।'

卐 बस, इस कलंक दान के कारण आगामी भव में
निर्दोष ऐसी महासती ऋषिदत्ता को भी
मानव-भक्षिणी का कलंक आया ।
हँसते हुए बँधे कर्म का भी विपाक
कितना कटु है ? उसको स्पष्ट करनेवाली यह चरित्र-कथा हमें
बोलने के पूर्व सोचने-समझने की प्रेरणा देती है ।

卐 अंत में निरतिचार चारित्र धर्म का पालनकर
सकल कर्मों के बंधन से मुक्त होकर
महासती ऋषिदत्ता ने शाश्वत
अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।
महासती-पद्मावती (11)

पद्मावती का चरित्र, उदायन राजा के चरित्र में समाविष्ट है ।

13. महासती ऋषिदत्ता

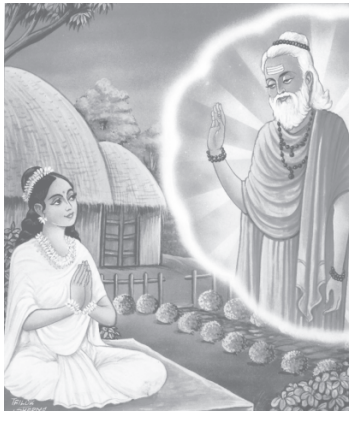

चूल्हे की आग को इन चर्मचक्षुओं के द्वारा देखा जा सकता है और उसे जल द्वारा शांत भी किया जा सकता है...परन्तु ईर्ष्या की आग इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देती है । मानव के अन्तर्मन में भड़कती इस आग को शांत करना अत्यंत ही कठिन कार्य है ।

आग से नष्ट हुई वस्तु तो धन द्वारा पुनः खरीदी जा सकती है...परन्तु मानव मन में उत्पन्न हुई ईर्ष्या की आग एक बार भड़कने के बाद जो भयंकर नुकसान पहुँचाती है...उसकी पूर्ति कदापि संभव नहीं है ।

प्रस्तुत है दिल को दहला देने वाली महासती ऋषिदत्ता की अत्यंत ही अद्‌भुत और रोमांचक कहानी–

भरत क्षेत्र का मध्य खंड ।

रथमर्दन नगर !

न्यायप्रिय और लोकहृदय में प्रतिष्ठित हेमरथ राजा !

सत्ता के सिंहासन पर आसीन होने वाले राजा तो बहुत होते हैं...परन्तु प्रजाजनों के हृदय में प्रतिष्ठित होने वाले सम्राट् विरले ही होते हैं ।

लोकहृदय में प्रतिष्ठित **हेमरथ** राजा के शील-संपन्न एवं वात्सल्यमूर्ति समान **सुयशा** नाम की मुख्य रानी थी ।

एक दिन महारानी सुयशा ने स्वर्णकांति के समान अत्यंत ही तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजा ने बड़ी धूमधाम से पुत्रजन्म का महोत्सव किया ।

राजा ने उस राजपुत्र का नाम **``कनकरथ''** रखा । दूज के चांद की

भाँति कनकरथ राजकुमार धीरे-धीरे बड़ा होने लगा । वय की वृद्धि के साथ कनकरथ के जीवन में सद्गुणों की भी वृद्धि होने लगी ।

समय बीतने पर वय से वृद्ध तो सभी हो जाते हैं...परन्तु गुणों से वृद्ध होने वाले कोई विरले ही होते हैं । जीवन में गुणवृद्धि के अभाव में हुई वय-वृद्धि का कोई विशेष महत्त्व नहीं है ।

यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही कनकरथ राजकुमार का देह सौंदर्य एकदम खिल उठा । अति आकर्षक गौर वर्ण, विशाल भाल, एकदम उज्ज्वल दंत पंक्ति, सघन श्याम घुंघराले बाल, तेजस्वी नेत्र, मजबूत छाती आदि आदि शारीरिक लक्षणों से युक्त देहसौंदर्य के साथ ही उसके जीवन में दया, दान, परोपकार, विनय, विवेक, नम्रता आदि गुणों का भी सुंदर संगम हो गया । सोने में सुगंध की भाँति जितना उसका बाह्य-व्यक्तित्व आकर्षक था, उतना ही आकर्षक उसका अभ्यंतर व्यक्तित्व भी था ।

कनकरथ पुरुषों की समस्त 72 कलाओं में निपुण बन चुका था, इसके साथ ही उसने धर्मकला भी हासिल की थी ।

व्यावहारिक शिक्षण कितना ही प्राप्त किया जाय परन्तु जीवन में यदि धर्मकला हासिल न हो तो सब कुछ बेकार ही है ।

इधर **कोबेरी** नगरी में **सुंदरपाणि** नाम के महाराजा थे । उस राजा के **वरसुधा** नाम की महारानी थी । राजा और रानी के इकलौती बेटी थी, जिसका नाम था **रुक्मिणी** । रुक्मिणी ने स्त्री के योग्य समस्त 64 कलाओं में निपुणता प्राप्त की । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही चंद्र की सोलह कलाओं की भाँति उसका सौंदर्य एकदम खिल उठा ।

नवयौवना पुत्री को देखकर राजा के दिल में उसके सुयोग्य वर की चिंता सताने लगी ।

इस संबंध में राजा ने मंत्रियों से सलाह ली ।

किसी वृद्ध मंत्री ने कहा, ``राजन् ! मैंने सुना है कि **रथमर्दन नगर** के महाराजा **हेमरथ** का पुत्र **कनकरथ** राजकुमार रूप-संपन्न होने के साथ-साथ गुणसंपन्न भी है । मेरी दृष्टि में तो कनकरथ अपनी राजकुमारी के लिए सुयोग्य वर सिद्ध हो सकता है । कन्या के योग्य वर को प्राप्त कर आप भी चिंता के भार से सदैव के लिए मुक्त हो सकते हैं ।

``वर की पसंदगी में प्रधानता गुणों की होनी चाहिए न कि रूप की । रूपवान व्यक्ति मिलना सुलभ है किंतु गुणवान व्यक्ति मिलना अत्यंत ही कठिन

है...और उसमें भी गुणवान के साथ-साथ रूपवान भी हो, ऐसे व्यक्ति का संयोग तो अत्यंत ही दुर्लभ है ।

``राजन् ! कनकरथ में, सोने में सुगंध की भाँति रूप व गुण दोनों का सुंदर संगम हुआ है, अतः ऐसे दामाद को प्राप्त कर आपका हृदय भी खुशी से नाच उठेगा ।''

राजा को वृद्ध मंत्री की सलाह पसंद आ गई ।

शुभ कार्य में विलंब करना उचित नहीं है और अशुभ कार्य को 'कल' पर टाल देने में ही हित रहा हुआ है ।

शुभ कार्य में कालविलंब न करें और अशुभ कार्य में सदैव काल क्षेप करते रहें । अपनी कन्या के पाणिग्रहण के लिए सुंदरपाणि राजा ने तत्काल निर्णय ले लिया । उसने एक दूत को तैयार किया और उसे स्थमर्दन-नगर में भेज दिया ।

दूत ने जाकर राजा से बात की । दूत की बात सुनकर हेमरथ राजा ने अपनी सहमति प्रदान कर दी ।

पिता की आज्ञा से कनकरथ राजकुमार ने अपने मित्र परिवार व सैन्य के साथ कोबेरी की ओर प्रयाण कर दिया ।

क्रमशः आगे बढ़ते हुए कनकरथ राजकुमार ने एक बार किसी नगर के बाहर अपना पड़ाव डाला । कनकरथ आम्र वृक्ष के नीचे बैठकर अपने मित्रों के साथ वार्तालाप कर रहा था, तभी किसी दूत ने आकर राजकुमार को कहा, ``हे कुमार ! हमारे राज्य की सीमा में प्रवेश करने के पूर्व आपने हमारे महाराजा अरिदमन की आज्ञा क्यों नहीं ली ? आपका यह अपराध अक्षम्य है अतः या तो अपने अपराध के लिए महाराजा के पास जाकर क्षमा याचना करें अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जायें ।''

युद्ध की बात सुनकर कनकरथ राजकुमार का खून गर्म हो गया... कोपायमान होकर कुमार ने कहा, ``तुम्हारे स्वामी को जाकर कह दो कि युद्ध के लिए तैयार हो जायें ।''

दूत ने जाकर अरिदमन राजा से बात की । दूत की बात सुनते ही अरिदमन राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया । अपने विशाल सैन्य दल के साथ वह युद्धभूमि में आ खड़ा हुआ । कुमार ने भी अपने सैन्य को युद्ध के लिए आदेश दे दिया ।

देखते-ही-देखते दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया । दोनों पक्ष के सैनिक जी जान से लड़ने लगे । युद्धभूमि रक्त रंजित हो गई । संध्या समय गिद्ध आदि अनेक पक्षी आ-आकर मृत कलेवरों की मिजबानी उड़ाने लगे ।

युद्ध भूमि में दोनों सेनाओं के वीर सैनिकों ने अद्‌भुत पराक्रम दिखलाया ।

आखिर कुमार ने अपना अद्‌भुत पराक्रम दिखाकर कुछ ही समय में अरिदमन राजा को जीवित पकड़कर कैदी बना लिया ।

अरिदमन को बंदी बनाने के साथ ही युद्धविराम की घोषणा हो गई । अरिदमन के सैन्य की हार हुई । कनकरथ राजकुमार ने आगे की ओर अपना प्रयाण प्रारंभ कर दिया । कुछ दिनों के बाद कनकरथ को अरिदमन राजा के प्रति दया आ गई...उसने उसे मुक्त कर दिया ।

युद्धभूमि में हजारों सैनिकों की मौत देखकर अरिदमन के दिल में इस संसार के प्रति वैराग्य पैदा हो गया । कनकरथ राजकुमार ने उसे मुक्त कर दिया । अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर अरिदमन राजा ने दीक्षा अंगीकार कर ली ।

अरिदमन ने विचारों का मंथन किया और वह इस निर्णय पर आया कि युद्धभूमि में निर्दोष प्राणियों को मौत के घाट उतार देना सरल है, परन्तु आत्मा के शत्रुभूत क्रोध आदि अंतरंग-शत्रुओं को जीतना अत्यंत ही दुष्कर कार्य है । युद्धभूमि में विजेता बनकर भी जो आत्मा के अंतरंग शत्रुओं को नहीं जीत पाया, वास्तव में युद्धभूमि में हुई उसकी जीत भी हार से कम खतरनाक नहीं है ।

``अब मुझे आत्मा के अंतरंग शत्रुओं से लड़कर उन्हें परास्त करना है'' इस प्रकार निर्णय कर वे रत्नत्रयी की साधना में आकंठ डूब गए ।

कुछ ही वर्षों में अरिदमन मुनि अपने अंतरंग शत्रुओं को परास्त करने में सफल हो गए । घाति-अघाति समस्त कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर वे हमेशा के लिए अजरामर पद के भोक्ता बन गये ।

2

कनकरथ ने अपना रथ आगे बढ़ाया । एक बार उन्होंने जंगल में पड़ाव डाला । संध्या का समय था । कनकरथ आम्रवृक्ष के नीचे बैठा हुआ था । उसके सभी साथी जंगल के प्राकृतिक सौंदर्य को देखने के लिए गये हुए थे । कुमार अपने साथियों के आगमन की इंतजारी कर रहा था । काफी लंबी इंतजारी के बाद कुमार ने अपने साथियों को आते हुए देखा ।

जिज्ञासावृत्ति से कुमार ने अपने साथियों को पूछा, ``दोस्तो ! इतनी देरी कैसे हुई ?''

मित्रों ने कहा, ``राजकुमार ! हम जंगल के प्राकृतिक दृश्यों को देखने

का आनंद लूट रहे थें...तभी अचानक पास के उद्यान में झूले में झूलती हुई अप्सरा जैसी कन्या को देखा । क्या उसका अद्भुत रूप था ? ऐसी सुंदर कन्या तो हमने अपने जीवन में कभी नहीं देखी । हम सोच में पड़ गए ``यह स्वर्ग से च्युत हुई कोई देवांगना है ? अप्सरा है ? किन्नरी है ? कामदेव की पत्नी है ?'' इस प्रकार हम विचार कर रहे थे...तभी अचानक वह कन्या अदृश्य हो गई । उस कन्या को पुनः देखने के लिए खूब कोशिश की, परन्तु हमारे सभी प्रयत्न निष्फल गए...हम उस कन्या को पुनः नहीं देख सके । बस, इसी कारण हमें यहाँ लौटने में देरी हुई है ।''

अपने साथियों की यह बात सुनकर राजकुमार भी विचार में पड़ गया । वह सोचने लगा **``इस भयंकर जंगल में वह कन्या कौन होगी ?''**

संध्या का समय बीत चुका था । आकाश में तारे टिमटिमाने लगे । रात्रि प्रारंभ हुई । कुमार भी उस कन्या के विचारों में निद्राधीन बन गया ।

प्रातःकाल हुआ । शौच आदि अन्य कार्यों से निवृत्त हुए कुमार ने कोबेरी की ओर प्रयाण के लिए अपनी यात्रा प्रारंभ कर दी ।

आगे बढ़ता हुआ कुमार सरोवर के तट पर आया...और अचानक वहाँ पर उसने एक अति अद्भुत कन्यारत्न को देखा । उस कन्या के अद्भुत रूप-लावण्य व सौंदर्य को देखकर उसके आश्चर्य का पार न रहा । ``अहो ! ऐसा कन्यारत्न क्या पृथ्वी पर उत्पन्न होना संभव है ? नहीं ! नहीं ! यह कोई स्वर्गीय कन्या लगती है । कितना अद्भुत इसका रूप है ? क्या खारे समुद्र में कपूर की बाढ आ सकती है ? क्या मरुभूमि में जल से भरा सरोवर मिल सकता है ?''

अचानक कुमार की दृष्टि पास में रहे विशाल जिनमंदिर पर गई । उस कन्यारत्न को देखने के लिए कुमार ने जैसे ही अपनी दृष्टि दौड़ाई...कुमार ने देखा-कन्यारत्न कहीं पर भी नजर नहीं आ रही है ।

कुमार ने सोचा, ``शायद वह कन्या जिनमंदिर में चली गई होगी'' इस प्रकार विचार कर कुमार ने भी जिनमंदिर में प्रवेश किया ।

जिनमंदिर में प्रवेश करने पर उसे ऋषभदेव परमात्मा की मनमोहक प्रतिमा दिखाई दी । कुमार ने अत्यंत ही भावपूर्वक प्रभु के दर्शन किये । निर्मलजल से प्रभु का प्रक्षालन कर सुगंधित पुष्पों द्वारा प्रभु की पूजा की । तत्पश्चात् अत्यंत ही भावपूर्वक वह प्रभु की स्तुति करने लगा ।

``हे जिनपुंगव ! हे नाभेय ! आपकी जय हो । भव्य जीवों को शाश्वत सुख प्रदान करने में आप ही समर्थ हो ।

हे प्रभो ! आपके दर्शन करने से मेरे चक्षु सफल हो गए हैं । हे प्रभो ! आपको वंदन करने से मेरा मस्तक सफल हो गया है । हे प्रभो ! आपकी स्तुति करने से मेरी वाणी सफल हो चुकी है ।

हे प्रभो ! आज मेरा दिन धन्य है, आज मेरे लिए सोने का सूरज उगा है । आपके दर्शन कर...आपको वंदन करने से मेरा जीवन धन्य हो गया है ।''

कनकरथ राजकुमार परमात्मा की इस प्रकार स्तुति कर रहा था, तभी वह कन्या हाथ में पुष्प लेकर उस मंदिर में आई । उसने अत्यंत ही भावपूर्वक परमात्मा की पूजा की और मधुर कंठ से प्रभु की स्तुति की ।

परमात्मा की पूजा व भक्ति कर कनकरथ कुमार और वह कन्या साथ-साथ मंदिर में से बाहर आये । उस कन्या ने कनकरथ कुमार को देखा । कनकरथ कुमार के बलिष्ठ व सुदृढ देह एवं अद्‌भुत रूप सौंदर्य को देखकर वह कन्या एकदम मोहित हो गई और सोचने लगी ``अहो ! क्या यह इन्द्र है, चंद्र है...साक्षात् सूर्य है...देव है अथवा कामदेव है !''

``अरे ! चंद्र तो कलंकी है । सूर्य तो तीक्ष्ण किरणों वाला है ! तो फिर यह कौन है ?''

इसी समय कुमार ने एक वृद्ध जटाधारी साधु को देखा ।

कुमार को देखकर उस जटाधारी साधु ने पूछा, ``तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो और कहाँ जा रहे हो ?''

वृद्ध साधु के इन प्रश्नों को सुनकर कुमार ने अपना विस्तृत परिचय दिया । कुमार ने वृद्ध साधु के पास खड़ी उस देवांगना जैसी कन्या को पुनः प्रेम सभर नजरों से देखा !

कुमार ने पूछा, ``महात्मन् ! यह मंदिर किसने बनवाया है और यह कन्या कौन है ?''

महात्मा ने कहा, ``कुमार ! इस मंदिर के निर्माण के पीछे लंबा-चौड़ा इतिहास रहा है । प्रभुपूजा के बाद मैं वह विस्तृत इतिहास तुम्हें सुनाऊंगा ।'' इतना कहकर वह साधु मंदिर में चला गया । उसने भावपूर्वक प्रभु की पूजा की । मंदिर में से बाहर निकलने के बाद वह वृद्ध साधु राजकुमार को अपनी झोपड़ी में ले गया । उस संन्यासी ने कुमार का हार्दिक स्वागत किया । उसके बाद जलपान नाश्ता कराया ।

फिर दोनों एक पलंग पर बैठ गए । वृद्ध संन्यासी ने मंदिर का इतिहास सुनाते हुए कहा, ``यहीं पास में देवों की नगरी अमरावती के समान

मित्रावती नाम की नगरी थी । उस नगरी में हरिषेण नाम का राजा था । उस राजा की रानी का नाम प्रियदर्शना था । उस राजा-रानी के अजितसेन नाम का राजपुत्र था ।

एक बार वह राजा वनभ्रमण के लिए घोड़े पर बैठकर निकला । परन्तु वह घोड़ा विपरीत शिक्षित होने से वह राजा ज्यों-ज्यों उस घोड़े को रोकने के लिए लगाम खींचता, त्यों-त्यों वह घोड़ा पवन की भाँति द्रुत गति से दौड़ने लगता । घोड़े पर सवार वह राजा अपनी नगरी से बहुत दूर एक भयंकर जंगल में आ पहुँचा । आखिर घोड़े पर दौड़ते हुए राजा ने वट वृक्ष की शाखा पकड़ ली । राजा वहीं रुक गया और घोड़ा आगे बढ़ गया । उसके बाद वह राजा अत्यंत सावधानी पूर्वक नीचे उतरा ।

पास के सरोवर में से मीठा जल पीकर उसने अपनी तृषा शांत की । उसके बाद उसने पास ही के आश्रम में प्रवेश किया । उस आश्रम में अनेक संन्यासी महात्मा थे । राजा ने उन संन्यासियों के कुलपति विश्वभूति को देखा । राजा ने भावपूर्वक कुलपति मुनि के चरणों में वंदन किया । विश्वभूति मुनि ने भी राजा को शुभाशिष प्रदान की ।

कुलपति ने पूछा, ``तुम कौन हो और यहाँ अकेले कैसे आए हो ?''

राजा कुलपति महोदय को अपना परिचय दे रहा था, तभी जंगल में चारों ओर कोलाहल सुनाई दिया । संन्यासी एक-दूसरे को इस आवाज का कारण पूछने लगे । तभी राजा ने कहा, ``मैं अनुमान करता हूँ कि मेरी शोध के लिए मेरा सैन्य आ गया लगता है । अतः एक बार मैं अपने सैन्य को अपना मुँह दिखा दूँ तत्पश्चात् आकर आगे की बात करूंगा ।'' वह राजा कुलपति के पास से खड़ा हो गया । वह अपने सैन्य के सम्मुख आगे बढ़ा ।

जैसे ही उस सेना ने राजा के दर्शन किये...वे प्रसन्न हो गये । राजा को प्राप्त कर वे चिंतामुक्त बन गये ।

वह राजा वापस कुलपति के पास आ गया । हरिषेण राजा को आश्रम का शांत स्थान पसंद पड़ गया । वह एक मास तक वहीं पर रहा । उसी राजा ने यह मंदिर बनवाया है ।

एक माह के बाद जब हरिषेण राजा अपने नगर की ओर लौटने लगा, तब प्रसन्न हुए कुलपति ने उस राजा को एक विषापहार मंत्र प्रदान किया ।

हरिषेण राजा ने अत्यंत ही धूमधाम के साथ उस नगर में प्रवेश किया । उसके बाद वह न्याय व नीतिपूर्वक राज्य का पालन करने लगा ।

एक बार वह राजा अपनी राजसभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था, तभी एक दूत ने आकर राजा को प्रणाम कर कहा, ``हे स्वामिन् ! पास में ही **मंगलावती** नगरी के **प्रियदर्शन** राजा की महारानी **विद्युत्प्रभा** की कुक्षि से उत्पन्न हुई **प्रीतिमती** नाम की नवयौवना राजकन्या को किसी दुष्ट सर्प ने डस लिया है । अनेक बाह्य उपचार करने पर भी वह विषमुक्त नहीं बन पाई है । सुना है कि आपके पास विषापहार मंत्र है ?

``हे स्वामिन् ! आप उस राजकन्या को जीवनदान देने की कृपा करें । वह राजा आपके उपकार को कभी नहीं भूल पाएगा ।''

दूत की बात सुनकर हरिषेण राजा ने सोचा, ``मुझे प्राप्त मंत्र से यदि किसी को अभयदान मिलता हो तो इससे श्रेष्ठ उस मंत्र का और क्या उपयोग हो सकता है ?'' इस प्रकार विचार कर परोपकार में कर्मठ वह राजा तत्क्षण अपने सिंहासन पर से खड़ा हो गया और द्रुतगतिवाली सांडनी पर सवार होकर थोड़ी देर में मंगलावती नगरी पहुँच गया । राजा ने कुलपति द्वारा प्रदत्त उस विषापहार मंत्र के प्रयोग से उस राजकुमारी को विषमुक्त किया । अपनी कन्या को विषमुक्त देखते ही प्रियदर्शन राजा प्रसन्न हो गया । तत्काल उसने अपनी कन्या हरिषेण राजा को प्रदान करने का निर्णय कर लिया । बड़ी ही धूमधाम से हरिषेण राजा के साथ उसने अपनी पुत्री का पाणिग्रहण करा दिया ।

हरिषेण राजा ने अपनी नवोढ़ा पत्नी के साथ महोत्सव पूर्वक अपने नगर में प्रवेश किया । समय बीतने लगा और एक शुभ दिन उस प्रीतिमती रानी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजा ने उस कुमार का नाम `धार' रखा ।

धीरे धीरे वह राजकुमार बड़ा होने लगा । एक दिन किसी अकाल मृत्यु की घटना को देखकर हरिषेण राजा को इस संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया । उसने बाल राजकुमार का राज्याभिषेक करा दिया और राज्य की समस्त जवाबदारी कुशल मंत्रियों के कंधों पर डालकर अपने संसारत्याग की घोषणा करा दी । यद्यपि राजा की रानी प्रीतिमती को गर्भ रह चुका था...परन्तु उसने यह बात किसी को नहीं कही और स्वयं रानी ने भी तापसी दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया ।

एक शुभ दिन हरिषेण राजा व प्रीतिमती रानी राज्य के समस्त वैभव का परित्याग कर आश्रम की ओर चल पड़े । सबसे आगे राजा व रानी चल रहे थे...उनके पीछे-पीछे आँखों में आँसू बहाते हुए सभी प्रजाजन चल रहे थे ।

क्रमशः आगे बढ़ते हुए राजा व रानी आश्रम के निकट पहुँचे । राजा ने सभी प्रजाजनों को आश्वासन दिया और उन्हें वापस जाने के लिए निवेदन किया ।

प्रजाजनों ने महाराजा के लिए शुभ कामनाएँ व्यक्त कीं और उनका मार्ग निष्कंटक बने, ऐसी प्रभु से प्रार्थना की ।

तत्पश्चात् राजा व रानी ने आश्रम में प्रवेश किया । विश्वभूति कुलपति ने उन दोनों को तापसी दीक्षा प्रदान की । तापस वेष में रहे राजा व रानी विश्वभूति कुलपति की सेवा शुश्रूषा करने लगे ।

समय बीतने लगा और प्रीतिमती तापसी के देह पर गर्भ के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे । अपनी पत्नी के गर्भ चिह्न को देखकर हरिषेण तापस ने पूछा, ``अरे यह क्या ? यह गर्भ किससे रहा ?'' इन प्रश्नों को सुनकर प्रीतिमती भी लज्जित हो गई । उसने कहा, ``गृहस्थ जीवन में आपसे ही यह गर्भ रहा हुआ है ।''

तो फिर संन्यास जीवन को स्वीकार करने से पहले तुमने यह बात क्यों नहीं कही ?

तापसी ने कहा, ``संयम में अंतराय के भय से मैंने पहले यह बात नहीं कही ।''

हरिषेण ने कहा, ``तुम्हारी इस भूल से हम तपस्वियों में लज्जापात्र बनेंगे । तापस आश्रम में गर्भ की घटना सभी के दिल में शंका कुशंका पैदा करती है । तापस जीवन का स्वीकार तो ब्रह्मचर्यव्रत के स्वीकार का प्रतीक है । यहाँ आने के बाद गर्भ के चिह्न दिखाई दें, यह तो हम सबके लिए भी लज्जा की बात है ।''

हरिषेण तापस सोच में पड़ गया । ``अब क्या किया जाय ?'' वह रात भर सोचता ही रहा ।

आखिर उसने निर्णय लिया कि हमारा यहाँ रहना ठीक नहीं है । इस घटना से तापस आश्रम भी कलंकित होगा । राजा व रानी उस आश्रम वन को छोड़कर शून्य वन की ओर आगे बढ़ने लगे । आगे बढ़ने पर उन्होंने पुष्प नाम के तापस को देखा ।

हरिषेण ने कहा, ``मेरी पत्नी ने गर्भ की बात नहीं कह कर अच्छा नहीं किया । अतः मैं अन्यत्र चलता हूँ ।''

मुनि ने कहा, ``इसमें तुम्हारा दोष कहाँ है ? अतः निरर्थक चिंता न करो ।''

अंत में राजा व रानी वसुभूति नाम के वृद्ध मुनि की सेवा में रहे ।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा । राजा व रानी बारबार अपनी भूल का पश्चाताप करने लगे । इस प्रकार प्रीतिमती तापसी ने नौ मास पूर्ण किये और उसने एक पुत्री को जन्म दिया । पुत्री के जन्म समय प्रीतिमती को अत्यधिक पीड़ा हुई और उस प्रसव की वेदना में ही उसकी अकालमृत्यु हो गई ।

ऋषि के आश्रम में पैदा होने के कारण उस पुत्री का नाम **'ऋषिदत्ता'** रखा गया । धीरे-धीरे ऋषिदत्ता बड़ी होने लगी । यह ऋषिदत्ता मेरी ही पुत्री है । मैंने ही इसका पालन-पोषण किया है ।

इसके अद्‌भुत रूप को देख कर कोई इसका अपहरण न कर ले...इसके लिए मैंने **'अदृश्यकारी'** अंजन तैयार किया है । इस अंजन के प्रभाव से कभी यह दिखाई पड़ती है और कभी अदृश्य हो जाती है । अदृश्य होकर यह जंगल में सुखपूर्वक परिभ्रमण कर सकती है ।

पुनः ऋषिदत्ता को देख कनकरथ राजकुमार उसके प्रति मोहित हो गया ।

हरिषेण तापस ने सोचा, ``यह पुत्री यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर चुकी है अतः क्यों न इस तेजस्वी राजकुमार को अपनी कन्या प्रदान कर इस कन्या के भार से मैं मुक्त बन जाऊँ ? अब मेरे जीवन का भी कोई भरोसा नहीं है इस प्रकार विचार कर हरिषेण तापस ने कहा, ``कुमार ! तुम्हारे औचित्य पूर्ण व्यवहार से मुझे पूर्ण संतोष है । अब मैं वृद्ध हो चुका हूँ...इस कन्या के भार से मुक्त होना चाहता हूँ...मेरी पुत्री के लिए तुम सुयोग्य वर हो, अतः तुम इस कन्या को स्वीकार करो ।''

हरिषेण तापस की यह बात सुनकर लज्जा से ऋषिदत्ता अधो-मुखी हो गई ।

ऋषिदत्ता के रूप व गुणों से आवर्जित बने कनकरथ ने तुरंत ही अपनी सहमति प्रदान कर दी ।

बस, उसी समय लग्न-मंडप तैयार किया गया और बड़े ही उत्साह के साथ में कनकरथ व ऋषिदत्ता के पाणिग्रहण का उत्सव मनाया गया ।

लग्न जीवन की स्वीकृति के बाद कई दिनों तक कनकरथ ऋषिदत्ता के साथ उसी आश्रम में रहा ।

एक दिन हरिषेण तापस ने गद्‌गद वाणी से कुमार को कहा, ``हे कुमार ! तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास रखकर मैंने यह कन्या तुम्हें अर्पित की है, अतः इसका अच्छी तरह से रक्षण करना । जंगल में पली हुई होने के कारण यह अत्यंत ही भोली-भाली है, अतः इसके कोमल दिल को किसी प्रकार का

आघात न लगे, इसके लिए पूर्ण सावधानी रखना। तुम अत्यंत ही गुणवान् हो, अतः तुम्हारे संग से मेरी पुत्री भी गुणवती बनेगी। मृग की नाभि में गई धूल भी सुगंधित हो जाती है, अतः तुम्हारे साथ रहने से यह भी सुखी हो जाएगी।

अब मेरा देह जर्जरित हो चुका है, वृद्धावस्था की पीड़ा को सहन करने में मैं अक्षम बन चुका हूँ अतः अग्नि में प्रवेश कर अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर देना चाहता हूँ।

वृद्ध तापस की यह बात सुनकर कुमार ने तापस के चरणों में गिरकर कहा, ``आप अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणत्याग न करें। इस प्रकार आत्महत्या करना तो दुर्गति का कारण है।''

उसी समय आँखों से सावन भादों बरसाती हुई ऋषिदता बोली, ``हे तात ! आपके दामाद जो कह रहे हैं, उसे आप स्वीकार करें। आप इस प्रकार अग्नि में प्रवेश कर अपनी जीवन-लीला समाप्त न करें।''

कुमार व पुत्री के दर्दभरे वचनों को सुनकर तापस मुनि ने कहा, ``वत्से ! तू शोक मत कर।'' मेरी इन शिक्षाओं को ध्यान पूर्वक याद रखना।

1. गुरुजनों की सेवाशुश्रूषा करना।

2. हमेशा शील धर्म का पालन करना।

3. अपनी शोक्या के प्रति भी कोप मत करना।

4. सुख और दुःख में भी धर्म को मत भूलना क्योंकि इस जगत् में एक मात्र धर्म ही प्राणियों के लिए माता और पिता तुल्य है।

मैं एकदम वृद्ध हो चुका हूँ। वृद्धत्व के भार को वहन करने में मैं पूर्णतया अक्षम हूँ। मेरी चिंता तुम छोड़ दो। अब तो मेरे लिए मरण ही शरण है। इतना कहकर पंच परमेष्ठी के ध्यान में परायण उस तापस मुनि ने अग्नि में प्रवेश कर लिया।

पिता मुनि के अग्नि-प्रवेश के साथ ही ऋषिदत्ता भूमि पर ढल पड़ी और एकदम करुण कल्पांत विलाप करने लगी।

``हे तात ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गए ? आप ही मेरे परम आधार थे। मैंने जन्म के बाद माता का मुख भी नहीं देखा था। आप ही मेरी माता थे। अहो ! अब आपका भी मेरे लिए वियोग हो गया ?''

यद्यपि कनकरथ को भी हरिषेण तापस मुनि के वियोग से अत्यंत आघात लगा था...परन्तु अब उस वियोग की वेदना को सहन किये बिना छुटकारा नहीं था। कनकरथ ने ऋषिदत्ता को खूब आश्वासन दिया और उसे शांत किया।

कनकरथ ने सोचा, ``अब यहाँ रहेंगे तो ऋषिदत्ता को अपने पिता की याद ज्यादा सताएगी, अतः क्यों न यहाँ से प्रयाण कर दिया जाय ।'' इस प्रकार विचार कर एक दिन उसने पुनः अपने नगर की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया...और कुछ ही दिनों बाद वह अपने नगर लौट आया । महाराजा ने अपने नवविवाहित पुत्र व पुत्रवधू का भव्य प्रवेश महोत्सव कराया ।

कनकरथ ने अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया । ऋषिदत्ता ने भी अपने सास-ससुर के चरणों में प्रणाम किया ।

ऋषिदत्ता के अद्‌भुत रूप, विनय, नम्रता, सरलता, वाणी में मधुरता, कोमलता आदि गुणों से पूरा परिवार खूब-खूब प्रभावित हुआ ।

कनकरथ के माता-पिता भी गुणवती पुत्रवधू को पाकर खुश हो गए ।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, व्यक्ति अपने भूतकाल को भूलता जाता है । दुःख का औषध काल ही है । ऋषिदत्ता को अपने पिता के वियोग की जो वेदना थी, वह धीरे-धीरे कम होने लगी । वह अपने मृदु स्वभाव के कारण परिवार में एकदम घुल मिल गई । समय बीतने लगा ।

2. ईर्ष्या की आग

स्त्री में कोमलता, सहनशीलता, वात्सल्य आदि अनेक गुण होते हैं । प्रसव की पीड़ा को स्त्री ही सहन कर सकती है । संतान को पूर्ण प्रेम व वात्सल्य, माता ही प्रदान कर सकती है । फिर भी वो स्त्री जब ईर्ष्या की शिकार बन जाती है, तब वह भयंकर से भयंकर कुकृत्य करने के लिए भी तैयार हो जाती है ।

कनकरथ राजकुमार कोबेरी की राजपुत्री रुक्मिणी के साथ पाणिग्रहण करने के लिए निकला था...परन्तु बीच मार्ग में ऋषिदत्ता जैसी रूपवती व गुणवती कन्या के साथ पाणिग्रहण हो जाने के कारण उसने रुक्मिणी के साथ पाणि-ग्रहण करने का विचार ही छोड़ दिया था ।

जब रुक्मिणी को इस बात का पता चला कि उसके भावी पति ने बीच मार्ग में ही ऋषिदत्ता के साथ शादी कर ली है, तब उसके आघात का पार न रहा । रुक्मिणी अपने हृदय से कनकरथ को चाहती थी । उसके दिल में कनकरथ को छोड़ अन्य किसी को स्थान नहीं था ।

रुक्मिणी चिंतासागर में डूब गई, ``क्या कनकरथ राजकुमार मेरे साथ पाणिग्रहण नहीं करेगा ? क्या वह मुझे अपनी पत्नी नहीं बनाएगा ? क्या

इस जीवन में मैं उन्हें प्राप्त नहीं कर पाऊंगी ?'' इस प्रकार चिंता-सागर में डूबी हुई रुक्मिणी एकदम हताश हो गई । उसका सारा आनंद समाप्त हो गया ।

दु:ख के गर्त में डूबी हुई रुक्मिणी को अचानक एक योगिनी (जोगिनी) नारी से संपर्क हो गया । अपनी मनोकामना को पूर्ण करने के लिए रुक्मिणी ने उस योगिनी की खूब सेवा-भक्ति की और उसे प्रसन्न किया ।

रुक्मिणी ने सोचा, ``ऐसे तो मेरे भावी पति मुझ से लग्न करने के लिए आनेवाले नहीं हैं, परन्तु इस योगिनी की मदद से वे जरूर आ सकेंगे ।'' इस प्रकार विचार कर रुक्मिणी ने उस योगिनी को प्रसन्न करने के लिए कहा, ``यदि तुम मेरा काम सिद्ध कर दोगी तो मैं तुम्हें मुंहमांगा धन दूंगी ।''

योगिनी ने पूछा, ``कौन सा कार्य है ?''

रुक्मिणी ने कहा, ``स्थमर्दनपुर के राजपुत्र के साथ मुझे पाणिग्रहण करने का है । वे यहाँ आने के लिए अपने मित्र परिवार के साथ निकल पड़े थे, परन्तु बीच मार्ग में ही उन्होंने ऋषिदत्ता के साथ शादी कर ली है...अत: जब तक ऋषिदत्ता जीवित है, तब तक तो वे यहाँ आए, ऐसी कोई संभावना दिखाई नहीं पड़ती है, अत: ऐसा कोई उपाय करो कि जिससे इस ऋषिदत्ता का पत्ता कट जाय और कनकरथ के साथ मेरा पाणिग्रहण हो जाय ।''

रुक्मिणी की यह बात सुनकर योगिनी ने कहा, ``बहिन ! तुम सब चिंता छोड़ दो...मैं तुम्हारा सब काम निपटा दूंगी । ऐसा सुंदर उपाय करूंगी कि कनकरथ यहाँ आए बिना नहीं रहेगा ।''

रुक्मिणी ने कहा, ``मेरे इस कार्य की सिद्धि के लिए धन आदि की आवश्यकता हो तो मुझे कह देना ।''

योगिनी ने कहा, ``मंत्र की सिद्धि के लिए कुछ सामग्री की आवश्यकता रहेगी ।''

``तुम वह सब सामग्री बाजार से खरीद लेना-उसका मूल्य मैं चुका दूंगी ।'' रुक्मिणी ने कहा ।

...और एक दिन योगिनी ने अपनी कपट-लीला चालू कर दी । वह योगिनी स्थमर्दनपुर चली गई । वहाँ जाकर उसने अपनी मंत्र-साधना प्रारंभ कर दी ।

रात्रि का समय था । उस योगिनी ने अपनी मलिन-विद्या के बल से नगर में किसी व्यक्ति की हत्या की । उसके बाद वह गुप्त रूप से ऋषिदत्ता के शयनखंड में पहुँच गई और उसने ऋषिदत्ता के मुख पर खून के दाग लगा दिए और उसके तकिये के पास मांस के टुकड़े बिखेर दिये ।

अपनी विद्या के बल से यह सारा नाटक कर वह योगिनी नगर में अन्यत्र छुप कर रह गई । इधर किसी पुरुष की हत्या होने से नगर में चारों ओर कोलाहल मच गया । हत्यारे को पकड़ने के लिए चारों ओर छान-बीन...अनेक उपाय करने पर भी वह हत्यारा पकड़ा नहीं गया ।

नगर में हो रहे कोलाहल को सुनकर अपने शयनखंड में सो रहे कनकरथ की निद्रा भंग हो गई । अचानक उसने पास में सो रही ऋषिदत्ता के मुख को देखा...खून से लिप्त उसके मुख को देखकर कनकरथ के आश्चर्य का पार न रहा । उसने ऋषिदत्ता के तकिये के पास भी मांस के टुकड़े देखे । यह सब देख वह सोच में पड़ गया ।

उसने ऋषिदत्ता को जगाया और मुँह पर लगे खून के दाग बताए । ऋषिदत्ता ने दर्पण में अपना मुँह देखा तो उसके भी आश्चर्य का पार न रहा ।

कनकरथ ने उसका कारण पूछा ।

ऋषिदत्ता ने सरल हृदय से कहा, ``मुझे कुछ भी मालूम नहीं है ।''

कनकरथ के कहने से उसने अपना मुँह साफ कर लिया और मांस के टुकड़े बाहर फेंक दिये ।

दूसरे दिन की रात्रि में उस घटना का पुनरावर्तन हुआ । नगर में किसी नवयुवक की हत्या हो गई । लोगों ने जाकर राजा को निवेदन किया कि नगर में रोज-रोज हत्याएँ हो रही हैं, अतः उस हत्यारे को पकड़ा जाय और उसे कड़ी सजा की जाय ।

राजा ने सभी चौकीदारों और सैनिकों को आदेश दिया कि हत्यारे को शीघ्र पकड़ कर मेरे सामने प्रस्तुत किया जाय ।

रात और दिन प्रयास करने पर भी वे सैनिक हत्यारे को पकड़ने में सफल नहीं हो पाए । आखिर अनुमान किया गया कि कोई अदृश्य शक्तिवाला व्यक्ति ही इस प्रकार की हत्याएँ कर सकता है ।

इधर दूसरे-तीसरे दिन की रात्रि में भी जब कनकरथ ने अपनी पत्नी ऋषिदत्ता के मुँह को खून से लथपथ देखा और आसपास मांस के टुकड़े देखे तो उसके मन में संदेह पैदा हुआ, ``क्या मेरी पत्नी राक्षसी तो नहीं है ? क्या वो तो प्रतिदिन नगर में हत्याएँ नहीं कर रही है ?'' इस प्रकार अनेक कुविकल्पों को करते हुए राजकुमार कनकरथ ने ऋषिदत्ता को जगाकर पूछा- ``नगर में प्रतिदिन रात्रि में एक-एक पुरुष की हत्या हो रही है । क्या यह कार्य तुम तो नहीं कर रही हो ?''

ऋषिदत्ता तो यह सुनकर एकदम स्तब्ध हो गई ।

उसने कहा, ``आपके दिल में यह कल्पना कैसे आई ?''

कनकरथ ने कहा, ``देख, तेरा मुंह खून से लथपथ है और तेरे तकिये के आसपास भी मांस के टुकड़े पड़े हैं ।''

``स्वामिन् ! मैंने अपने जीवन में न तो कभी किसी जीव की हत्या की है और न ही कभी मांसाहार किया है, क्या आप मेरे पूर्व जीवन से परिचित नहीं हैं ?'' मुझे लगता है कि सिर्फ मुझे बदनाम करने के लिए ही यह षड्यंत्र रचा गया है । सचमुच, मेरे ही अशुभ कर्म के उदय का फल है । पता नहीं, अब क्या होगा ? मेरा दाहिना नेत्र भी स्फुरित हो रहा है । इस आपत्ति में आप ही मेरे लिए परम आधार हो ।'' इस प्रकार बोलती हुई ऋषिदत्ता की आँखें भी आँसुओं से भर गईं ।

ऋषिदत्ता के इन वचनों को सुनकर कनकरथ ने आश्वासन देते हुए कहा, ``जब तक मेरे देह में प्राण है, तब तक मैं तेरा बाल भी बाँका होने नहीं दूंगा । तू निश्चिंत रह ।''

कनकरथ व ऋषिदत्ता के बीच इस प्रकार वार्तालाप होने के बाद भी प्रतिदिन नगर में एक-एक व्यक्ति की हत्या होती रही और ऋषिदत्ता का मुँह खून से लथपथ होता रहा । कनकरथ उसके मुँह को साफ कराता रहा ।

एक दिन राजा ने मंत्रियों को कठोर शब्दों में आदेश देते हुए कहा- ``किसी भी उपाय से उस दुष्ट को पकड़ लिया जाय ।''

किसी एक मंत्री ने कहा, ``राजन् ! हत्या का यह कार्य करनेवाला कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है, कोई साधु-संन्यासी या बाबा-फकीर होना चाहिए ।''

राजा ने कहा, ``यदि जरूरत पड़े तो उन सबको नगर में से बाहर निकाल दो ।''

मंत्री ने कहा, ``इस संबंध में जल्दी ही निर्णय लेकर योग्य कदम उठाया जाएगा ।''

राजा के आदेश की गंध उस दुष्टा योगिनी को आ गई । उसने देखा ``अब जल्दी ही मुझे अपना कार्य सिद्ध कर देना होगा ।'' इस प्रकार विचार कर वह उसी दिन शाम को महाराजा के पास पहुँच गई और औपचारिक बातचीत करने के बाद बोली, ``राजन् ! मैं आपसे एकांत में मिलना चाहती हूँ ।''

राजा ने तत्काल अन्य सभासदों को बाहर जाने के लिए आदेश दे दिया ।

एकांत देखकर अत्यंत ही मीठे व मधुर शब्दों द्वारा राजा के दिल को जीतते हुए बोली, ``राजन् ! नगर में प्रतिदिन हो रही हत्याओं का भेद मुझे मिल गया है...परन्तु जहां तक मैं सोचती हूँ...आप मेरे शब्दों पर विश्वास नहीं करेंगे ।''

``नहीं ! नहीं ! ऐसी कोई बात नहीं है जो हो सो सत्य कहो, ताकि एक समस्या का शीघ्र अंत आ जाय ।''

योगिनी ने अवसर देखकर कहा, **``राजन् ! कल ही स्वप्न में किसी देव ने आकर मुझे कहा, ``नगर में सभी साधु-संन्यासी तो निर्दोष हैं, नगर में हो रही हत्याओं का मूल तो राजमहल में ही है ।''**

मैंने पूछा, ``वह कौन है ?''

देव ने कहा, ``वह है ऋषिदत्ता ।''

``राजन् ! आपके घर की गुप्त बात मुझे प्रकट नहीं करनी चाहिए...परन्तु प्रजाहित को ध्यान में रखकर ही मैंने यह भेद प्रकट किया...अब इसके लिए आप मुझे सजा भी कर सकते हैं और इनाम भी दे सकते हैं, मैंने तो सिर्फ अपना कर्तव्य अदा किया है ।''

``ऋषिदत्ता'' का नाम सुनकर राजा एकदम चौंक उठा ।

राजा ने कहा, ``मुझे विश्वास नहीं आ रहा है कि जंगल में पली निर्दोष ऋषिकन्या ऋषिदत्ता ऐसा पाप कर सकती है ?''

``राजन् ! आप विश्वास-अविश्वास की बात छोड़ दें । आज रात्रि में आप स्वयं ही उसकी करतूत को देख सकते हैं । स्त्री की कपट-लीला को स्त्री ही जान सकती है । आज रात्रि में आप स्वयं प्रत्यक्ष देख सकोगे ।''

इतना कहकर उस योगिनी ने वहाँ से विदाई ले ली ।

संध्या के समय जब राजकुमार कनकरथ राजा से मिलने के लिए आया, तब राजा ने कहा, ``बेटा ! आज मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, आज तुम मेरे पास ही रहना ।''

पिता की यह बात सुनकर राजकुमार कनकरथ संदेह में डूब गया । क्या आज मेरी निर्दोष पत्नी पर कोई कलंक मढ़ा जाएगा ? क्या उसकी निर्दोषता पर कुठाराघात होगा ? प्रभो ! मैंने उसे पूर्ण विश्वास दिलाया था कि मेरे होते तुम्हारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा । अहो ! हे प्रभो ! तू ही उसका बेली है । उसकी लाज तेरे ही हाथों में है । रात्रि का समय हुआ ।

इधर ऋषिदत्ता को आश्वासन देकर ज्योंही कनकरथ अपने पिता के

महल की ओर आगे बढ़ने लगा, त्योंही ऋषिदत्ता का दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा । अमंगल के भावी भय से उसका हृदय काँप उठा । फिर भी प्रभु का स्मरण कर वह पलंग पर लेट गई ।

राजकुमार कनकरथ अपने पिता के महल में ही सोया हुआ था...परन्तु आज उसकी नींद हराम हो चुकी थी ।

3. भयंकर कलंक

रात्रि का समय धीरे-धीरे बीतने लगा । रात्रि में एक प्रहर पूरा होने के साथ ही नगर में किसी पुरुष की हत्या हो गई । राजा के आदेश से कुछ गुप्तचर लोग ऋषिदत्ता के महल की चारों ओर चौकी कर रहे थे ।

रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने के बाद रोज के क्रम के अनुसार आज भी ऋषिदत्ता का मुँह खून से लथपथ हो चुका था और उसके पलंग के आसपास मांस के टुकड़े भी बिखरे हुए पड़े थे ।

जैसे ही एक गुप्तचर ने खिड़की में से झाँककर ऋषिदत्ता के शयन-खंड में नजर की, वह एकदम चौंक उठा । अहो ! नगरवासियों की हत्यारिन तो यह राजा की पुत्र-वधू है ।

तुरंत ही गुप्तचर ने जाकर राजा को सारे समाचार दिये । राजा ने भी प्रत्यक्ष अपनी आँखों से ऋषिदत्ता के मुख को खून से लथपथ देखा और आसपास पड़े मांस के टुकड़े देखे । यह दृश्य देख वह आगबबूला हो उठा । उसने राजकुमार को ठपका देते हुए कहा, ``अरे कुलांगार ! अपनी पत्नी के राक्षसी चरित्र को जानते हुए भी तुमने यह बात प्रकट नहीं की ?''

कनकरथ ने कहा, ``पिताजी ! मेरी पत्नी निर्दोष है । आप व्यर्थ ही उस पर आरोप लगा रहे हैं ।''

राजा ने कहा, ``चल, तू भी मेरे साथ चल और अपनी पत्नी के कुकृत्य को प्रत्यक्ष देख ले ।''

राजा अपने पुत्र को लेकर ऋषिदत्ता के महल के पास आ गया और उसने अपने पुत्र को भी ऋषिदत्ता का खून से लथपथ मुँह बतलाया ।

ऋषिदत्ता के पवित्र चरित्र को जानते हुए भी राजकुमार के पास ऋषिदत्ता के बचाव के लिए अब कोई अवकाश नहीं था । उसे पूर्ण विश्वास था कि ``निर्दोष ऐसी मेरी पत्नी किसी दुष्ट व्यक्ति की शिकार हो गई है । उसे बदनाम करने के लिए ही यह सारा षडयंत्र रचा गया है ।''

बस, तत्काल राजा ने दंडपाशिक को आदेश देते हुए कहा, ``इस दुष्टा राक्षसी को नगर के बाहर ले जाकर मार डालो ।''

राजा की आज्ञा होते ही दूसरे दिन उस ऋषिदत्ता को काला मुँह करके नगर में घुमाया गया और वे दंडपाशिक उसे श्मशान घाट पर ले गए ।

निर्दोष व पवित्र ऋषिदत्ता पर आई इस आपत्ति को जानकर सारे नगरवासी भी श्मशान घाट पर आ गए और आँखों से आँसू बहाने लगे ।

संध्या का समय हो चुका था । सूर्य भी निर्दोष ऐसी ऋषिदत्ता को दिए जा रहे दंड को देखने में असमर्थ होने से अस्ताचल की गोद में छिप गया था । नगरजनों के रुदन को देखकर वे दंडपाशिक ऋषिदत्ता को भयंकर जंगल में ले गए । उसे खत्म करने के लिए एक दंडपाशिक ने ज्योंही तलवार उठाई...त्योंही तलवार के भय से ऋषिदत्ता भूमि पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ी ।

ऋषिदत्ता को मूर्च्छित देखकर दंडपाशिक ने सोचा, ``यह स्वयं ही मर चुकी है तो इसे मारने की क्या जरूरत है ।'' इस प्रकार विचार कर वे दंडपाशिक तलवार से कुछ भी प्रहार किए बिना ही वापस अपने नगर लौट आए और उन्होंने राजा को समाचार दे दिए कि उन्होंने ऋषिदत्ता की हत्या कर दी है ।

ऋषिदत्ता की हत्या के समाचार सुनते ही राजकुमार कनकरथ मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा ।

राजा व रानी ने जल का छंटकाव कर उसकी मूर्च्छा दूर की और उसे ऋषिदत्ता को भूल जाने के लिए खूब-खूब समझाया ।

राजकुमार की दृष्टि में ऋषिदत्ता पूर्णत: निर्दोष थी...परन्तु राजा व रानी की दृष्टि में दोषित थी । राजकुमार के सामने यही समस्या थी कि वह ऋषिदत्ता को किस प्रमाण से निर्दोष सिद्ध कर सके । उसके पास कोई उपाय नहीं था ।

मारनेवाले से बचानेवाले के चार हाथ होते हैं । हेमरथ राजा के दंडपाशिक पुरुष ऋषिदत्ता को मृत समझ कर उसे जंगल में ही छोड़कर चले गए थे । ऋषिदत्ता बेहोश पड़ी थी । धीरे धीरे रात्रि में शीतल पवन की लहरों से ऋषिदत्ता होश में आई ।

प्रात:काल हो चुका था...चारों ओर प्रकाश फैल चुका था...परन्तु ऋषिदत्ता के जीवन में तो अभी गाढ़ अंधकार ही था । चारों ओर पक्षियों का मधुर कलरव सुनाई दे रहा था, परन्तु ऋषिदत्ता के जीवन में कहीं कोई आनंद नहीं था ।

वह अपने कर्म को दोष देती हुई बोली, **``हे आत्मन् ! गत भव में तुमने हँसते-हँसते भयंकर कोटि के पाप कर्मों का बंध किया है, उसी के परिणाम स्वरूप आज तेरी यह दुर्दशा हुई है । जिन पाप कर्मों का बंध किया है, उन पाप कर्मों की सजा सहन किए बिना छुटकारा नहीं है । हे आत्मन् ! उत्साह पूर्वक पाप कर्मों का बंध किया है तो उन कर्मों की सजा भी उत्साह पूर्वक सहन करनी चाहिए । पाप कर्मों की सजा को रोते-रोते सहन करने से वे पाप कर्म छूटने वाले नहीं हैं, बल्कि नवीन पाप कर्मों का ही बंध होने वाला है ।**

``हे आत्मन् ! तुमने पूर्व भव में किसी निर्दोष प्राणी पर झूठा आरोप लगाया होगा, उसी का यह कटु परिणाम है कि आज तुम सर्वथा निर्दोष होते हुए भी कलंकित बनी हो ।''

इस प्रकार के शुभ-विचारों द्वारा ऋषिदत्ता अपनी आत्मा को पुनः पुनः समझाने लगी ।

मार्ग-भ्रष्ट बनी ऋषिदत्ता अपनी सुरक्षा के लिए जंगल में एक दिशा की ओर आगे बढ़ने लगी...इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ती हुई वह अपने पिता के आश्रम में पहुँच गई ।

जिस भूमि पर उसके पिता मुनि ने आत्म-दहन (अग्नि-स्नान) किया था, उस स्थान को देख, उसे अपने पिता मुनि की याद ताजी हो गई । वह अत्यंत ही करुण विलाप करती हुई बोली, ``हे तात ! आप अपनी इस इकलौती बेटी को रोती-बिलखती छोड़कर कहाँ चले गए ? आपकी यह पुत्री अमाप दुःख के महासागर में डूबी हुई है । आप उसके ऊपर करूणा करें । मैं शरणहीन हूँ...आप मेरी रक्षा करें । हे तात ! इस शून्यवन में आपके बिना मैं अत्यंत ही दुःखियारी हूँ । मैं किसके आगे पुकार करूँ ? मेरी वेदना को सुननेवाला कौन है ?

``हे तात ! जब आप जीवित थे, तब यह वन मेरे लिए नंदनवन समान था परन्तु आज आपके चले जाने से यह वन मेरे लिए अत्यंत ही भयंकर हो गया है ।

``हे तात ! यदि मैं आपको जीवित देखूँ तो मेरे लिए दुःख भी उत्सव रूप बन जाय ।''

इस प्रकार करुण विलाप करती हुई वह अपना समय व्यतीत करने लगी ।

ऋषिदत्ता वन के फल-फूल खाकर अपने पिता की झोपड़ी में रहती हुई अपने दुःख के दिन व्यतीत करने लगी ।

एक दिन अचानक उसके दिल में विचार आया, ``इस शून्य वन में

मैं अपने शील का रक्षण कैसे कर पाऊंगी ?'' इस प्रकार विचार कर रही थी तभी उसके दिमाग में एक विचार बिजली की भाँति कोंध गया ।

``अहो ! मेरे पिता ने एक औषधि बतलाई थी जिसके प्रभाव से मैं अपने आपको पुरुष के वेष में रूपांतरित कर सकती हूँ ।'' बस, इस प्रकार विचार कर उसने चारों ओर उस औषधि की शोध प्रारंभ की ।

सद्भाग्य से उसे वह औषधि मिल गई । उस औषधि को खाकर वह पुरुष के रूप में बदल गई ।

अब वह ऋषिदत्ता ``ऋषिकुमार'' के रूप में उस आश्रम में रहने लगी और परमात्मा की पूजा-भक्ति आदि शुभ प्रवृत्तियों में अपना समय बिताने लगी ।

प्रस्थान

ऋषिदत्ता को कलंकित करने की अपनी जवाबदारी पूर्णकर वह योगिनी कोबेरी पहुँच गई और वहाँ जाकर उसने रुक्मिणी को समाचार दिये, ``नर-भक्षिणी के रूप में ऋषिदत्ता को मैंने कलंकित किया है । उसके श्वसुर ने उसे अपमानित कर नगर से बाहर निकालकर मरवा दिया है । अब मेरा कार्य पूरा हो गया है ।''

योगिनी की यह बात सुनकर रुक्मिणी खुशी से नाच उठी । उसने उस योगिनी को मुँह मांगा धन देकर विदा किया ।

रुक्मिणी ने अपने पिता को कहलाया, ``मैं इस जीवन में शादी तो कनकरथ के साथ ही करूंगी-अन्य किसी राजकुमार के साथ नहीं ।''

पुत्री के दिल में कनकरथ के प्रति रहे अनुराग-भाव को देखकर राजा ने एक दूत तैयार किया और उसे अच्छी तरह से समझा-बुझाकर स्थमर्दनपुर की ओर रवाना किया ।

थोड़े दिनों में वह दूत स्थमर्दनपुर पहुँच गया ।

दूत ने जाकर हेमस्थ राजा को कहा, ``हमारे महाराजा ने आपकी कुशलता चाही है और आपको यह अमूल्य भेंट भेजी है ।'' उसी समय दूत ने एक कीमती हार राजा को भेंट किया । तत्पश्चात् राजा ने दूत के आगमन का विशेष प्रयोजन पूछा ।

दूत ने कहा, ``हमारे महाराजा ने कहलाया है कि रुक्मिणी ने कनकरथ के साथ ही पाणिग्रहण करने का संकल्प किया है, वह उन्हीं में अनुरक्त है, अतः अपने राजकुमार को परिवार सहित रुक्मिणी के साथ

पाणिग्रहण करने के लिए शीघ्र रवाना करें ।''

दूत की बात सुनकर हेमरथ राजा ने अपने पुत्र कनकरथ को बुलाया और कहा, ``बेटा कनकरथ ! तू हताश मत बन ! मन में से निराशा को दूर कर दे । ऋषिदत्ता को तू भूल जा । कोबेरी की राजपुत्री रुक्मिणी तुम्हारे में अनुरक्त है और वह तुमसे पाणिग्रहण करना चाहती है, अतः तुम अपने मित्र-परिवार के साथ कोबेरी के लिए प्रयाण करो ।''

यद्यपि कनकरथ को पुनः पाणिग्रहण करने की कतई इच्छा नहीं थी । उसके दिल में तो सदैव ऋषिदत्ता की ही छवि अंकित थी...फिर भी वह पिता की आज्ञा को ठुकरा न पाया । इच्छा नहीं होने पर भी उसने एक दिन अपने मित्र-परिवार व सैन्य के साथ कोबेरी की ओर प्रयाण प्रारंभ कर दिया ।

क्रमशः आगे बढ़ता हुआ कनकरथ एक दिन उसी आश्रम में पहुँचा...जहाँ उसने ऋषिदत्ता को देखा था...और उस भोली-भाली निर्दोष ऋषिकन्या के साथ पाणिग्रहण किया था । विशाल जिनमंदिर को देखते ही उसे वे संस्मरण पुनः ताजे हो गए ।

कनकरथ राजकुमार ने उसी आश्रम के पास अपना पड़ाव डाला । उसके बाद पुष्पादि पूजा की सामग्री लेकर उसने जिन मंदिर में प्रवेश किया । मंदिर में प्रवेश करते ही उसका दाहिना नेत्र स्फुरित होने लगा ।

उसने सोचा, **``दाहिने नेत्र का स्फुरण तो प्रिया के संगम का सूचक है...परन्तु जो प्रिया मौत को भेंट चुकी है, उसका संगम अब कैसे हो सकता है ? विशुद्ध धर्म की आराधना ही प्रिय व्यक्ति का मिलन कराती है और पाप का संचय प्रिय व्यक्ति के वियोग के लिए होता है ।''**

राजकुमार इस प्रकार सोच रहा था, तभी पुरुष वेष में रही ऋषिदत्ता हाथ में पुष्पादि की सामग्री लेकर वहाँ आ गई । कुमार ने जैसे ही ऋषिकुमार को देखा, उसी समय उसे प्रिया के संगम की भाँति ही आनंद की अनुभूति होने लगी ।

उसी समय ऋषिकुमार ने भी सोचा, ``क्या मेरे स्वामी रुक्मिणी के साथ विवाह करने के लिए जा रहे हैं ?''

परमात्मा की पूजा से निवृत्त होने के बाद ऋषिकुमार ने बड़े ही आदर-सम्मान के साथ कनकरथ को योग्य आसन पर बिठाया और परस्पर विचार-गोष्ठी की । ऋषिकुमार ने कनकरथ को आदर पूर्वक भोजन कराया ।

कनकरथ ने कहा, ``आप कौन हो और यहाँ आपका आगमन कैसे हुआ ?''

अपनी मूल बात को छिपाते हुए ऋषिकुमार ने कहा, ``इस आश्रम में पहले हरिषेण नाम के मुनि थे...मैं उनका पालित पुत्र हूँ । उनके ऋषिदत्ता नाम की पुत्री थी । कुछ वर्षों पूर्व किसी राजकुमार के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ था और वह राजकुमार उस कन्या को लेकर अपने नगर में चला गया था । उस समय हरिषेण मुनि ने अग्नि-प्रवेश कर अपने जीवन का अंत ला दिया था । उस समय मैं यहाँ पर नहीं था । पृथ्वीतल पर घूमते हुए पाँच वर्ष पूर्व मैं यहाँ आया था, तब से मैं यहीं पर हूँ । आज आपके दर्शन कर मैं भी कृतार्थ हो गया हूँ ।''

कनकरथ ने सोचा, ``यदि मैं इस कुमार को अपनी सत्य घटना से वाकिफ करूंगा तो ऋषिदत्ता पर आए कलंक व उसे दिए गए मृत्यु-दंड की सजा को सुनकर इसे भी आघात लग सकता है ।'' इस प्रकार विचार कर ऋषिदत्ता के संदर्भ में कुछ भी बात किए बिना कुमार ने अल्प शब्दों में ही अपना परिचय दिया । बाद में कुमार ने कहा, ``ऋषि ! आपको देखकर मेरी आँखें तृप्त नहीं हो रही हैं । दिल चाहता है कि मैं तुम्हें सदा देखता ही रहूँ ।''

ऋषिकुमार ने कहा, ``जन्म-जन्मांतर के संबंधों के कारण ही वर्तमान जीवन में संबंध जुड़ते हैं...अतः संभव है पूर्वभव में अपना कोई संबंध रहा हुआ हो ।''

राजकुमार ने कहा, ``बात कुछ ऐसी ही लगती है, मेरी इच्छा है कि तुम मेरे साथ चलो ।''

ऋषिकुमार ने कहा, ``ऐसा मत बोलो । संन्यस्त जीवन स्वीकार करने के बाद गृहस्थ के लग्नादि प्रसंगों में संन्यासी को उपस्थित रहना उचित नहीं है ।''

``आपकी बात बिल्कुल ठीक है...परन्तु मैं नहीं चाहता हूँ कि आपका वियोग हो । मैं आपका सदैव समागम चाहता हूँ । लग्न प्रसंग में भले ही आप उपस्थित न रहें परन्तु कोबेरी तक तो आप मेरे साथ चलें...वहाँ से वापिस लौटने के बाद आप इस आश्रम में रह सकोगे ।''

राजकुमार के अति आग्रह को देखकर ऋषिकुमार ने कोबेरी चलने के लिए अपनी सहमति दे दी...और दूसरे ही दिन ऋषिकुमार ने रथारूढ़ होकर राजकुमार के साथ कोबेरी की ओर प्रस्थान कर दिया ।

कोबेरी के महाराजा सुंदरपाणि को जैसे ही समाचार मिले कि कनकरथ राजकुमार अपने विशाल परिवार के साथ कोबेरी के निकट पहुँच चुके

हैं, वैसे ही महाराजा ने कनकरथ के स्वागत की तैयारियाँ प्रारंभ करवा दीं । राजा की आज्ञा होते ही एक ही दिन में कोबेरी नगर को चारों ओर से सजा दिया गया । स्थान-स्थान पर तोरण बाँधे गए । ध्वजा व पताकाओं से सारे राजमार्ग सुशोभित किए गए ।

...और एक शुभ दिन मंगल मुहूर्त में कनकरथ राजकुमार ने अपने मित्र आदि परिवार के साथ कोबेरी में अत्यंत ही धूमधाम पूर्वक प्रवेश किया ।

4. कलंक दूर हुआ

कुशल ज्योतिषी ने राजकुमार के लग्न के लिए शुभ मुहूर्त निकाला ।

राजा के आदेश से विशाल लग्नमंडप सजाया गया...तत्पश्चात् अत्यंत ही धूमधाम से कनकरथ राजकुमार व रुक्मिणी का पाणिग्रहण महोत्सव संपन्न हुआ ।

रुक्मिणी की मनोकामना पूर्ण हो चुकी थी । उसकी प्रसन्नता का पार नहीं था । एक दिन बात ही बात में रुक्मिणी ने कनकरथ को पूछ लिया, ``हे स्वामिन् ! आपने पहले जिस ऋषिदत्ता के साथ शादी की थी, वह कैसी थी ? मैंने सुना था कि उसने आपका चित्त हर लिया था ।''

ऋषिदत्ता का नाम सुनते ही कुमार की आँखें आँसुओं से भर गईं । वह बोला, ``प्रिये ! रूप व गुणों में ऋषिदत्ता के समान आज तक एक भी कन्या मैंने नहीं देखी । उसके गुणों का क्या बखान करूँ ? वह साक्षात् रति, मेनका व रंभा की अवतार थी । उसके विरह में मैंने सब कुछ खो दिया है ।''

अपनी शोक्या ऋषिदत्ता के प्रति रहे विशेष लगाव को जानकर कुछ नाराजगी बताते हुए रुक्मिणी ने कहा, ``हाँ ! मैं समझ गई कि उसके प्रेम में पागल बनने के कारण ही आप उसके साथ शादी करने के बाद मुझे भूल गए थे । सचमुच, उसने मेरा सुख लूट लिया था...और इसी कारण मैंने योगिनी द्वारा उसे कलंकित करवाया था और अपने सुख के मार्ग में से उस काँटे को दूर किया था ।''

कनकरथ ने पूछा, ``वह काम तूने किसकी मदद से किया ?''

रुक्मिणी ने कहा, ``इसी नगर में रहने वाली योगिनी की मदद से ! उसी ने षड्यंत्र रचकर ऋषिदत्ता को बदनाम किया था ।'' इतना कहकर उसने सारी घटना सुना दी ।

ऋषिदत्ता के साथ हुए अन्याय के सारे भेद को जानकर कनकरथ

एकदम गुस्से में आ गया । तीव्र भर्त्सना करते हुए उसने कहा, ``अरे दुष्टा ! पापिनी ! तू ने इस प्रकार की पाप-लीला का आचरण कर अपने आपको नरक के गर्त में डुबो दिया और तूने मुझे भी खड्डे में उतार दिया है । अहो ! वह कितनी रूपवती व गुणवती महासती थी ! उसके जीवन का अंत लानेवाली तुझे धिक्कार हो । उसे खत्मकर तूने अपना कौनसा आत्महित किया है ?''

इस प्रकार कहते हुए कुमार ने रुक्मिणी को अपने खंड से बाहर निकाल दिया ।

प्रातःकाल होने पर उसने चिता में प्रवेश कर आत्मदाह करने की घोषणा कर दी । महाराजा को ज्योंही इस बात का पता चला, त्योंही वे दौड़ते हुए वहाँ आए और किसी भी प्रकार से कुमार को समझाने लगे ।

अपनी पुत्री की पाप-लीला को जानकर राजा ने भी अपनी पुत्री की खूब-खूब भर्त्सना की ।

राजा के समझाने पर भी कुमार अपने संकल्प से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब राजा ने उस ऋषिकुमार को बुलाकर राजकुमार को समझाने के लिए निवेदन किया ।

ऋषिकुमार ने कहा, ``कुमार ! एक प्रिय स्त्री के लिए पुरुष को आत्म-दहन करना कहाँ तक उचित है ?''...वन में अपने मिलन के समय तुमने मुझे विश्वास दिया था कि हम दोनों साथ में कोबेरी चलेंगे और वहाँ से वापस लौटते समय तुम आश्रम में ठहर जाना ! क्या तुम अपने उस वचन को भूल गए ?

``क्या इस प्रकार अग्निस्नान करके मर जाने से अगले जन्म में उसी प्रिया के साथ संग हो सकेगा ?''

``इस संसार में सभी प्राणी अपने अपने कर्म के अनुसार जन्म धारण करते हैं । इस कारण कहाँ जन्म लेना, यह अपने वश की बात नहीं है । अतः हे कुमार ! प्रिया के संग की इच्छा से आप मरने का आग्रह छोड़ दें और एक दूसरी महत्त्व की बात है-``मरे हुए को प्रिय का संगम दुर्लभ है, परन्तु जो जीवित है उसे तो कभी भी प्रिय का मिलन हो सकता है ।''

राजकुमार ने कहा, ``तुम्हारी सब बातें ठीक हैं, परन्तु क्या मरे हुए का कभी पुनः मिलन हो सकता है ?''

ऋषिकुमार ने कहा, ``मरा हुआ व्यक्ति वापस नही लौटता है...परन्तु क्या तुमने अपनी प्रिया को मृत अवस्था में देखा था ?''

कनकरथ ने कहा, ``नहीं ! मैंने स्वयं तो उसे मृत हालत में नहीं देखा है, परन्तु दंडपाशिकों ने आकर कहा था कि वह मार दी गई है ।''

ऋषिकुमार ने कहा, ``मुझे तो अपने ज्ञान में तुम्हारी पत्नी जीवित नजर आ रही है । वह दक्षिण दिशा में है ।''

ऋषिकुमार की यह बात सुनते ही कनकरथ एकदम चौंक उठा और अत्यंत ही आश्चर्य के साथ बोला, ``क्या ऋषिदत्ता जीवित है ?''

ऋषिकुमार ने कहा, ``हाँ ! जीवित है ।''

``क्या उसका मुझे पुनर्मिलन हो सकेगा ?''

``हो सकता है ।''

``कैसे ?''

``मैं अपनी मंत्रशक्ति के द्वारा उसके पास जाकर उसे तुम्हारे सामने प्रकट कर सकूंगा ?'' ऋषिकुमार ने कहा ।

``तब तो मैं जीवन भर तुम्हारा उपकार नहीं भूलूंगा ।''

``अच्छा ! तो मेरी मंत्र-साधना के लिए, तुम धूप-दीप आदि सामग्री मंगवा दो ।'' ऋषिकुमार ने कहा ।

तभी राजकुमार की आज्ञा से पास में ही बड़ा पर्दा करा दिया गया और धूप-दीप आदि मंत्र साधना में उपयोगी सभी चीजें भी मंगा दी गईं ।

ऋषिकुमार ने पर्दे में प्रवेश किया और दिखावे के लिए अपनी मंत्र-साधना प्रारंभ की । कुछ ही देर बाद ऋषिकुमार ने रूप परावर्तन की औषधि का भक्षण किया और वापस वह अपने मूल स्वरूप में आ गई । कुछ ही क्षणों बाद पर्दा हटा दिया गया ।

कनकरथ ने साक्षात् ऋषिदत्ता को देखा...और उसके आश्चर्य का पार न रहा । राजकुमार के परिवारजनों ने तथा राजा ने भी उस ऋषिदत्ता के अद्‌भुत रूप व लावण्य को देखा और सभी खुश हो गए ।

सोने के सामने पीतल की जो दशा होती है, वही दशा ऋषिदत्ता के आगे रुक्मिणी की थी ।

लंबे समय के वियोग के बाद ऋषिदत्ता को प्राप्त कर कनकरथ की खुशी का पार न रहा ।

राजा को ज्योंही इस बात का पता चला कि इस पवित्र ऋषिदत्ता को कलंकित करने के लिए उस योगिनी ने सारा प्रयोग किया था, यह जानकर राजा ने उस सुलसा योगिनी को नगर-त्याग की भयंकर सजा कर दी । लोगों

ने उस योगिनी की भर्त्सना की और उसका तिरस्कार किया...तत्पश्चात् वह नगर से बाहर निकाल दी गई ।

इधर राजा ने कनकरथ व ऋषिदत्ता को हाथी के ऊपर बिठाकर पुनः नगर प्रवेश कराया ।

राजा ने अपनी पुत्री को भी ठपका दिया । कनकरथ राजकुमार अपनी पत्नी ऋषिदत्ता के साथ आनंद पूर्वक दिन व्यतीत करने लगा ।

एक दिन उसने अपनी पत्नी को पूछा, ``तेरे मिलन से मुझे अपार खुशी हुई है...परन्तु मेरा मित्र ऋषिकुमार मुझे कहीं भी नजर नहीं आ रहा है । उसका वियोग मुझे अत्यंत सता रहा है । पता नहीं तुम्हें प्रकट कर वह कहाँ अदृश्य हो गया ? सचमुच उत्तम पुरुषों का अस्तित्व एक मात्र परोपकार के लिए ही होता है ।''

नदी परोपकार के लिए ही बहती है । परोपकार के लिए ही वृक्ष फलते हैं, उसी प्रकार जगत् में उत्तम पुरुषों का अस्तित्व भी एक मात्र परोपकार के लिए ही होता है ।

ऋषिकुमार के वियोग में अपने पति को दुःखी देखकर हँसकर उस ऋषिदत्ता ने कहा, ``स्वामिन् ! इस ऋषिकुमार का वियोग कहाँ है ? वह ऋषिकुमार तो मैं स्वयं ही थी ! मैं स्वयं ही औषधि के प्रभाव से ऋषिकुमार में रूपांतरित हुई थी ।''

ऋषिदत्ता की यह बात सुनकर कनकरथ के आश्चर्य का पार न रहा । अपनी पत्नी के साथ पूर्व में किए मित्रवत् व्यवहार के बदले उसे हँसी आ गई ।

कनकरथ ने पूछा, ``दंडपाशिक तो तुझे मारने के लिए जंगल में ले गए थे फिर तुम बची कैसे ?

ऋषिदत्ता ने कहा, ``पुण्य ही बलवान है । उस समय जैसे ही मैं मूर्च्छित होकर ढल पड़ी, वे दंडपाशिक मुझे मृत समझकर ऐसे ही छोड़कर चले गए होंगे । जब मैं होश में आई तब मैंने न तो दंडपाशिकों को देखा और न ही किसी अन्य पुरुष को । वहाँ से मैं चलती हुई अपने पिता के आश्रम में चली गई । एकाकी वन में स्त्री रूप में रहने में मुझे शील के संरक्षण का भय सताने लगा, तभी पिता के द्वारा दी गई औषधि मुझे याद आ गई और मैंने अपने आत्म-रक्षण के लिए अपना रूप बदल लिया । कुछ समय बाद आपका उस धरती पर आगमन हुआ । उसके बाद बनी घटनाओं से तो आप पूर्णतया परिचित ही हो ।''

ऋषिदत्ता अब कलंक मुक्त हो चुकी थी । योगिनी के पाप का भांडा फूट चुका था । एक दिन खुश हुए कनकरथ ने ऋषिदत्ता को वरदान देते हुए कहा, ``तेरे को जो चाहिए, तू मांग ले ।''

अपने पति के इस वरदान को सुनकर महासती ऋषिदत्ता ने कहा, ``स्वामिन् ! यदि आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो मेरी एक ही इच्छा है कि...।''

``बोल ! बोल ! रुक क्यों गई ?''

``स्वामिन् ! मेरी एक ही इच्छा है कि आप मुझ में और रुक्मिणी में किसी प्रकार का भेद न देखें । उसे भी मेरे तुल्य मानें ।''

ऋषिदत्ता के इन वचनों को सुनकर कनकरथ तो स्तब्ध रह गया ।

``अहो ! यह ऋषिदत्ता मानुषी नहीं...कोई देवी लगती है । अहो ! यह कितनी महान् है ? अपने साथ सज्जनता का व्यवहार करनेवाले के प्रति तो सभी सज्जनता का व्यवहार करते हैं...परन्तु अपना अहित चाहने व करनेवाले के प्रति भी इसकी कितनी उदारता है ?

``सामान्यतया स्त्रियाँ स्वभाव से वक्र होती हैं...परन्तु यह तो कल्प-लता के समान सर्वहितकारिणी है । इसकी महानता को धन्य है ।''

कनकरथ ने कहा, ``प्रिये ! तेरे वचन को मैं स्वीकार करता हूँ...परन्तु तुझमें और उसमें कितना बड़ा अंतर है ?''

आखिर ऋषिदत्ता की इच्छा को मान देकर कनकरथ ने रुक्मिणी को हृदय से स्वीकार किया । रुक्मिणी को अपनी भूल का तीव्र पश्चाताप हुआ...और भविष्य में कभी भी ऐसी भूल नहीं करने का उसने संकल्प किया ।

कुछ दिनों तक कोबेरी में स्थिरता कर एक शुभ दिन कनकरथ ने अपनी दोनों पत्नियों के साथ अपने नगर की ओर प्रस्थान किया ।

5. संयम स्वीकार

इधर हेमरथ महाराजा को ऋषिदत्ता की निर्दोषता का जैसे ही ख्याल आया उसे अपनी भूल का तीव्र पश्चाताप हुआ । राजा ने कनकरथ राजकुमार को दोनों पत्नियों के साथ भव्य महोत्सव पूर्वक नगर प्रवेश कराया ।

नगरवासियों को भी जब ऋषिदत्ता की निर्दोषता का पता चला तो वे भी ऋषिदत्ता के प्रति विशेष आदर-बहुमान वाले हुए । नगर में चारों ओर ऋषिदत्ता की उज्ज्वल कीर्ति फैलने लगी ।

हेमरथ राजा ने अपनी भूल के बदले ऋषिदत्ता से क्षमा मांगी ।

ऋषिदत्ता ने कहा, **``पिताजी ! दोष आपका नहीं है, यह तो सब मेरे ही पाप कर्म का फल है ।''**

इसी बीच नगर के बाह्य उद्यान में परम ज्ञानी भद्रंकरसूरिजी आचार्य भगवंत का आगमन हुआ । उनकी वैराग्यसभर धर्म देशना को सुनकर राजा ने दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया ।

एक शुभ दिन हेमरथ राजा ने कनकरथ राजकुमार का राज्याभिषेक कराया और स्वयं ने आचार्य भगवंत के चरणों में दीक्षा अंगीकार कर ली ।

संयम धर्म के स्वीकार के कारण हेमरथ मुनि रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन बन गए । कुछ ही वर्षों में परिषह व उपसर्गों को समता पूर्वक सहन करते हुए...त्याग-तप और तितिक्षा की साधना द्वारा समस्त घाति-अघाति कर्मों का क्षयकर शाश्वत अजरामर पद के भोक्ता बन गए ।

कनकरथ न्याय व नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । एक दिन ऋषिदत्ता ने रात्रि में सिंह का स्वप्न देखा । उसने अपने पति से चर्चा की ।

कनकरथ ने कहा, ``प्रिये ! तू सिंह के समान अत्यंत पराक्रमी पुत्र को जन्म देगी ।''

क्रमशः गर्भकाल व्यतीत होने पर ऋषिदत्ता ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया ।

राजा ने पुत्रजन्म का भव्य महोत्सव मनाया । धीरे-धीरे समय बीतने लगा ।

एक दिन राजा व रानी झरोखे में बैठकर नगर का दृश्य निहार रहे थे...तभी अचानक उन्होंने बादलों से छाए हुए आकाश-मंडल को देखा । परन्तु दूसरे ही क्षण हवा का एक तीव्र झोंका आया और वे सारे बादल बिखर गए । इस दृश्य को देख कनकरथ राजा ने सोचा, **``बादलों के आगमन और बिखराव की भाँति ही इस संसार में भौतिक पदार्थों का संयोग और वियोग है । पुण्य कर्म के योग से जीवात्मा को सानुकूल पदार्थों का संयोग होता है और उस पुण्य के क्षीण होने के साथ ही उन पदार्थों का वियोग हो जाता है । यह समस्त संसार पदार्थों के संयोग और वियोग पर आधारित है ।**

इस संसार में जीवात्मा का आयुष्य पवन की भाँति अत्यंत ही चपल है । किस समय आयुष्य पूरा हो जाएगा, कुछ कह नहीं सकते ।

इस प्रकार कनकस्थ राजा अनित्य भावना में चढ़ गया । उसे यह सारा संसार क्षणभंगुर प्रतीत होने लगा ।

राजा ने वैराग्यपूर्ण वार्तालाप में ही रात्रि व्यतीत की ।

दूसरे दिन राजा प्रातःकृत्य से निवृत्त होकर राजसभा में जा रहा था तभी उद्यानपाल ने आकर समाचार दिये, ``हे राजन् ! समता की साक्षात् मूर्ति समान भद्रयशसूरिजी म. अपने विशाल परिवार के साथ नगर के बाह्य उद्यान में पधारे हैं ।''

आचार्य भगवंत के आगमन को सुनकर राजा एकदम खुश हो गया । उसने उद्यानपाल को कीमती वस्तु उपहार में दी ।

तत्पश्चात् वह राजा अपने विशाल परिवार सहित अत्यंत ही धूमधाम के साथ उद्यान में जा पहुँचा । उसने आचार्य भगवंत को भावपूर्वक वंदना की, तत्पश्चात् वह राजा धर्मदेशना के श्रवण के लिए योग्य आसन पर बैठ गया ।

आचार्य भगवंत ने भवनिर्वेदिनी देशना दी । देशना के अंत में ऋषिदत्ता ने हाथ जोड़कर पूछा, ``भगवन् ! गत जन्म में मैंने ऐसा कौनसा पाप किया था, जिस पाप के उदय के कारण मुझे इस जन्म में कलंकित होना पड़ा ?''

ऋषिदत्ता का यह प्रश्न सुनकर उसके समाधान के लिए आचार्य भगवंत ने उसके पूर्वभव को बतलाते हुए कहा-

इसी भारत देश में गंगापुर नाम का नगर है । उस नगर में गंगदत्त राजा था, उसकी मुख्य रानी का नाम गंगा था । उनके गंगसेना नाम की पुत्री थी । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद एक बार गंगसेना ने उसी नगर में रही चंद्रयशा साध्वी के पास धर्मोपदेश सुना और वैराग्यवासित बनी गंगसेना ने संसार के बंधनों का त्याग कर चारित्र-धर्म स्वीकार कर लिया ।

चंद्रयशा साध्वी के समुदाय में एक निःसंगा नाम की साध्वी कठोर तप करती थी । उसके इस कठोर तप की चारों ओर प्रशंसा होने लगी । इस प्रशंसा को गंगसेना साध्वी सहन नहीं कर सकी और ईर्ष्या के आवेग में आकर उसने निःसंगा साध्वी के ऊपर आक्षेप लगा दिया कि यह साध्वी दंभी है, दिन में तो तप करती है और रात्रि में राक्षसी की तरह मुर्दे का मांस खाती है ।

बस, इस प्रकार एक निर्दोष साध्वी के ऊपर कलंक लगाने के कारण गंगसेना साध्वी ने भयंकर पापकर्म उपार्जित किया । उस दुष्कर्म की आलोचना नहीं करने के कारण वह गंगसेना साध्वी अनेक भवों तक इस संसार में

भटकी । अनेक भवों में परिभ्रमण करने के बाद वह गंगसेना गंगापुर नगर में राजपुत्री के रूप में उत्पन्न हुई । वहाँ मुनिसुव्रत स्वामी की पूजा अर्चना करने लगी और कठोर तप करने लगी, परन्तु उसका जीवन मायावी था । कपट के पाप की आलोचना नहीं करने के कारण वह मरकर ईशान इन्द्र की इन्द्राणी बनी...वहाँ अपना आयुष्य पूर्ण कर हरिषेण राजा की प्रीतिमती रानी की कुक्षि से ऋषिदत्ता के रूप में उत्पन्न हुई ।

पूर्व भव में निर्दोष साध्वी पर दिए गए कलंक के पाप के कारण ही ऋषिदत्ता इस भव में कलंकित बनी ।

गुरु भगवंत के मुख से अपने पूर्व भव के चरित्र को सुनने के साथ ही ऋषिदत्ता को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । उस ज्ञान द्वारा उसने अपने पूर्व भव की स्थिति को प्रत्यक्ष देखा ।

ऋषिदत्ता के पूर्व भव के चरित्र को सुनकर राजा व रानी दोनों को इस असार संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया । उन्होंने संयम प्रदान करने के लिए गुरु भगवंत से विनती की ।

गुरु भगवंत ने कहा, ``शुभ कार्य में देरी नहीं करनी चाहिए ।''

बस, नगर में आकर कनकरथ राजा ने अपने सिंहरथ पुत्र को राजगद्दी सौंप दी । जिनमंदिर में परमात्म-भक्ति का महोत्सव कराया और एक शुभ दिन संसार के मोह के बंधनों को तोड़कर कनकरथ व ऋषिदत्ता ने भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली ।

चारित्र धर्म को स्वीकार करने के बाद रत्नत्रयी की निर्मल आराधना व साधना के फलस्वरूप समस्त घाति-अघाति कर्मों का क्षयकर महासती ऋषिदत्ता ने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 236 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	35.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	36.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	37.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	38.	गणधर-संवाद	80/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	39.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	40.	नवपद आराधना	80/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	41.	संस्मरण	50/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	42.	भव आलोचना	10/-
9.	विविध-तपमाला	100/-	43.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
10.	विवेकी बनो	90/-	44.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
11.	प्रवचन-वर्षा	60/-	45.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
12.	आओ श्रावक बनें !	25/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
13.	व्यसन-मुक्ति	100/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
14.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	48.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
15.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	49.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	50.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	51.	नमस्कार मीमांसा	150/-
18.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
19.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
20.	समाधि मृत्यु	80/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
21.	Pearls of Preaching	60/-	55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
22.	New Message for a New Day	600/-	56.	वैराग्य-वाणी	140/-
23.	Celibacy	70/-	57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
24.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
25.	अमृत रस का प्याला	300/-	59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
26.	ध्यान साधना	40/-	60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
27.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
28.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
29.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	63.	जीवन झांकी	अमूल्य
30.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	64.	मन के जीते जीत है	80/-
31.	जीव विचार विवेचन	100/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
32.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
33.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	67.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
34.	लघु संग्रहणी	140/-	68.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन,
Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299